In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

966

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

All India Ayurvedic Congress,
"Dhanwantari Bhavan,"
Road 66, Punjabi Bagh; New Delhi-1100[illegible]

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

॥ श्रीः ॥

द्रव्य-गुण-मञ्जूषा

तत्रौद्भिद-विचारः

शङ्करं पितरं साम्बं वाणीं नत्वा मनोरमाम् ।
द्रव्याणाङ्गुण-मञ्जूषा 'शिवेन' क्रियते मुदा ॥

N.O. Ranunculaceae (वत्सनाभकुल)

वत्सनाभ

नाम—(सं०) वत्सनाभ, अमृत, क्ष्वेड, विष, गरल; (हि०) सिंघिया, मीठाविष, मीठाजहर; (फा०) वीश, (अ०) अकूनीतून; (बं०) काठविष, मीठेविष; (गु०) बछनाग, वसनाग; (ले०) एकोनाइटम् फेरोक्स (Aconitum Ferox) ।

विशेषविवरण—इसकी एक और जाति का व्यवहार होता है, जो काश्मीर में 'बनबेलनाग' कहा जाता है। वहीं से इसका व्यापार होता है। पञ्जाब के वैद्य इसका विशेष व्यवहार करते हैं। इसे 'शृंगी विष' कह सकते हैं। इसका लेटिन नाम 'एकोनाइटम् चेस्मेन्थम् (Aconitum Chasmenthum) है। वास्तव में भारतीय बाजार में प्राप्त होनेवाला विष 'एकोनाइटम् फेरोक्स या उसी में मिश्रित कुछ इसी जाति के अन्य उपभेदीय पौधों की जड़ें होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यूरोप में आल्प्स पर्वत और भारत में हिमालय पर प्रायः १०,००० फुट से १५ हजार फुट की ऊँचाई पर यह क्षुप गढ़वाल से सीकम तक पाया जाता है। काश्मीर में दूसरी जाति विशेषरूप से मिलती है। इन पर्वतों पर एकोनाइट के विभिन्न उपभेदों में अनेक के कुछ पौधे इतस्ततः मिल जाते हैं।

000059

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिचय—इसकी गोपुच्छाकार जड़ें पंसारियों के यहां से प्राप्त होती हैं । विष होने के कारण इसके व्यापार के लिए लाइसेन्स लेना पड़ता है । वत्सनाभ के कन्द लम्बाई में २ से ३ इंच तथा मोटाई में प्रायः $\frac{१}{४}$ से १$\frac{१}{४}$ इंच होते हैं । बाह्यतः देखने में भूरे तथा भीतर किंचित् श्वेत होते हैं । श्रृंगी विष की जड़ें किंचिदाकारभेद से प्रायः इसी प्रकार की होती हैं । यह प्रायः $\frac{३}{४}$ से २ या १$\frac{१}{८}$ से २$\frac{१}{२}$ इंच (प्रायशः २ इंच) लम्बी तथा लगभग $\frac{२}{८}$ से $\frac{३}{४}$ इंच चौड़ी होती हैं । इसमें अनेकों उभार तथा लम्बाई एवं चौड़ाई की दिशा में झुर्रियाँ पाई जाती हैं । तोड़ने पर यह भंगुर होता है । बाह्यतः भूरा तथा अन्दर में श्वेतवर्ण होता है । इसके कन्द किंचित् गहरे भूरे तथा हल्के होते हैं । वत्सनाभ की अन्य जातियों में यह अधिक विषाक्त समझा जाता है ।

बाजार में रंगभेद से वत्सनाभ २ प्रकार का मिलता है—(१) कृष्णवत्सनाभ तथा (२) श्वेतवत्सनाभ । कालावत्सनाभ वस्तुतः कृत्रिमरूप[१] से बनाया जाता है तथा विशेषतः अमृतसर के बाजार से अन्य बाजारों में प्रेषित होता है ।

शोधन—वत्सनाभ को टुकड़े-टुकड़े करके गोमूत्र में डाल देना चाहिए, और गोमूत्र को नित्य बदलते रहना चाहिए तथा धूप में रखना चाहिए । ३ दिन ऐसा करने के उपरान्त उसे निकाल कर धो लें और धूप में सुखा दें । इस प्रकार विष शुद्ध हो जाता है । इसे औषध्यर्थ प्रयुक्त करना चाहिए ।

वत्सनाभ शोधन की और भी अनेक विधियां हैं । गाय या बकरी के दूध में दोलायन्त्र में एक प्रहर तक स्वेदन करने से भी विष शुद्ध हो जाता है । कोई कोई लोग गोमूत्र से शोधन कर पुनः गोदुग्ध और अजादुग्ध (बकरी का दूध)

१—पूज्यपाद महाराज यादव जी ने श्री स्वामी हरिशरणानन्द जी के पत्रको उद्धृत कर लिखा है कि अमृतसर के व्यापारी आजकल २ प्रकार का वत्सनाभ—एक सफेद दूसरा काला कृत्रिमरूप से बनाकर भेजते हैं । उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—एक लौह पात्र में एक मन गोमूत्र लेकर उसमें ७ सेर कासीस डालते हैं । कासीस जब घुल जाता है, तब उसमें सफेद वत्सनाभ गोमूत्र में $\frac{२}{३}$ हिस्सा भर सके इतना डालकर ८-१० दिन तक रख देते हैं । बाद में उसी गोमूत्र में उबालकर धूप में सुखाते हैं । जब अच्छी तरह शुष्क हो जाय और तोड़ने पर चटक से टूटे तब उसपर सरसों का तैल १०-२० तोला छिड़ककर हाथों से मलते हैं । इस प्रकार रंगे काले वत्सनाभ में कीड़े नहीं लगते ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में स्वेदन करते हैं। शोधनोपरान्त, प्रयोग करने में विष के साथ समान भाग टंकण और द्विगुण काली मिर्च का चूर्ण मिलाकर प्रयुक्त करने से किंचिद् मात्राधिक्य हो जाने पर भी विषाक्त प्रभाव होने की सम्भावना कम रहती है। उपयुक्त मात्रा में सेवन से लाभ अधिक होता है।

सक्रियतत्त्व—वत्सनाभ में मुख्यसक्रियतत्व एकोनाइटीन (Aconitine) पाया जाता है। इसके अतिरिक्त २ अन्य तत्व तथा कुछ श्वेतसार भी मिलता है।

गुणकर्म—

वत्सनाभोऽतिमधुरः सोष्णो वातकफापहः।
कण्ठरुक् सन्निपातघ्नः पित्तसंशोधनोऽपि च॥ (ध. नि.)
(विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकासि च।
आग्नेयं वातकफहृत् योगवाहि मदावहम्।
तदेव युक्तियुक्तन्तु प्राणदायि रसायनम्॥) (रा० नि०)

वत्सनाभ अतिमधुर, उष्ण, वातकफनाशक, कण्ठरोगों एवं सन्निपात का शमन करने वाला तथा पित्त संशोधक है। विष के सम्बन्ध में धन्वन्तरि एवं राजनिघण्टुकार ने लिखा है कि विष प्राणनाशक, व्यवायि, विकासि, आग्नेय, वातकफनाशक, योगवाही तथा मदावह होता है। यदि युक्तिपूर्वक प्रयोग किया जाय तो विष प्राणदायक रसायन हो जाता है। यह विष की सामान्य क्रियायें भी वत्सनाभ में पूर्णरूप से देखी जाती हैं।

सांस्थानिकप्रभाव।

बाह्य—श्लैष्मिक कलाओं द्वारा इसका शोषण, क्षिप्रतापूर्वक होता है, किन्तु त्वचा पर जब मेदसीय पदार्थों के साथ मर्दन किया जाता है, तब इसका शोषण होता है। शोषणोपरान्त सर्वप्रथम यह सांवेदनिक नाड्यग्रों को उत्तेजित करता तथा तदनु अवसादक प्रभाव कर उनको निष्क्रिय करता है। इस प्रकार यह तत्स्थान में चुनचुनाहट, एवं संज्ञाहर प्रभाव करता है।

आभ्यन्तर—'महास्रोतस्'—जिह्वा पर भी बाह्य प्रभावों की ही भाँति चुनचुनाहट तथा स्वाप एवं संज्ञाहर प्रभाव होता है। बाद में जिह्वा के नाड्यग्रों पर क्षोभक प्रभाव होने से तत्परिणाम स्वरूप प्रत्याक्षिप्तरूपेण लालास्राव तथा हृल्लास

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(वमन की इच्छा) उत्पन्न होता है। अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने पर यह आमाशयान्त्र प्रदाह उत्पन्न करता है, जिसके परिमाण स्वरूप हृल्लास, वमन तथा अतिसार आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

हृदय तथा रक्तवह संस्थान—अल्पमात्रा में विष के सेवन से हृदय की गति क्षीण होती है। विस्फार विलम्बित तथा संकोच दुर्बल हो जाता है। नाड़ी-क्षीण और हल्की हो जाती है। किन्तु यदि मात्रा अधिक न हो तो नाड़ी की गति अनियमित नहीं होती। विष की यह अवसादक क्रिया, प्राणदा नाड़ी केन्द्र पर उत्तेजक प्रभाव करने के कारण होती है, यह पाश्चात्य आचार्यों का मत है। साथ ही अन्य विचारकों का यह भी कहना है कि साधारण मात्रा में एकोनाइट हृदय पर अव-सादक प्रभाव नहीं करता। अत्यधिक मात्रा में वत्सनाभ के सेवन से हृदय की मांसपेशी पर सीधे प्रभाव पड़ता है, जिसके परिणाम स्वरूप हृदय दुर्वल अनि-यमित और शीघ्र गति करने लगता है। ग्राहक एवं क्षेपक कोष्ठों का कार्य अतालबद्ध होने लगता है। क्रमभङ्ग होकर क्षेपक कोष्ठों के तन्तुओं में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और अन्ततः विस्फार की स्थिति में हृत्स्तम्भ हो जाता है। प्रारम्भ में अवसाद से हृदय से रक्त कम निकलने के कारण तथा बाद में वाहिनी प्रेरक केन्द्र (Vaso-motor Centre) का आघात होने से रक्तभार गिर जाता है।

आधुनिकतम अन्वेषकों का मत है कि अशोधित विष के उपर्युक्त प्रभाव के विपरीत आयुर्वेदीय पद्धति द्वारा गोमूत्र में शोधित वत्सनाभ हृदय को बल देता है, रक्त के दवाव और परिसरीय रक्त संवहन (Peripheral Circulation) को बढ़ाता है। यह प्रभाव देर तक रहता है। वत्सनाभ को गोमूत्र के स्थान में गोदुग्ध में शुद्ध किया जाय तो यह प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट होता है। (डा० महस्कर) डा० चोपड़ा ने भी इस मत का उल्लेख किया है।

श्वसनसंस्थान—अल्पमात्रा में वत्सनाभ श्वासकेन्द्र को उत्तेजित करता है। श्वासोच्छ्वास क्रिया गम्भीर और तीव्र (Frequent) हो जाती है। किन्तु शीघ्र ही केन्द्र पर अवसादक प्रभाव होने के कारण श्वसन धीमा, गहरा, अनियमित और श्रमयुक्त होने लगता है। मृत्यु प्रायः केन्द्राघात होने से उत्पन्न श्वासा-वरोध (Asphyxia) के कारण होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तापक्रम—ज्वरावस्था में तापक्रम कुछ कम हो जाता है, जो सम्भवतः स्वेदल प्रभाव (Diaphoresis) के कारण होता है।

नाड़ी संस्थान—सांवेदनिक नाड्यग्रों पर प्रथम उत्तेजक तदनु अवसादक प्रभाव होता है। चेष्टावहनाड्यग्रों पर भी कुछ प्रभाव पड़ता है और विषाक्तता की अवस्था में तापसंवेदनावह नाडियाँ भी प्रभावित होती हैं। मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। कनीनिका प्रथम संकुचित तदनु विस्फारित होती है। विषाक्तताजन्य आक्षेप श्वासावरोध के कारण होता है।

त्वचा—स्वेदल प्रभाव होता है। कभी कभी रक्तिमोत्स्फोट (Erythematous rash) भी निकलते दिखाई देते हैं।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग प्रधानतः मूत्र में तथा अंशतः लालास्राव, आमाशयिक रस तथा पित्त आदि स्राव एवं स्वेद के द्वारा होता है।

विषाक्त प्रभाव—विषाक्त मात्रा के सेवन करने के उपरान्त ही मुख तथा कण्ठ में तीव्र चुनचुनाहट तथा दाह आदि लक्षण प्रगट होते हैं। उग्र आमाशय प्रदाह, अत्यधिक लालास्राव, वमन तथा अतिसार, शीत, प्रस्वेद आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। नाड़ी अनियमित तथा दुर्बल हो जाती है। आँखें स्थिर हो जाती हैं, कनीनिका प्रथम संकुचित तदनु विस्फारित होती है। श्वासोच्छ्वास कठिनाई पूर्वक होता है तथा पेशियों में दुर्बलता होती है। कभी कभी आक्षेप होते हैं। अवसन्नता तथा मूर्च्छा आदि भी होते हैं। अन्ततः मृत्यु श्वासावरोध अथवा मूर्च्छा (Syncope) के कारण होती है। मृत्यु होने तक संज्ञा प्रायः ठीक रहती है।

प्रतिकार—वामक द्रव्यों द्वारा अथवा आमाशयनलिका द्वारा आमाशय का प्रक्षालन तथा उत्तेजक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए गर्म जल की बोतलों का प्रयोग एवं हृदय प्रदेश पर हलकी मालिश भी कर सकते हैं। टिंचर डिजिटेलिस (२० से ३० बूंद) तथा अट्रोपीन ($\frac{1}{१००}$ ग्रेन) प्रयुक्त करना चाहिए। इससे प्रायः सभी लक्षणों का ह्रास होता है। अजादुग्ध को इतनी मात्रा में दें कि वमन हो जाय। इस प्रकार कई बार करना चाहिए। जब अजादुग्ध पचने लगे तब विष को जीर्ण समझें। हल्दी और चौलाई के रस को मिलाकर पिलाना चाहिए। अर्जुन की छाल के चूर्ण को गोघृत और शहद से देना लाभकारी होता है। घी और शुद्ध टंकण मिला कर प्रयुक्त करने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से वत्सनाभ विषमयता में पर्याप्त लाभ होता है। यूनानी चिकित्सक जद्वारको जल में घिसकर पिलाने का निर्देश करते हैं।

आमयिक प्रयोग—आयुर्वेद में मुख्यतया विष का चिकित्सार्थ उपयोग विशेष रूप से रसचिकित्सा के विकास के समय से प्रारम्भ हुआ है। सामान्यतया विषका प्रयोग निम्न व्याधियों में किया जाता है—

ज्वरेऽग्निमान्द्ये श्वासे च कासे कण्ठामये तथा।
शोथे प्लीहोदरे कुष्ठे मधुमेहे विषेऽपि च॥ (स्व०)

अन्यच्च—

व्रणशोथस्य पीडायाः बाह्ययोगात्प्रणाशकः। (स्व०)

ज्वर, अग्निमांद्य, श्वास, कास, कण्ठरोग, शोथ, प्लीहोदर, कुष्ठ तथा मधुमेह में विषका शास्त्रज्ञों ने प्रयोग निर्दिष्ट किया है। बाह्यप्रयोग से पीड़ा और व्रणशोथ, ग्रन्थि आदि की शान्ति होती है। रसरत्नसमुच्चयकार ने शुद्ध विष को सर्षपमात्रा में प्रयोग कर क्रमशः द्वितीय, पञ्चम, नवम दिनों में १, २, ३, ४ सर्षपमात्रा में उत्तरोत्तर बढ़ाकर भक्षण करने से ३ मास में कुष्ठनाश, ६ मास के प्रयोग से कान्तिवृद्धि और वर्ष भर के प्रयोग से सर्वरोगनाशक बतलाया है। इसके प्रयोग के लिए निम्न नियम भी बतलाए गए हैं—

विषंयुञ्जीत नित्यं हि रसायनगुणैषिणः।
घृतोपस्कृतदेहस्य विशुद्धस्य हिताशिनः॥
सात्विकस्योदिते भानौ योज्यं शीतवसन्तयोः।
ग्रीष्मे चात्ययिके व्याधौ न वर्षासु न दुर्दिने॥
न क्रोधिनि न पित्तार्त्ते न क्लीबे राजवेश्मनि।
क्षुत्तृष्णाश्रमघर्माध्वव्याध्यन्तरनिपीडिते॥
गर्भिण्यां बालवृद्धेषु न रूक्षेषु न मर्मसु।
अभ्यस्तेऽपि विषे यत्नाद्वर्जनीयान् विवर्जयेत्॥
कट्वम्ललवणं तैलं दिवास्वप्नानलातपान्।
ब्रह्मचर्यं वरारोहे विषकाले समाचरेत॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गव्ये क्षीरघृते पेये शाल्यन्नं गोधुमं तथा ।
शीतलं तु पिबेत्तोयं मधुराणि च सेवयेत् ॥

वत्सनाभप्रधान योग—आयुर्वेद के अनेक योगों में वत्सनाभ का प्रयोग किया जाता है। किन्तु निम्न प्रयोगों को सभी प्रान्त के वैद्य वर्तते हैं:—

संजीवनी	ज्वर, अजीर्ण तथा प्रतिश्याय आदि
मृत्युञ्जयरस	ज्वर
त्रिभुवनकीर्तिरस	वातिकश्लैष्मिकज्वर
महाज्वराङ्कुश	विषमज्वर
अग्निकुमार	आमज्वर
हिंगुलेश्वर	आमज्वर
वेतालरस	सन्निपातज्वर
सौभाग्यवटी	आन्त्रिक ज्वर
कनकसुन्दर	ज्वरातिसार
आनन्दभैरव	ज्वरातिसार
रामबाण	ज्वर, अतिसार, अजीर्ण आदि

वि० विवरण—आयुर्वेद में विष को पित्त संशोधक बतलाया गया है। उष्णवीर्य होते हुए भी यह पित्त की विदग्धावस्था में लाभ करता है। आमाशयिक नाड़ियों के संज्ञानाश से रसस्राव कम होकर अम्लता और पीड़ा कम हो जाती है। 'सूतशेखर' रस में इसीलिए विष का मिश्रण किया जाता है। कुछ लोग इस योग में विष देखकर चौंकते हैं, और इसके पाठ में परिवर्तन करते हैं। किन्तु सूतशेखर रस अम्लपित्त की एक परमविशिष्ट मानी हुई औषधि है। इसका प्रयोग विष मिलाकर ही करना चाहिए। विषविहीन सूतशेखर, जो कि अनेक वैद्यों ने परिवर्तित करके बनाने का निर्देश किया है उसके और विषयुक्त सूतशेखर के प्रयोग करने में विषयुक्त लेखक को अधिक लाभकारी प्रतीत हुआ। भ्रमवश कुछ लोगों ने राजनिघण्टु के 'पित्तसंशोधनः' इस पाठ को भी संशोधितकर दिया है मेरी राय से यह भी उचित नहीं है। 'पित्त-संशोषणः' यदि यह परिवर्तन किया जाय तो पाचक पित्त की अधिकता को कम करके अम्ल पित्तादि रोग नाशक होने के कारण विष को पित्त संशोषण कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता—अन्य पाठ परिवर्तन ठीक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नहीं। वत्सनाभ के बाह्य प्रयोग के लिए आजकल लिनिमेंट ए० बी० सी० (Liniment A. B. C.) का प्रयोग किया जाता है, जो पीड़ाशामक तथा शोथहर है।

मात्रा—⅛ से ½ रत्ती शुद्ध किया हुआ।

अतिविषा

नाम—(सं०) अतिविषा, शुक्लकन्दा, विश्वा, भङ्गुरा, घुणवल्लभा; (हिं०) अतीस, (गु० म०) अतिविष; (बं०) आतइच, (पं०) पतीस;

(ले०) एकोनाइटम् हेटरोफाइलम् (Aconitum Heterophyllum)

भेद—प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों में तीन प्रकार की अतिविषा का वर्णन मिलता है। श्वेत, कृष्ण और अरुण। उनमें से अतिविषा, शुक्लकन्दा और प्रतिविषा, कृष्णकन्दा आजकल प्रयुक्त होती है।

वि०विवरण—अतीस के संस्कृत नाम विशिष्ट परिचय द्योतक हैं। 'विषमतिक्रान्ता' अतिविषा अर्थात् जो विषाक्त प्रभाववाली न हो। शुक्लकन्दा—अर्थात् जो सफेद कन्दवाली हो, भङ्गुरा—तोड़ने में भङ्गुर कन्द वाली, घुणवल्लभा—अर्थात् शीघ्र घुन लगनेवाली 'शिशुभैषज्या' आदि नाम भी स्मरणीय हैं।

प्रतिविषा

धन्वन्तरीय निघण्टु में इसका वर्णन अतिविषा के साथ ही मिलता है। इसे संस्कृत में 'श्यामकन्दा', श्रृङ्गी तथा 'प्रतिविषा' कहते हैं। ये पर्य्याय सार्थक प्रतीत होते हैं। इसका कन्द वर्ण में श्याम तथा विषरहित एवं श्रृङ्ग सदृश होता है। हिन्दी में इसे 'विखमा' 'विख्या' तथा मराठी में 'वख्मों' और लेटिन में 'एकोनाइटम् पामेटम्' (Aconitum Palmatum) कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—अतीस प्रायः उत्तरीपश्चिमी हिमालय के ६ हजार से १२ हजार फीट ऊंचे प्रदेशों में उत्पन्न होता है। उत्तरप्रदेश के कुमायूँ प्रदेश में इसके पौधे मिलते हैं। प्रतिविषा के क्षुप हिमालय के पूर्व प्रदेश में १० हजार से १६ हजार फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं।

परिचय—अतीस का क्षुप २ से ४ फुट लम्बा होता है। पौधे के निचले

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तथा ऊपरी भाग के पत्तों के स्वरूप में किंचिद् भिन्नता होती है। निचले भाग के पत्रों के फलक प्रायः पांच खण्डों वाले होते तथा ऊपरी पत्ते आकार में अपेक्षाकृत छोटे तथा दन्तुर होते हैं। इसमें नीलवर्ण के पुष्प लगते हैं। आभ्यन्तर कोष या दलचक्र (Corolla) का एक दलपत्र (Petal) शेष दलपत्रों में सबसे बड़ा तथा फणाकार होता है। इसकी द्विवर्षायु मूल में दो कन्द पाये जाते हैं, जिनमें एक प्राचीन और एक नवीन होता है। औषध्यर्थ ये ही कन्द व्यवहृत होते हैं। बाह्यतः तो ये मूल भूरे रंग के और तोड़ने पर अन्दर से श्वेतवर्ण के होते हैं। अन्दर का भाग पिष्टमय होता है। ये कन्द भंगुर होते हैं और तोड़ने पर आसानी से टूट जाते हैं। लम्वाई में ये कन्द १ इञ्च के होते हैं तथा मुटाई $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ इंच तक होती है।

स्वाद में ये तिक्त होते हैं, परन्तु प्रायः कोई गन्ध नहीं होता। इसके कन्दों के मध्य में २–४ विंदु से होते हैं।

प्रतिविषा—इसके क्षुप भी प्रायः अतीस के ही समान होते हैं; किन्तु इसके कन्द अतीस की अपेक्षा कड़े तथा भार में भी अधिक होते हैं। तोड़ने पर कठिनता से एवं ध्वनि के साथ टूटते हैं। बाह्यतः ये कन्द कृष्णवर्ण के और अन्दर पीताभश्वेतवर्ण के होते हैं। लम्वाई में १$\frac{1}{2}$ से ४ इंच तक तथा मोटाई में $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ इंच तक होते हैं। इनका स्वाद अतितिक्त होता है।

शोधन—अतिविषा एवं प्रतिविषा में वस्तुतः विषाक्त प्रभाव नहीं होता। किन्तु किन्हीं आचार्यों ने अतिविषा को भी गोमय स्वरस में दोलायन्त्र में स्वेदन कर, सूर्यताप में सुखाकर प्रयोग करने का निर्देश किया है। किन्तु वर्तमान समय व्यवहार में अतिविषा का शोधन नहीं किया जाता और वस्तुतः इसकी आवश्यकता भी नहीं है।

सक्रियतत्त्व—अतिविषा तथा प्रतिविषा दोनों में अतीसीन (Atisine) नामक तत्त्व पाया जाता है।

गुणकर्म—

कटूष्णातिविषा तिक्ता दोषत्रयविनाशिनी।
पाचनी दीपनी चैव ग्राहिणी स्तन्यशोधिनी॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

योनिदोषहरी सम्यक् बालानां हितकारिणी ।
विषप्रभावरहिता माननीया महौषधिः ॥　　　　(स्व०)

अतिविषा रस में कटु, विपाक में कटु, वीर्य में उष्ण, दीपन, पाचन, ग्राही, त्रिदोषनाशक, योनिदोषनाशक तथा स्तन्यशोधक एवं बल्य होती है । इसके सेवन से किसी प्रकार का विषाक्त प्रभाव नहीं होता ।

संस्थानिक प्रभाव

आभ्यन्तरिक—अतीस का मुख्य प्रभाव पाचकसंस्थान पर होता है । यह रसनेन्द्रियगत स्वादांकुरों के नाड्यग्रों पर उत्तेजक प्रभाव करता है और इस प्रकार प्रत्याक्षिप्तरूपेण लालास्राव एवं आमाशयिक रस में वृद्धि करता है । क्षुधा की वृद्धि होती तथा पाचन में भी सहायता होती है । इस प्रकार यह **दीपन** तथा **पाचन** प्रभाव करता है । आन्त्रों में अतीस ग्राही प्रभाव करता तथा कोष्ठगत दूषित वायु का भी शमन करता है । इसके अतिरिक्त यह स्तन्यजनक (Galactagogue) प्रभाव करता तथा योनिदोषों को शान्त करता है ।

आमयिक प्रयोग—अतिविषा का प्रयोग विशेषतः बालरोगों में किया जाता है—

ज्वरपित्तश्लेष्महरी कृमिरोगेषु पूजिता ।
आमातिसारकासघ्नी विषच्छर्दिविनाशिनी ॥　　　　(स्व०)

विभिन्न प्रकार के ज्वर, विशेषतः विषमज्वर, श्लैष्मिक व्याधियाँ सामान्य-कृमिविकार, आमदोषजन्य अतिसार, कास एवं प्रतिश्याय, विषदोष तथा वमन आदि रोगों में अतिविषा का प्रयोग किया जाता है । स्तन्यदुष्टि एवं योनिदुष्टि में भी यह लाभकारी होती है । इसके सेवन से बच्चों में कृमिविकारों के उत्पन्न होने की सम्भावना कम रहती है ।

ज्वरादिजन्य दौर्बल्य में अतिविषा के सेवन से पर्याप्त लाभ होता है । आन्त्रों पर ग्राही प्रभाव करने के कारण अतिसार-ग्रहणी में इसका प्रयोग उपयोगी होता है । युनानी चिकित्सक अतिविषा को वाजीकर भी कहते हैं ।

अतिविषा के प्रधान योग—

बालचातुर्भद्रिकाचूर्ण—अतीस (अतिविषा), कर्कटश्रृंगी, नागरमोथा, तथा पिप्पली सबको समभाग में लेकर चूर्ण बनाकर परस्पर मिलादें । चूर्ण के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बराबर मधु मिलाकर बालकों को सेवन कराने से कास, ज्वर, प्रतिश्याय, छर्दि तथा अतिसार में विशेष लाभ होता है। इसी प्रकार केवल अतिविषा का भी प्रयोग किया जा सकता है। अतिविषा १५ रत्ती, रसाञ्जन १५ रत्ती के साथ मिश्रित कर ज्वरातिसार में युवकों को भी दिया जाता है।

अतिविषा, शुण्ठी, कुटजत्वक्, मुस्तक तथा गुडूची सम्पूर्ण द्रव्यों को मिश्रित २ तो० की मात्रा में लेकर १॥ पाव पानी में क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष रहने पर शीतल कर उपयोग करें। इसी प्रकार की २-३ मात्रा दिन में देने से ज्वरातिसार में निश्चित लाभ होता है।

मात्रा—अतिविषा—५ से ३० रत्ती। प्रतिविषा—२ से ४ रत्ती।

ममीरा

नाम—(सं०) ममीरः, पीतमूला, महातिक्तः, हैमतनुः, भिष्मीतिक्तः, (हि०) ममीरा (आसामी) भिष्मीतिक्ता, (अ०) महामीरान, (गु०) ममीरो, ममीरा (चीन) सूलोन, चैलेन, हांगलेन (ले०) Coptis teeta (कॉप्टिस टीटा)।

वि० विवरण—यह आसाम की भिष्मीनामक पर्वतमाला में अधिक होता है। वहीं के भिष्मीजाति के लोग इसको बेचने के लिये लाते हैं। स्वाद में यह तिक्त (तीता) होता है, अतएव इसको आसाम में 'भिष्मीतीता' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—सम्पूर्ण हिमालय प्रदेश में, पश्चिम में काबुल से लेकर आसाम तक पाया जाता है तथा तिब्बत-चीन एवं अफगानिस्तान के उच्च पर्वतीय प्रदेशों में भी होता है।

परिचय—इसका काण्डरहित वर्षायु क्षुप होता है। पत्र हंसराजवत् होते हैं। मूल कई वर्षों तक भूमि में पाया जाता है, और तोड़ने पर अन्दर पीतवर्ण होता है। औषध्यर्थ यही मूल व्यवहृत होता है। आकारतः यह कुटकीमूल के सदृश होते हैं। इनकी लम्बाई १ से ३ इञ्च और बाह्यतः श्यामवर्ण के होते हैं।

सक्रियतत्त्व—बरबेरीन (Berberine) तथा कोप्टीन (Coptine)।

गुणकर्म—

ममीरस्तु रसे तिक्तः रूक्षोष्णः शोथनाशकः।
नेत्ररोगहरो श्रेष्ठः दीपनः पाचनः सरः॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कोष्ठवातस्य शमनः मूत्रलः लेखनः परः।
पर्वतीय प्रदेशेषु–विशेषेणोपजायते। (स्व०)

ममीरा तिक्तरसयुक्त उष्णवीर्य, सूक्ष्म, शोथनाशक, नेत्रदोष प्रशमन, दीपन–पाचन और सर होता है। इसके अतिरिक्त कोष्ठवात शामक एवं मूत्रल होता है।

आमयिक प्रयोग—ममीरा उल्वण वृक्कशोथनाशक व नेत्ररोगहर एवं सर होता है। विशेषरूप से इसका उपयोग नेत्ररोगों में अनेक प्रकार से किया जाता है। जल के साथ घिसकर बाहर से इसका प्रलेप करते हैं। इसका 'सुरमा' बहुत उत्तम समझा जाता है।

ममीरा का प्रयोग विभिन्न प्रकार के ज्वरों–विशेषतः विषमज्वर में भी करते हैं। श्वित्र (Leucoderma) सिध्म आदि त्वग् रोगों में भी सिरके के साथ घिसकर प्रलेप के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। अवरोधज कामला (Obstructive Jaundice) में इसको अनीसून के साथ पिलाते हैं।

मात्रा—मूलचूर्ण ५ रत्ती से ३ माशा। ज्वर के लिए अधिक मात्रा में प्रयुक्त करना चाहिए।

ममीरी

नाम—(सं०) पीतक; (हिं०) पीली जड़ी, शूप्रक चवन्नीगाछ; (पं०) गुविर्घानी, पश्मरन्; (काश्मीर) चैत्र; (कुमायूं) पिला जरी; (बं०) मम्मरी, पियारंग; (ले०) Thalictrum foliolosum (थैलिक्ट्रम् फोलिओलोजम्)।

वि० विवरण—चवन्नी के समान पत्र होने के कारण इसे 'चवन्नीगाछ' कहते हैं। इसमें भी प्रायः वही तत्व पाये जाते हैं जो ममीरा में होते हैं; तथा विषमज्वर व नेत्र रोग नाशक होने के कारण इसे ममीरा का प्रतिनिधि माना जाता है। कुछ लोगों ने सर और तिक्त होने के कारण 'त्रायमाणा' का प्रतिनिधि माना है।

पूज्यगुरुवर ठा० बलवन्तसिंह जी का कथन है "कि पियारांगा नाम का जो द्रव्य बाजार में मिलता है, उसे भी ममीरी मूल कहा जाता है। परन्तु यह ममीरी की जड़ है, इसमें सन्देह है।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय में ३ से ९ हजार फुट की ऊँचाई पर इसके पौधे पाये जाते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिचय—इसके ४ से ८ फुट ऊँचे बहु-वर्षायु क्षुप होते हैं। पत्र संयुक्त, पक्षाकार और पत्राधार कोषमय होता है। पत्र बड़ी चवन्नी के समान गोल धार पर किंचित् गोल दन्तमय होते हैं। पुष्प छोटे और श्वेताभ होते हैं। मूल गांठदार तथा पतले उपमूलों से युक्त होते हैं। मूल रंग में पीतवर्ण तथा ६ से ८ इंच लम्बे एवं एक अंगुल मोटे तथा स्वाद में तिक्त होते हैं। औषध्यर्थ यही मूल व्यवहृत होते हैं।

सक्रियतत्त्व—बर्बेरीन (Berberine)।

गुणकर्म—

मम्मीरी च रसे तिक्ता रूक्षोष्णा दीपनी मता।
चक्षुःष्या शोथशमनी श्लेष्मघ्नी पाचनी सरा॥ (स्व०)

मम्मीरी रस में तिक्त, उष्ण, दीपन-पाचन, चक्षुष्य, श्लेष्मा एवं शोथ का नाश करने वाली तथा किंचित् रेचन होती है।

आमयिक प्रयोग—जीर्णज्वर, ज्वरादिव्याधिजन्य दौर्बल्य एवं पाचन शैथिल्य तथा नेत्र रोगों में इसके मूल का प्रयोग किया जाता है। विशेषरूप से यह तिक्तबल्य (Bittertonic) होता है। विशूचिका में इसके मूल को गुलाबजल में घिसकर पिलाते हैं। शोथ तथा वेदना शमन के लिए इसका प्रलेप किया जाता है।

मात्रा—ममीरा के समान।

उपकुञ्चिका

नाम—(सं०) उपकुञ्चिका, कालिका, स्थूलजीरक, पृथ्वीका, उपकुञ्ची, सुषवी, दीप्या; (हिं०) कलौंजी, मगरैल, (गु०, म०) कलौंजी; (बं०) कालजीरा; (फा०) स्याहदाना; (अ०) शोनीज, हब्बतुस्सौदा, हब्बे असवद; (ले०) Nigella Sativa (नाइगिला सेटाइवा)।

वि० विवरण—भावप्रकाश में उपकुञ्चिका को जीरक के साथ वर्णन किया है। यह भ्रम सम्भवतः, जीरा और कलौंजी के गुणसाम्य एवं समानकार्यों के लिए प्रयुक्त किए जाने के कारण हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में ये दोनों पृथक् पृथक् जाति के द्रव्य हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्पत्तिस्थान—भारतवर्ष, मिश्र आदि। भारतवर्ष में बीजों के लिए इसकी खेती होती है।

परिचय—इसके क्षुप होते हैं। औषध्यर्थ इसके बीजों का व्यवहार होता है, जो कालेरंग के तथा तिकोने होते हैं। इनके अन्दर तैलांश होता है तथा नीबू की सी गन्ध आती है। इसके बीज मसाले में भी डाले जाते हैं।

सक्रियतत्त्व—इसमें जो उत्पत् तैल पाया जाता है, यही इसका सक्रियतत्त्व होता है।

गुणकर्म—

कुञ्चिका दीपनी रुच्या तीक्ष्णा दौर्गन्ध्यनाशिनी।
वातश्लेष्महरी चोष्णा कटुपाका च पाचनी।
रूक्षा संग्राहिणी मेध्या गर्भाशयविशोधनी।
बल्या वृष्या च तिक्ता चक्षुष्या पित्तला मता।
मूत्रला स्वेदजननी जन्तुघ्नी च प्रशंसिता॥
भारतीय प्रदेशेषु कृषिरस्याः प्रजायते। (स्व०)

उपकुञ्चिका रस में कटु एवं विपाक में कटु वीर्य में उष्ण दीपन-पाचन, रूक्ष, रुचिकारक, तीक्ष्ण, दुर्गन्धि नाशक, वातश्लेष्मनाशक, संग्राहिणी, मेध्य, गर्भाशय शोधक, बल्य, वृष्य, नेत्रहितकारक, पित्तवर्द्धक, मूत्रल, स्वेदजनक, जन्तुनाशक होती है।

संस्थानिक प्रभाव

बाह्य—उपकुञ्चिका का तैल बाह्य प्रयोग से स्थानिक संज्ञाहर प्रभाव करता है।

आभ्यन्तरिक—'पाचक संस्थान'—यह दीपन-पाचन, रुचिकारक तथा कोष्ठ वात प्रशामक एवं किंचित् ग्राहिणी होती है। इसके सेवन से वसामय पदार्थों के पाचन में सहायता होती है। अन्य उत्पत् तैलों की भांति यह वातानुलोमन (Carminative) प्रभाव भी करती है।

प्रजनन संस्थान—प्रजनन संस्थान पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। गर्भाशय के संकोचविकास (Uterine Contractions) गति में वृद्धि एवं आर्तवस्राव की वृद्धि होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्सर्ग—कलौंजी का उत्सर्ग, वृक्क, स्तन तथा त्वचासे होता है। उत्सर्ग के साथ उक्त अवयवों पर उत्तेजक (Stimulant) प्रभाव भी करता है। अतएव यह मूत्रल, स्वेदल तथा स्तन्यजनन प्रभाव भी करता है।

आमयिक प्रयोग—

आध्मानस्य विनाशिनी वमिहरी गुल्मस्य विध्वंसिनी।
स्तन्यस्यातिप्रवर्तिनी सुखकरी रुच्यातिसारापहा॥
शूलस्याशुनिसूदिनी च सततं मूत्रस्य संवर्द्धिनी।
भक्तस्वादकरी च जन्तुशमनी कुञ्चीभिषग्पूजिता॥ (स्व०)

उपकुञ्चिका आध्मान, वमन, वातगुल्म, स्तन्य की कमी, अरुचि, अतिसार, शूल, मूत्र की कमी आदि अवस्थाओं में तथा भोजन को रुचिकारक बनाने के लिए एवं जन्तुनाशन के लिए प्रयुक्त की जाती है। प्रतिश्याय में भी इससे लाभ होता है।

सुगन्धित होने के कारण इसको विरेचक एवं कटुपौष्टिक द्रव्यों के साथ उनकी क्रियावृद्धि के लिए प्रयुक्त किया जाता है। सामान्यतया दैनिक व्यवहार में इसका प्रयोग मसाले एवं अचारादि के साथ किया जाता है। इससे दीपन-पाचन प्रभाव होता है। कलौंजी का सेवन प्रसूता के लिए विशेषरूप से हितकारी होता है। प्रसवोपरान्त इसके बीजों का क्वाथ देने से, गर्भाशय पर उत्तेजक प्रभाव होकर उसकी संकोच क्रिया बढ़ती है और इस प्रकार गर्भाशय एवं मूत्राशयकी शुद्धि होने में सहायता होती है। शरीर की पीड़ा का शमन होता है। सूतिका काल में प्रायः पाचन दुर्बल होता है अतएव उसमें भी सहायता मिलती है। गोल-कृमियों के विकार में इसके क्वाथसे लाभ होता है।

जब लौह के समान श्वास निकलती हो, उद्गार में धुएँ की सी गंध आती हो, तो इस प्रकार के रक्तपित्त में कलौंजी को शर्करा के साथ सेवन करने से उपकार होता है।

आर्तवजनक (Emmenagogue) होने के कारण रजःकृच्छ्रता एवं पीड़ायुक्त रजःस्राव में इसका उपयोग किया जाता है। किन्तु अधिक मात्रा में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए, अन्यथा गर्भस्राव होने का भय रहता है।

चित्रक के साथ क्षुधा नाश, अजीर्ण तथा तज्जन्यातिसार आदि कष्टों में एवं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषमज्वर की पारी आने के पहिले इसका प्रयोग किया जाता है। विषमज्वर में भृष्ट कलौंजी ६ माशा की मात्रा में गुड़ से देनी चाहिए।

कलौंजी के निम्न योग से स्थौल्य नष्ट होता है—

पीपल की लाख	७ माशा
कलौंजी	१२ माशा
अजवाइन	१२ माशा

चूर्ण बनाकर ३ माशा की मात्रा में प्रयोग करें।

प्रतिश्याय में कपड़े में पोटली बनाकर सुघांते तथा धूनी देते हैं।

बाह्य प्रयोग—इसके बाह्यलेप से शोथ तथा वेदना की शान्ति होती है।

त्वग्रोगों में तिल तेल मिश्रित कर लगाने से लाभ होता है और कण्डू नष्ट होती है। बीजों की मसी (जलाई हुई राख) मोम व तैल में मिलाकर गञ्जा में लगाना चाहिए।

जल में पीसकर इसका लेप व्यङ्ग किलास दद्रु गंजा खालित्य और मुंहासे को लाभ करता है।

मद्यमें पीसकर लगाने से नारूकृमि निकल जाता है।

कलौंजी ५ तो० बावची ५ तो० गुग्गुलु ५ तो० दारुहल्दी ५ तो० गन्धक २॥ तोला इनका कल्क बनाकर ६४ तो० नारियल के तैल में सिद्ध कर लगाने से पामा नष्ट होती है।

उपकुञ्चिका को ऊनी कपड़ों में कीड़ों से बचाने के लिए रखते हैं।

उपकुञ्चिका प्रधान योग—पञ्चजीरक पाक (भा० प्रकाश)

मात्रा—१ से ३ माशा तक।

निर्विषी

नाम—(सं०) निर्विषा, विषहन्त्री, विषभवा, अविषा, विषवैरिणी; (हिं०) निर्विषी, जदवार; (फा०) ज़द्वार, माहप (फ़) माहक–वी, माहफ़फ़ी; (अ०) जद्वार; (नेपाल) निलोविख; (जौनसार) मइन; (ले०) डेलफिनिअम् डेन्युडेटम् (Delphinium denudatum,)।

वि० विवरण—राजनिघण्टु के किसी किसी संस्करण में इसका वर्णन दिया है। भावप्रकाश में भी इसका कुछ उल्लेख मिलता है; किन्तु अन्य ग्रन्थों में इसका

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वर्णन नहीं है। हकीम लोग इस ओषधि का प्रयोग करते हैं। राजनिघण्टु के उपर्युक्त संस्करणों में इसे 'विषभवा' कहा गया है, जिसका अर्थ होता है विष के समीप होने वाला द्रव्य।

उत्पत्तिस्थान—समुद्र में ८५०० से १२००० फुट की ऊँचाई पर हिमालयस्थ प्रदेशों—खोतान (ख़ता), लद्दाख, नैपाल, भूटान, तिब्बत तथा जौनसार आदि में इसके पौधे पाये जाते हैं। अमृतसर और दिल्ली में इसका व्यापार होता है।

परिचय—पर्वतों के सूखे घासवाले ढालों पर वसन्त ऋतु में इसके क्षुप दृष्टिगोचर होते हैं। पुष्प हल्के नीले रंग के चंचुयुक्त (Spurred) होते हैं। फल तीन फलकों (Follicles) का होता है। नीचे की पत्तियाँ वृत्ताकार तथा ५-९ विच्छेदयुक्त होती हैं। बाज़ार में इसके मूल मिलते हैं, और ये ही औषध्यर्थ प्रयुक्त होते हैं। ये आकृति में शंक्वाकार, १ से ३ इंच लम्बे तथा बाहर से काले एवं भीतर मटमैले रंग के होते हैं। इनको चबाने से वत्सनाभ की भांति सुन्नता, चरपराहट और सनसनाहट आदि प्रभाव लक्षित नहीं होते। यूनानी चिकित्सकों ने इनके कई भेद माने हैं। भावप्रकाश ने भी निर्विषा के ४ भेद वर्णन किए हैं।

जद्वार और वत्सनाभ में भेद—आकारतः सादृश्य होने के कारण जद्वार के कन्द वत्सनाभ के साथ मिले हुए मिलते हैं। अतएव जद्वार के स्थान में वत्सनाभ को ग्रहण करने से भूलवश हानि हो सकती है और वत्सनाभ के स्थान में इसको ग्रहण करने से अभीष्ट प्रभाव नहीं होगा। इन दोनों में भेद यह है कि वत्सनाभ को छीलकर जिह्वापर रखने से दाह, सुन्नता और सनसनाहट प्रतीत होती है। इसके अनन्तर जद्वार को घिसकर चटाने से वत्सनाभ के उक्त दोष दूर हो जाते हैं। स्वरूपतः इनमें यह अन्तर होता है, कि जद्वार भीतर तथा बाहर से न्यूनाधिक भूरा होता है। रसमें यह कटु या मधुर भी हो सकता है। इसका विषघ्न गुण मुख्य है।

सक्रियतत्त्व—डेल्फिनीन (Delphinine), स्टैफिसेग्रीन (Staphisagrine) तथा डेल्फोक्युरारीन (Delpho-curarine)।

गुणकर्म—

निर्विषा कटुका सोष्णा कफवातास्रदोषनुत्।
अनेकविषदोषघ्नी व्रणसंरोपणी मता॥ (रा० नि०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निर्विषा कटु, उष्ण, कफवात, रक्तदोष एवं अनेक विषदोषनाशक तथा व्रणरोपक होती है।

हकीम श्री दलजीत सिंहजी ने इसे विषनाशक, सौमनस्यजनक, उत्तमाङ्गों एवं नाड़ीको बलप्रद, प्रमाथि, विलयन, तारल्यजनक, दोषपाचक, वाजीकर, प्रवर्तक, अश्मरीनाशक, वेदनास्थापक और लेखन तथा कफज एवं सौदावी ज्वरोंको दूर करने वाली लिखा है।

आमयिक प्रयोग—

सर्वदोषहरी भुक्ता लेपाच्छ्वयथुनाशिनी ।
श्लेष्मजान् विंशतिं रोगान् सद्यो हन्यान्निषेवणात् ॥ (भा० प्र०)

निर्विषा दोषनाशक, बाह्यतः लेप करने से शोथनाशक तथा बीसों कफज व्याधियों को शीघ्र नष्ट करने वाली है।

विषनाशक होने के कारण इसे सभी प्रकार के विषों में घिसकर पिलाते हैं। बाह्यतः स्थानिक विषहर प्रभाव के लिए इसको दंशस्थान पर लगाते हैं। उत्तमाङ्गों को बलप्रद, सौमनस्यजनक और विषनाशक होने के कारण प्लेग, हैजा आदि जनपदोध्वंसकारी रोगों में उत्तमांगों की शक्ति के संरक्षण के लिए इसका सेवन कराया जाता है। वेदनास्थापक होने के कारण स्थानिक प्रभाव के लिए बाह्यतः तथा सामान्य कायिक प्रभाव के लिए मुखद्वारा ४ रत्ती की मात्रा में सेवन कराया जाता है। ग्रंथि, प्लेग की गिल्टी तथा कण्ठमाला आदि में इसका प्रलेप शोथहर (Antiphlogistic) प्रभाव करता है अथवा उनको पकाकर फोड़ देता है। व्यङ्ग तथा सिध्म आदि त्वग्रोगों में भी इसका प्रलेप उपयोगी होता है, तथा इससे उसके चिह्न नष्ट होते हैं। लेखन होने से स्रोतों के अवरोध को दूर करता है तथा साथ ही दोषतारल्यजनक होने के कारण यकृत् तथा प्रतिहारिणी शिराओं के अवरोध एवं तज्जन्य कामला (Jaundice), कष्टार्तव, जलोदर, प्रतिश्याय, अपस्मार एवं कफज शिरोरोग आदि व्याधियों में जद्वार बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। वातनाड़ीबल्य होने के कारण पक्षाघात, अर्दित (Facial paralysis), अपस्मार तथा अन्य प्रकार के अंग-घातक रोग, कम्पवात, त्वचा की सुप्तता तथा मन्दाग्नि आदि वातज व्याधियों में इसका उपयोग होता है।

हकीम लोग जद्वार की गोलियाँ प्रतिश्याय आदि कफ रोगों एवं अन्य मस्तिष्क रोगों तथा वाजीकरण के लिए प्रयुक्त करते हैं। वाजीकरण के लिए

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसका माजून प्रयुक्त किया जाता है। उष्ण प्रकृतिवालों को जद्वार अहितकारी होता है। इसके दोषों को शान्त करने के लिए धारोष्ण दुग्ध तथा यवमण्ड लेना चाहिए।

मात्रा—४ रत्ती से १ माशा

मोरवेल

नाम—(हि०) वेलकुम, मोरवेल, मूर्वा, (ले०) क्लिमेटिस गॉरिआना (Clematis, Gauriana)।

वि० विवरण—यह एक लता होती है। इसकी कई उपजातियाँ मिलती हैं। यह प्रायः मैदानों में भी होती है। इसका व्यवहार शास्त्रीय मूर्वा के स्थान में किया जाने लगा है। वास्तव में यह मूर्वा नहीं है, क्योंकि इसके किसी भी भाग में रेशा नहीं होता।

परिचय—इसमें पत्तियाँ विपरीत तथा संयुक्त होती हैं और पत्रनाल लम्बा सूत्रवत् होता है, जिसकी सहायता से ये लतायें दूसरे वृक्षों पर आरोहरण करती हैं। पत्तियाँ द्विपक्षाकार, पुटपत्र फैले हुए और पत्रक चिकने होते हैं।

इस ओषधि का प्रयोग स्थानिक लोगों द्वारा ज्वर, कुष्ठ एवं जान्तव विषनाशन के लिए किया जाता है। मूर्वा का विस्तृत वर्णन सन्दिग्ध वनौषधि विवरण के प्रकरण में किया जायगा।

उदसलीव

नाम—(हिं०) ऊदसालम, (अ०) ऊदसलीव, (पं०) मागेख, (ले०) पेओनिया ऑफिसिनेलिस (Paeonia officinalis)।

वि० विवरण—ऊदसलीव की जो जाति आजकल बाजार में मिलती है, वह यूरोप से आती है। इसका ही नाम 'पेओनिया ऑफिसिनेलिस' है। इसकी भारत में उत्पन्न होने वाली जाति पेओन्निया इमोडी (Paeonia emodi) है। उदसलीव एक यूनानी ओषधि है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इसका विशेष वर्णन नहीं मिलता।

उत्पत्तिस्थान—पेओनिया ऑफिसिनेलिस यूरोप में तथा पेओनिया इमोडी, हिमालय में हजारा से कुमायूँ तक ५ से १० हजार फुट की ऊँचाई तक होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिचय—ओषधि में इसके कन्दों का व्यवहार होता है। जो १ से ३ इंच लम्बे, ½-¾ इंच मोटे होते हैं। ये बीच में मोटे और दोनों अग्रों की ओर क्रमशः पतले होते जाते हैं। बाह्यपृष्ठ रंग में भूरा तथा अनुलम्ब रेखाओं से युक्त होता है। आभ्यन्तर भाग पिष्टमय होता है। मूल वल्कल कड़ा, पीताभ-कृष्णवर्ण का तथा स्वाद में चरपरा होता है। जिस कन्द को चावने पर थोड़ी देर वाद तीक्ष्णता, चरपराहट और थोड़ी कडुआहट प्रतीत हो तथा जिह्वा पर किंचित् खिंचाव प्रतीत हो, ऐसा उदसलीव उत्कृष्ट होता है।

देशी ऊदसलीव के कन्द श्वेताभ, अंगुलि के समान मोटे, किंचित् मधुर एवं कषाय रसयुक्त होते हैं। इनका व्यवहार विदेशी के स्थान पर सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

गुणकर्म—

ऊदो रूक्षोऽतिशोफघ्नो लेखनो मूत्रलः परः।
स्रोतसां शोधकस्सम्यग् दोषतारल्यकारकः॥
रजःस्रावकरस्सम्यक् नाडीनाञ्च बलप्रदः।
वेदनास्थापकश्चोक्तो यूनानीयैर्भिषग्वरैः॥ (स्व०)

रुक्ष स्रोतोविशोधक, श्वयथु विलयन, दोषतारल्यजनक, लेखन, मूत्रल, रजःप्रवर्तक, वेदनास्थापक तथा नाडीबलप्रदर है।

आमयिक प्रयोग—

वातव्याधौ यकृद्रोगे वृक्कामाशयशूलयोः।
अश्मर्याञ्चोदरे रक्तशुद्ध्यर्थञ्च प्रयुज्यते॥

इसका प्रयोग विशेषतया मस्तिष्क तथा वातनाड़ियों के रोगों में किया जाता है। अपस्मार, कम्पवात, अर्दित, पक्षवध, उन्माद, वातिक अन्यथाज्ञान, मस्तिष्क शोथ, अपतन्त्रक, वालापस्मार आदि रोगों में इसका प्रयोग बहुत उपयोगी होता है। यकृदवरोध, कामला, आमाशयशूल, वृक्क तथा वस्तिशूल में भी इसका प्रयोग होता है। आर्तवजनन एवं प्रसवशोणित के निर्हरण के लिए सामान्य उपयुक्त द्रव्यों के साथ इसका व्यवहार किया जाता है। गर्भाशय रोग, जलोदर तथा पित्तावरोध में भी इस प्रकार प्रयोग होता है। रक्तशोधनार्थ इसका प्रयोग बच्चों को कराते हैं। व्यङ्गादि त्वग् रोगों में इसका लेप किया जाता है। गर्भवती स्त्रियों में इसका प्रयोग

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नहीं करना चाहिए। अधिक मात्रा में सेवन करने से शिरःशूल, सनसनाहट, वमन तथा दृष्टिभ्रम आदि उपद्रव पैदा होते हैं। ऐसा होने पर इनके शमनार्थ गुलकन्द, मुलैठी आदि का सेवन करना चाहिए।

मात्रा—१ से ३ माशा।

देवकाण्डर

नाम—(सं०) काण्डीर, काण्डकटुक, नासासंवेदन, पटु उग्रकाण्ड, तोयवल्ली, कोरवल्ली सुकाण्डक. (हिं०) जलधनियाँ, कण्डरी, देवकाण्डर, प्लेग की वूटी, (ले०) रेनन क्युलस सेलिरेटस (Ranunculus sceleratus)।

देवकांडर के शास्त्रीय नाम के सम्वन्ध में श्रीयुत गुरुवर वलवन्त सिंह जी जो विचार प्रकट किए हैं—वह 'सचित्र आयुर्वेद' के मार्च १९५२ के अंक में प्रकाशित इस प्रकार है—

'इसके शास्त्रीय नाम के सम्वन्ध में वहुत मतभेद है, जैसा कि सचित्र आयुर्वेद के नवम्बर १९४९ में श्री पं० भगीरथ स्वामी के "जलपिप्पली" शीर्षक लेख से विदित होगा। परन्तु पहले से ही मेरा मत है कि जलधनियाँ का वर्णन धन्वन्तरि निघण्टु में काण्डीर (काण्डीरी) के नाम से किया गया है। काशी के आस पास इसके लोकप्रचलित नाम देवकण्डरी, कड़री तथा देवकांडर आदि हैं, जिसके आधार पर यह मत स्थिर है।'

उत्पत्तिस्थान—यह पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा विहार आदि के मैदानों में जल के पास पाया जाता है। यह शरत् ऋतु से प्रारम्भ होकर वसन्त ऋतु तक होता है।

परिचय—इसके पञ्चाङ्ग का व्यवहार करते हैं। "इसका क्षुप १-२ फीट ऊँचा, शीतकाल में नदी नालों के पास उत्पन्न होकर, कई महीनों तक रहता है। पुष्प नीले, पत्र धनियाँ की तरह कटे हुए तथा फल पिप्पली की भांति होते हैं। पत्तियों के आधार एवं खण्डीभाव में वहुत अन्तर एक ही पौधे में पाया जाता है।"

(सचित्र आयुर्वेद मार्च १९५२ से उद्धृत)।

गुणकर्म प्रयोग—

काण्डीरः कटुतिक्तोष्णः सरो दुष्टव्रणार्तिजित्।
लूतागुल्मोदरप्लीहशूलमन्दाग्निनाशनः॥ (ध० नि०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काण्डीर कटु, तिक्त, उष्ण, सर, दुष्टव्रणनाशक, लूता, गुल्म, उदर-प्लीह, शूल और मंदाग्निनाशक होता है।

यह दाहक, विस्फोटोत्पादक (फफोला डालने वाला) तथा रूक्ष होता है और चर्मरोगों का नाश करता है। आजकल यह विशेषरूप से प्लेग की गिल्टियों पर लगाने के लिए प्रयुक्त होता है। लेप से ग्रन्थि पर छाला होकर प्लेग की उग्रता कम हो जाती है। अर्थात् इसके सेवन से प्लेग का जोर कम हो जाता है। यह प्रयोग विशिष्ट विद्वानों द्वारा शतशोऽनुभूत है। कुछ लोग खिलाने के लिए इसकी गोलियां बनाते हैं। ग्रामीण इसका अचार भी बनाते हैं, जो उष्ण और अत्यन्त पाचक होता है। कफज मन्दाग्नि में इसके रससे भावना दी हुई ओषधियों का प्रयोग लाभकारी होता है। उपदंश के विष की शान्ति के लिए इसके रस का १-१ तो० सेवन प्रातः सायं अधिक काल तक करना चाहिए। विभिन्न त्वग् रोगों में अन्य ओषधियों के साथ इसका चूर्ण मिलाकर देनेसे दद्रु किलास, पामा, विचर्चिका आदि में प्रत्यक्ष प्रभाव होता है।

रसशास्त्र में भी इसका उपयोग पारद तथा तवकी हड़ताल के भस्म बनाने के लिए किया जाता है। तवकी हड़ताल को इसके स्वरस में ४ दिन घोंटकर डमरू यन्त्र में उड़ाने से भस्म बनती है।

मात्रा—स्वरस ६ माशा से १ तोला। **चूर्ण**—३ माशा तक।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

N. O. Dilleniaceae (भव्यकुल) ।

भव्य

नाम—(सं०) भव्य, भव, भविष्य, पिच्छिलबीज, रोगफल; (गु०) ओटफल, करम्बल; (म०) मोटा करम्वल; (वं०) चाल्ता; (नैपाल) रामफल; (लै०) डिल्लेनिया इन्डिका (Dillenia Indica) ।

वि० विवरण—धन्वन्तरि निघण्टु के फलवर्गमें वर्णित भव्य फल यही होता है। डल्हण ने इसी के सम्बन्धमें लिखा है—(१) "तालफलप्रमाणमुत्तरापथजमन्ये कर्मरङ्गमाहुः" (ड० अ० ४७)। (२) आरुकम्—अन्ये तु कर्म रङ्गफलं भव्यमाहुः ॥ (३) भव्यं तालफलीपत्रवल्कलसंहतिमात्रम्—इत्यन्ये ।

किन्तु यह निश्चित है कि शास्त्रकारों का भव्य, कर्मरङ्ग (कमरख) नहीं है, अपि तु यही है । यही आधुनिक कालके विशिष्ट आयुर्वेदिक वनस्पतिवेत्ताओं का मत है ।

उत्पत्तिस्थान—यह फल बंगाल, विहार, उड़ीसा तथा कोंकण आदि प्रदेशों में वहुतायत से होता है । उत्तर प्रदेश के वहुत से स्थानों में भी इसके सदा हरित वृक्ष लगाये हुए मिलते हैं ।

परिचय—भव्य का छोटा वृक्ष होता है। पत्तियां लगभग ८–१२ इंच लम्बी, २ से ४ इञ्च चौड़ी तथा किनारे दन्तुर होते हैं। पत्रपृष्ठ पर अनेक समानान्तर उभरी हुई पार्श्वीय शिरायें होती हैं। इसकी पत्तियां शाखाओं पर समूहबद्ध होकर निकलती हैं। पुष्प एकाकी और श्वेत होता है। फल व्यास में ३ से ५ इञ्च, मांसल और मोटे नतोदर पुटपत्रों से ढके होते हैं। कच्चे-पके फल कषाय होते हैं। फल का मांसल भाग ओषध्यर्थ प्रयुक्त होता है।

गुणकर्म—

मधुराम्लकषायञ्च विष्टम्भि गुरुशीतलम् ।
पित्तश्लेष्मकरं भव्यं ग्राहि वक्त्रविशोधनम् ।। (च०सू०अ० २७)

भव्य—मधुर, अम्ल, कषायरसयुक्त, गुरु, शीतल, पित्त-श्लेष्मनाशक, ग्राही, विष्टम्भि और मुखशोधक होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आमयिक प्रयोग—

भव्यमम्लं कटूष्णञ्च बालं वातकफापहम्।
पक्वन्तु मधुराम्लं च रुचिकृच्छ्रमशूलहृत्॥ (रा० नि०)

कच्चा भव्यफल—अम्ल, कटु, उष्णवीर्य, वात-कफ-नाशक तथा पक्व भव्य फल—मधुर, अम्ल, रुचिकारक और श्रमनाशक है। पके फल दाल, शाक आदि में खटाई के लिये भी डाले जाते हैं। इसकी चटनी भी बनाई जाती है। स्वरस में शर्करा मिलाकर ज्वरादि में शीतल पानक के रूप में पिलाते हैं। यह कास एवं समस्त मलशोधक के रूप में भी व्यवहृत होता है। अतिमात्रा में यह रेचक है।

N. O. Magnoliaceae (चम्पककुल)

चम्पक

नाम—(सं०) चम्पक, हेमपुष्पक, पीतपुष्प, काञ्चन, भृङ्गमोही, स्थिरगन्ध, अग्निगन्ध, स्थिरपुष्प, षट्पदातिथि; (हिं०) चम्पा; (गु०) पीलो चम्पो, रामचम्पो, साचोचम्पो; (म०) पीवला चांपा, सोन चापा; (ते०) चंपकमु; (बं०) चांपा; (ले०) मिकेलिया चम्पक (Michelia Cnampaka)।

वि० विवरण—चम्पा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि भ्रमर इसके समीप नहीं जाता—

यन्नाहतस्त्वमलिना मलिनाशयेन किं तेन चम्पक विषादमुरीकरोषि।
विश्वाभिराममनवनीरदनीलवेषाः केशाः कुशेशयदृशः कुशली भवन्तु॥
(सु० रत्नभाण्डागार)

हिन्दी में भी लोकोक्ति है—

चम्पा तुझ में तीन गुण—रूप, गन्ध और वास।
एक औगुन ऐसो भयो—कि भ्रमर न आये पास॥

किन्तु राजनिघण्टुकार ने "सुभगो भृङ्गमोही च शीतलो भ्रमरातिथिः" ऐसा लिखा है। वास्तव में 'भृङ्गमोही' और 'भ्रमरातिथिः' यह शब्द परस्पर विरोधी से प्रतीत होते हैं। धन्वन्तरि निघण्टु में भी 'चाम्पेयो हेमपुष्पश्च काञ्चनः षट्पदातिथिः' कहा गया है। अनुमान हो सकता है कि 'षट्पदातिथिः' और 'भ्रमरा-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तिथिः' का अर्थ यह है कि भ्रमर चम्पा के लिए अतिथिवत् है। अर्थात् उसके आने की तिथि निश्चित नहीं है। परिणामतः कभी नहीं आपाता, प्राचीनों की यह धारणा सम्भवतः चम्पा के पुष्प में होने वाली सुगन्धि के आधिक्य के कारण ही समझना चाहिए। इसमें इतनी उग्र सुगन्धि होती है कि भ्रमर जैसा मधु और गन्ध प्रेमी जन्तु भी उसको ग्रहण नहीं कर सकता। अच्छा हो कि साहित्यिक कल्पनाओं से वैज्ञानिक साहित्य को पृथक् रखा जाय।

उत्पत्तिस्थान—भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में इसके वृक्ष उद्यानों में लगे हुए मिलते हैं।

परिचय—इसके पुष्प और त्वचा का व्यवहार चिकित्सार्थ किया जाता है। इसका छोटा वृक्ष होता है। इसकी टहनियां मुरचई रंग की होती है। पत्तियाँ प्रायः ६ से १२ इञ्च लम्बी ४ इञ्च तक चौड़ी होती हैं। यह चिकनी हरी और ऊपर की ओर चमकीली सीधे किनारों वाली होती हैं। पुष्प वर्षाऋतु में मन्द, मधुर गन्धयुक्त होते हैं।

सक्रियतत्त्व—चम्पक की त्वचा में उत्पत् तैल, स्थायी तैल तथा राल आदि पाये जाते हैं। पुष्पों में भी उड़नशील तैल होता है।

गुणकर्म—

> चम्पकः कथितः शीतो वीर्येऽतिकटुको रसे।
> हृद्यः सुगन्धिर्विषहा कफपित्तविनाशनः।
> चम्पकप्रसवमिष्टसुगन्धं भूसुरामरमहीपतियोग्यम्।
> वातपित्तशमनञ्च सुगन्धि स्वर्णवर्णमपि षट्पदघाति (ध० नि०)
> चम्पकः कटुकस्तिक्तः कषायो मधुरो हिमः। (भा० प्र०)

चम्पक—कटु, तिक्त, कषाय, मधुर, 'विशेषतया अति कटु, विपाक में कटु, वीर्य में शीतल, हृद्य, सुगन्धित, विषनाशक, कफपित्तनाशक तथा पुष्प सुगन्धित और वातपित्तशामक होता है।

'नादकरणी' ने चम्पक को रसायन, तिक्त, पाचक, रज प्रवर्त्तक एवं स्निग्ध तथा इसके पत्रों को शोथहर (त्वचापर), तिक्त, बल्य, ग्राही, विषमज्वरावरोधक और रसायन एवं पुष्पों को उत्तेजक, बल्य एवं वातानुलोमक, स्निग्ध और मूत्रल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कहा है। मूलत्वक् को रजःप्रवर्त्तक एवं रेचक, पत्रस्वरस को कृमिहर, फल को खाद्य (खाने योग्य) और बीजों को कृमिनाशक लिखा है।

आमयिक प्रयोग—

विषकृमिहरः कृच्छ्रकफवातास्रपित्तजित्। (भा० प्र०)

प्राचीनों ने चम्पक का प्रयोग विशेषतः विषरोग, कृमिविकार, मूत्रकृच्छ्र, कफवात व्याधियाँ और रक्तपित्त में लिखा है।

यदि वस्तिदौर्बल्य के कारण मूत्रग्रहण शक्ति दुर्बल हो गई हो, तो चम्पा की जड़ का कषाय लाभप्रद होता है। चम्पा के पत्र, जातीकुसुम (चमेली का फूल) तथा मुलैठी के कल्क से भानुपाक द्वारा सिद्ध घृत वराङ्गगन्ध को अभ्यङ्ग से दूर करता है। पुष्पों का शीत कषाय (या क्वाथ) २ से ४ तो० की मात्रा में अजीर्ण, वमन, ज्वर आदि में तथा सूजाक और वृक्क रोगों में लाभकारी होता है। इसके छाल का कषाय १ छटांक की मात्रा में या चूर्ण ३ माशा की मात्रा में विषमज्वर तथा साधारण अजीर्ण में प्रयुक्त होता है। इसकी छाल का प्रयोग आमवात या गठिया में सफलतापूर्वक करते हैं। इस कार्य के लिए इसे ग्वायकम् (Guaicum) का प्रतिनिधि माना जाता है। इसके अतिरिक्त यह रजःप्रवर्तक भी होता है। पत्रस्वरस को मधु के साथ उदरशूल में प्रयुक्त किया जाता है। शुष्कमूल या मूलत्वक् चूर्ण को दधि के साथ मिलाकर विद्रधि पर मलने से लाभ होता है। कोमल पत्रों के स्वरस को छान कर नेत्र में आश्च्योतन करने से दृष्टि साफ होती है। क्वाथ की अपेक्षा चम्पा की छाल और पुष्पों का फाण्ट ही विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिए।

N. O. Anonaceae (सीताफल कुल)

सीताफल

नाम—(सं०) सीताफल, गण्डगात्र; (हिं०) सीताफल, शरीफा; (म०गु०) सीताफल; (बं०) आता, शरीफा; (ता०) आता फलम्; (तै०) सीतायुन्डु; (ले०) एनोना स्क्वामोसा (Anona squamosa)।

वि० विवरण—प्राचीन काल में यह फल विदेशों (अमरीका) से भारतवर्ष

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में लाया गया है। उत्तरकालीन एवं आधुनिक ग्रन्थों में इसका वर्णन सीताफल, गण्डगात्र तथा कृष्णवीज नाम से किया गया है। निघण्टु रत्नाकरकार ने इसे निघण्टु में सम्मिलित किया है। इससे मिलता-जुलता एक दूसरा फल होता है जिसे हिन्दी में 'रामफल' तथा लेटिन में 'एनोना रेटिक्युलेटा (Anona reticulata') कहते हैं। इसका फल चिकना होता है।

उत्पत्तिस्थान—भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में इसके छोटे छोटे वृक्ष पाये जाते हैं। रामफल भी अनेकों स्थानों में मिलता है।

परिचय—यह एक प्रसिद्ध सुस्वादु फल है, जिसको लोग खाते हैं। इसके वीज औषध्यर्थ प्रयुक्त होते हैं।

सक्रियतत्त्व—इसकी पत्तियों और वीजों में एक तत्त्व होता है, जो जन्तुओं (कीड़ों) को नष्ट करता है।

गुणकर्म—

गण्डगात्रं हितं वृष्यं वातपित्तनिषूदनम्।
श्लेष्मलं तर्षशमनं वान्त्युत्क्लेशनिपीडनम्॥ (अत्रि० सं०)
तर्पणं रक्तकृत् स्वादु शीतलं हृद्यमेव च।
बलदं मांसकृद् दाहरक्तपित्तमरुत्प्रयुत्॥ (नि० र०)

सीताफल—शीतल, वृष्य, कफवर्धक, वातपित्तनाशक वमन, उत्क्लेश, तृषाशामक, तर्पण, मांस, व बलवर्द्धक, स्वादु, शीतल, हृद्य, दाह, रक्तपित्त और वात शामक होता है।

आमयिक प्रयोग—इसके वीज और पत्तियाँ कीड़ों के लिए विषैले होते हैं। अतएव इनकी पुल्टिस जूं मारने के लिए सिर पर लगाते हैं। किन्तु ध्यान रहे कि इसका रस आंख में पड़ने से रक्तिमा एवं भयङ्कर पीड़ा होकर महान् कष्ट होने की सम्भावना रहती है। व्रण में पड़े कीड़ों के नष्ट करने के लिए भी पत्र-कल्क का व्यवहार किया जाता है। पत्रकल्क को अपतन्त्रक (Hysteria) में नाक पर लगाते हैं।

नकली अशोक

इसका लेटिन नाम पोलिएल्थिया कोङ्गीफोलिया (Polyalthia

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Congifolia) है। यह वृक्ष बगीचों में लगाया हुआ बहुतायत से मिलता है। इसकी पत्तियों के तट या किनारे (Morgin) लहरदार (Wavy) होते हैं और पत्तियां विविध उत्सवों के अवसर पर तोरण आदि बनाने के काम में आती हैं। उत्तर प्रदेश में इसे अशोक कहते हैं। वैद्य लोग इसकी छाल से यत्र-तत्र अशोकारिष्ट भी बना लेते हैं। किन्तु यह असली अशोक नहीं है। जिस गुणकर्म (गर्भाशय सम्बन्धी) के लिए अशोक प्रसिद्ध है, वास्तव में वे गुणधर्म इस नकली अशोक में बिल्कुल नहीं पाये जाते; अतएव अशोक के व्यवहार के लिए 'सारका इण्डिका (Saraca Indica) नामक शिम्बी कुल के वृक्ष को ही ग्रहण करना चाहिए। यही असली अशोक है और इसका वर्णन यथास्थान शिम्बीकुल की ओषधियों के साथ ही किया जायगा।

N. O. Menispermaceac (गुडूची कुल)

गुडूची

नाम—(सं०) गुडूची, अमृतवल्ली, अमृता, मधुपर्णी, छिन्नरुहा, छिन्नोद्भवा, छिन्ना अमृतलता, कुण्डलिनी, वत्सादिनी, चक्रलक्षणा, नागकुमारी, कन्दरोहिणी, चण्डहासा आदि; (गु०, काठियावाड़) गलो; (म०) गुलवेल; (कों०) गरुड़वेल, (सिं०) गिलारेकन्द, गडू ; (क०) अमरवल्लिते तिप्पतीगे; (मल०) चिट्टामृतम् (अ०) गुलंच; (हिन्दी) गिलोय; गुरुच; (ले० टाइनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया (Tinospora Cordifolia)।

वि० विवरण—गुडूची की एक और जाति होती है। जिसे 'टाइनोस्पोरा मालाबारिका (Tinospora Malabarica') कहते हैं। इसे प्राचीनों की 'पद्मगुडूची' कह सकते हैं। बंगाल में इसे 'पद्म गुलंच' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में गुडूची प्राप्त होती है।

परिचय—इसकी बहुवर्षायुलता होती है। अनेक वृक्षों पर इसकी बेल चढ़ी हुई प्राप्त होती है। नीम पर चढ़ी हुई गुडूची ओषधि की दृष्टि से श्रेष्ठ होती है—ऐसी प्रसिद्धि है। काण्ड की वाह्य त्वचा पतली तथा श्वेताभ एवं अन्तस्त्वचा हरित वर्ण की होती है। वाह्य तनु त्वचा स्वयमेव पृथक् होती रहती है। काण्ड मांसल एवं कार्कयुक्त होते हैं। पत्र मसृण एवं ताम्बूलाकृति होते हैं। काण्ड से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भी कभी वायव्य मूल निकलकर नीचे जाते हैं। काण्ड को काटने पर अन्दर का भाग चक्राकार होता है। इसमें पीतवर्ण के पुष्प तथा लालवर्ण के फल गुच्छकों में लगते हैं। बीज के ऊपर का कठोर आवरण चिकना होता है। नवीन शाखायें तथा पत्तियां मृदु रोमवत् होती हैं।

पद्मगुडूची के आकार में भी बहुत कुछ सादृश्य पाया जाता है। इसकी पत्तियां आकार में कुछ बड़ी होती हैं। गुड़ची के पञ्चाङ्ग का व्यवहार चिकित्सा के लिए किया जाता है। यथा सम्भव गुडूची ताजी ही व्यवहार में लावें। यदि संग्रह करना हो तो ग्रीष्म ऋतु में करें। क्योंकि उस समय सक्रिय तत्त्व पूर्ण होते हैं।

गुडूचीसत्त्व—परिपक्व काण्ड को खण्डित करके प्रचुर जल में डाल कर कुछ काल तक मसलें। फिर जल को स्थिर होने के लिए दूसरे पात्र में छोड़ दे तथा काष्ठ को गिरा दें। जल को दूसरे पात्र में स्थिर होने पर जब एक श्वेत द्रव्य पात्र के तल में दिखाई पड़े; तब जल को शनैः शनैः निथार कर फेंक दें और श्वेत चूर्ण को सुखा लें। यही गुडूची सत्त्व है। इसी का औषधि में बहुत व्यवहार होता है।

वि० विवरण—गुडूचीसत्त्व बनाने की यही प्रक्रिया साधारणतः वैद्यसमाज में प्रचलित है। किन्तु इसमें ज्ञातव्य बात यह है कि इस प्रकार के सत्त्व में अधिकांश केवल स्टार्च होता है और गुडूची के सक्रियतत्त्व अधिकांशतः उस द्रव में ही रहते हैं, जिसको फेंक दिया जाता है। अतएव उसी द्रव की रसक्रिया करके घनसत्त्व बना कर गुडूचीसत्त्व नाम से उसी का ग्रहण करना अधिक अच्छा होगा। गुडूची का क्वाथ कर घनक्रिया द्वारा उपलब्ध घनसत्त्व परमोत्तम होता है। स्टार्च का प्रयोग भी व्याधिविशेष में हितकारी हो सकता है।

सक्रियतत्त्व—गुडूची के मूल तथा काण्ड में एक पिष्टमय पदार्थ होता है जिसे 'गुडूचीसत्त्व' कहते हैं। प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त एक द्रव्य एवं बर्बेरीन (Berberine) नामक तत्त्व भी पाया जाता है। पत्रों में पर्याप्त निर्यासोद-सम (Mucilaginous) लुआबी पदार्थ पाया जाता है।

गुणकर्म—

गुडूची कटुका तिक्ता स्वादुपाका रसायनी।
संग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बल्याग्निदीपनी ॥ (भा० प्र०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आयुष्प्रदा च मेध्या च पित्तमेदो विशोषिणी ।
त्रिदोषनाशिनी सम्यक् शास्त्रज्ञैस्समुदाहृता ॥ (स्व०)

अमृतासांग्राहिकवातहरदीपनीयश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानाम् (श्रेष्ठा) इति चरकः ।

गुडूची—कटु, तिक्त, कषायरसवाली, (मुख्यरूप से तिक्तरसवाली) मधुर विपाक वाली, लघु (धन्वन्तरि और राजनिघण्टु में इसे गुरु कहा है। भावप्रकाश ने लघु लिखा है।), उष्णवीर्य, दीपनी, ग्राहिणी, वल्य, रसायन, आयुवर्द्धक, मेध्य, पित्त-मेदसंशोषिका एवं त्रिदोषनाशिनी होती है।

सांस्थानिक प्रभाव—पाचक संस्थान—गुडूची उत्तम दीपन-पाचन (Stomachic), तिक्तवल्य (Bitter tonic) तथा यकृदुत्तेजक (Hepatic Stimulant) है। इससे क्षुधा बढ़ती है। अन्न का पाचन ठीक प्रकार से होता है। यकृतवाहिनियों तथा आमाशय की श्लैष्मिक कला का शोथ एवं अभिष्यन्द कम होता है। पाचननलिका की अत्यम्लता कम होती है तथा स्नेहन (Demulcent) प्रभाव होता है। अतिमात्रा में सेवन करने से वामक प्रभाव करती है।

रक्तवहसंस्थान—रक्त की वृद्धि होती है। बल बढ़ता है। दुष्ट रक्त की शुद्धि होती है। रक्त पर यह संशामक प्रभाव करती है। हृदय एवं रक्तवाहिनीगत वातज दुष्टि नहीं होने देती।

मूत्र एवं प्रजनन संस्थान—यह उत्तम मूत्रल है। इससे मूत्रनलिका के शोफ का शमन होता है। मूत्र की अम्लता इसके सेवन से कम हो कर नष्ट होती है। इससे वीर्य की शुद्धि एवं पुष्टि होती है। इसका सेवन करने से वाजीकर (Aphrodisiac) प्रभाव होता है।

त्वचा—त्वचा पर इसका संशामक प्रभाव होता है।

इस सांस्थानिक प्रभाव के अतिरिक्त इसका सार्वदैहिक उत्तम प्रभाव होता है। अर्थात् शरीर के प्रत्येक धातु पर विशेष परिवर्तन होकर स्फूर्तिदायक (Alterative, रसायन) प्रभाव होता है। बल एवं ओज में वृद्धि होती है, तथा मेध्य प्रभाव भी करती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आमयिक प्रयोग—

दोषत्रयामतृड्दाहमेहकासांश्च पाण्डुताम्।
कामलाकुष्ठवातास्रज्वरकृमिवमीन् हरेत्॥
श्वासार्शःकृच्छ्रहृद्रोगवीसर्पश्रमहारिणी।
रसायनी विषघ्नी च वलीपलितनाशिनी॥

गुडूची—आमदोष, तृषा, दाह, प्रमेह, कासश्वास, पाण्डु, कामला, कुष्ठ एवं त्वग्रोग, विभिन्न प्रकार के ज्वर, कृमिरोग और वमन को शान्त करती है। (अल्पमात्रा में देने से इससे वमन शान्त होता है तथा अधिक मात्रा में वामक प्रभाव करती है।) अर्श, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग, विसर्प, कुष्ठादि व्याधियां भी इससे शमन होती है। गुडूची का प्रयोग रसायन के लिए भी किया जाता है। यह विष-नाशक एवं वली, पलित का निवारण करती है।

यद्यपि उपर्युक्त सभी रोगों पर गुडूची का प्रभाव पड़ता है, किन्तु अधोलिखित अवस्थाओं में निम्न प्रकार से गुडूची का प्रयोग अधिक होता है।

रसायन—चरककार ने समूलपुष्पा* गुडूची के स्वरस को कुछ समय तक सेवन करने से आयु की वृद्धि, रोगनाश, नूतन बलसंचार एवं ओज, अग्नि, स्वर की वृद्धि होती है, वर्ण निखरता है, तथा मस्तिष्क पर मेध्य प्रभाव करती है—ऐसा निर्देश किया है। मेरा अनुभव है, कि स्वस्थावस्था में गुडूची का लगातार सेवन करने वाले व्यक्तियों को अद्भुत लाभ होता है। कम से कम ४० दिन सेवन कराने से वैद्यों को इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल सकता है। भावप्रकाशकार ने भी एतदर्थ अमृता के चूर्ण के सेवन का निर्देश किया है। जीर्ण आमवात (Chronic Rheumatism) तथा फिरंगोपदंश की द्वितीयावस्था में गुडूची का सेवन कराना चाहिए।

ज्वर—गुडूची स्वरस का चरक ने विषमज्वर में, भावमिश्र ने पिप्पलीमधु मिश्रित क्वाथ जीर्णज्वर में, चक्रदत्त ने गुडूची के पत्तों का शाक ज्वरी व्यक्ति को देने का निर्देश किया है। शार्ङ्गधर, योगरत्नाकर, भैषज्यरत्नावली आदि चिकित्सा प्रधान ग्रन्थों के ज्वराधिकार में अनेकों गुडूची प्रधान योग विभिन्न प्रकार के

---

* रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्पाः......................................।
(चरक चि० अ० १)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ज्वरों के लिये दिये हैं। शार्ङ्गधर के निम्न गुडूची प्रधान क्वाथ ज्वर के विशिष्ट चिकित्सार्थ देश भर के वैद्यों द्वारा वर्ते जाते हैं—

गुडूच्यादि क्वाथ सर्वज्वर में; गुडूच्यादि पृथक् दोषज ज्वर में, अमृताष्टक पित्तश्लेष्मज्वर में, गुडूच्यादि तृतीयक ज्वर में। यहाँ तक कि क्वाथचिकित्सा में सभी प्रकार के ज्वर के लिए प्रायः कोई ऐसा योग नहीं है, जिसमें गुडूची एक उपादान न हो। सिद्धभैषज्य मणिमालाकार ने कहा है—

रामसेन(चिरतिक्तक)भवं सत्त्वं सर्वज्वरनिवारणम्।
गुडूचीभवमप्येवं किमन्यैरौषधक्रमैः॥

चिरायता का सत्त्व सर्वज्वरहर होता है। केवल गुडूची का सत्त्व भी वही कार्य सम्पादन करता है। अन्य ओषधियों की क्या आवश्यकता है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार के ज्वरों में भारतीय चिकित्सकों की विश्वसनीय ओषधियों में से गुडूची एक है। इसका अमृतारिष्ट नामक प्रसिद्ध योग जीर्णज्वर की उत्तम ओषधि है। गुडूचीसत्त्व (स्टार्च) का प्रयोग प्रवालपिष्टि के साथ ज्वर के ताप को कम करने के लिए बढ़े हुए ज्वर में कई वार दिया जाता है। गुडूची घनसत्त्व की गोली **'संशमनीवटी'** के नाम से यक्ष्मादि जीर्णज्वरों में दी जाती है। यक्ष्माधिकार में वर्णित गुडूच्यादि मोदक भी जीर्णज्वर की मान्य ओषधि है। ज्वरोत्तर कालिक दौर्बल्य में भी गुडूची का सेवन किया जाता है। इससे भूख बढ़ती है और अन्नका परिपाक ठीक प्रकार से होता है।

कामला—यकृत के स्रोतसों पर प्रभाव करने के कारण मधु के साथ गुडूची स्वरस का सेवन करने से अवरोधज कामला में बहुत उपकार होता है। आमाशय के अन्तर्द्रव्य (इन्ट्रिन्जिक फैक्टर) नामक तत्त्व पर प्रभाव करने के कारक गुडूची पाण्डुरोग की एक मान्य ओषधि है। प्राचीन काल से उक्त व्याधियों में गुडूची का प्रयोग किया जाता है। यह ध्यान रहे कि उक्त प्रभाव गुडूची के निरन्तर कालिक सेवन से, किन्तु स्थायीस्वरूप से होता है। चरक ने गुडूची स्वरस, भावप्रकाश ने तक्र के साथ गुडूचीस्वरस को कामला में प्रयुक्त करने का निर्देश किया है, जो ग्राह्य एवं अन्वर्थ योग है। शास्त्रकारों ने हलीमक में भी गुडूची सिद्ध घृत का प्रयोग बतलाया है। ....

मेह—मूत्र एवं प्रजननसंस्थान पर प्रभाव करने के कारण गुडूची प्रमेह की

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तथा मूत्रसंस्थान की परमौषधि है। इसके सेवन से इस संस्थान की कला पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इससे वस्ति की श्लैष्मिक कला का शोफ दूर होता है। दीपन-पाचन होने के कारण, गुडूचीसेवन से मूत्र में फास्फेट आदि की कमी हो जाती है। अतएव फास्फेटूरिया (Phosphaturea) में यह उपयोगी है। मूत्र की आविलता कम हो जाती है। प्रारम्भ में मूत्र की राशि में अधिकता हो सकती है। विशेष लाभ इसमें यह है कि यह मूत्र एवं प्रजननसंस्थान पर साथ ही साथ वल्य प्रभाव भी करती है। १ से ३-४ मास के सेवन से देखा गया है कि इससे प्रमेह का शमन होता है। साथ ही साथ बाजीकर प्रभाव भी होता है। कतिपय अनुभवी वैद्यों का मत है कि प्रमेह की आरम्भिक अवस्थाओं में ६ मास तक इसके निरन्तर सेवन से स्थायी लाभ हुआ है। प्रमेह रोगों के चिकित्सार्थ गरीबों के लिए गुडूची एक परमोपयुक्त ओषधि है। पूयमेह (सूजाक) में भी गुडूचीस्वरस को मधु के साथ सेवन करने से लाभ होता है। गुडूची के प्रयोग से मूत्र की अम्लता निश्चित रूपेण कम होती है तथा श्लैष्मिक कला के प्रदाह का शमन होता है।

वातरक्त तथा कुष्ठ—(१)वातरक्त तथा कुष्ठादि त्वग्दोषों में गुडूची का शास्त्रकारों ने बहुत उपयोग वतलाया है। गुडूची के अनेक योग वातरक्ताधिकार में दिए गए हैं। यूनानी विचारकों का मत है कि गुडूची रक्तदुष्टि को शान्त करती है और त्वच्य प्रभाव करती है। इन रोगों के लिए निम्न योगों को व्यवहार में लाना चाहिए—

गुडूची घृत, अमृता घृत, स्वल्प गुडूची तैल, मध्यम गुडूची तैल, वृहद् गुडूची तैल, महारुद्र गुडूची तैल, कैशोर गुग्गुलु, (इसमें भी गुडूची का मुख्य प्रयोग है), गुडूची लौह आदि। हृदयस्थित वातदोष शान्ति के लिए वंगसेन का एक सुन्दर प्रयोग है—

हृदयानिलनाशाय गुडूचीं मरिचान्विताम्।
पिबेत्प्रातः प्रयत्नेन सम्यगुष्णाम्बुना सह॥

---

(१) गुडूच्याः स्वरसं चूर्णं कल्कं वा काथमेव वा।
प्रभूतकालमासेव्यं मुच्यते वातशोणितात्॥ (भै० र०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस अवस्था में गुडूची को मरिच के साथ उष्णोदक के अनुपान से प्रातः काल लेना चाहिए ।

श्लीपद में गुडूची के रस को तैल के साथ लेने का निर्देश चक्रदत्त ने किया है । मेरी राय में यह योग भी चिरकाल तक प्रयोग करके देखा जाय तो अधिक लाभ की सम्भावना है क्योंकि एक वैद्य ने इस सम्बन्ध में अपना चमत्कारी अनुभव बतलाया था ।

इसके अतिरिक्त अम्लपित्त में गुडूची के सेवन से अम्लता कम होती, तथा दाह एवं पीड़ा का शमन होता है । इस दशा में गुडूची के श्वेत सत्त्व का प्रयोग अच्छा होता है ।

रक्तप्रदर, प्लीहोदर, कास तथा कृमि आदि रोगों में भी गुडूची का प्रयोग उपयोगी होता है । शास्त्रकारों ने यत्र तत्र इनके बहुत से स्वतन्त्र प्रयोग भी वर्णित किए हैं ।

स्तन्यशोधन के लिए भी गुडूची का व्यवहार करते हैं । भारतभैषज्यतत्त्व में निम्न गुडूच्यादि चूर्ण का वर्णन दिया हुआ पूज्ययादवजी ने उद्धृत किया है ।

'गिलोय (गुडूची), अतीस, सोंठ, चिरायता कालमेघ, नागरमोथा, पीपल, यवक्षार, कासीस भस्म, चम्पा की छाल । सब को समभाग में लेकर एकत्र कर चूर्ण बनावें । मात्रा—१० रत्ती । यकृत् पाण्डुरोग, अग्निमांद्य, अरुचि, ज्वर आदि रोगों में लाभ होता है ।'

मात्रा—चूर्ण १॥ से ३ माशा । क्वाथ—१ छ० । सत्त्व—४ रत्ती से २ माशा ।

पाठा

नाम—(सं०) पाठा, पाठिका, अम्बष्ठा, अम्बष्ठकी, पापचे(वे)लिका, वरतिक्ता, बृहत्तिक्ता, वृकी, वृकदन्ती, रसा, अश्मसुता, अविद्धकर्णी, स्थपनी, एकष्ठीला, प्राचीना आदि; (हिं०) पाठी पाढ़; (बं०) आकनादि, निमुकालता; (म०) पहाड़वेल, वेल, पाढ़ली, पाढ़ा; (ते०) पाड़ा, पाड़चेट्टु; (उड़िया) पाकनविद्दि; (का०) पाड़ावलि; (मल०) पाड़क्किलं; (को०) पीट्रसिन, रानू टेड; (संथाल) तेजामोल; (ले०) सिजेम्पेलोस परीरा (Cissamplos pareira) ।

वि० विवरण—पाठा की छोटी और बड़ी २ जातियां होती हैं । बड़ी को

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

राजपाठा और छोटी को लघुपाठा कहते हैं। च० चि० अ० १८ में त्र्यूषणादिघृत में द्वे पाठे 'ऐसा उल्लेख है'। उसकी व्याख्या में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं कि 'द्वे पाठे' इत्यनेन स्वल्पपत्रां द्वितीयां पाठां, ('पूज्य यादवजी'।)

वनस्पतिविशारदों के मतानुसार (Cissampalos pareira सिजेम्पेलोस परीरा) को लघुपाठा और (Stephania hernandifolia स्टेफानिया हरनेन्डीफोलिया) को लघुपाठा कहा जा सकता है। कोचविहार की तरफ इसके मूल का व्यवहार चावलीरान् (Rice peer) नामक मादक पेय बनाने में अन्य वनस्पतियों के साथ किण्वीकरण के लिए किया जाता है। इसीलिए इसे 'रानूरेड (चावलीरान् बनाने में प्रयुक्त रेडमूल) कहते हैं। पथरीले प्रदेशों में होने के कारण इसे 'अश्मसुता' कहा गया है। पाठा के 'अविद्धकर्णी' नाम को लेकर तथा डल्हणोक्त 'जीवन्ती सदृशपत्रा' इत्यादि पाठों को लेकर अनेक लेखकों ने तथा वंग भाषा के 'वनौषधिदर्पण' नामक ग्रन्थ में अनेक विचार प्रदर्शित किए गये हैं। पाठा के सम्बन्ध में प्रायः सर्वसम्मत मत को ध्यान में रखकर व्यवहारोक्त पाठा का ही वर्णन किया गया है।

परिचय—पथरीले मैदानों में पाठा की छोटी प्ररोहिणी लता लघु वृक्षों तथा छोटी छोटी झाड़ियों पर आश्रित मिलती है। मूलस्तम्भ बहुवर्षायु, शाखायें मृदुश्वेताभ, रोमश, पत्र हृदयाकार कभी कभी गोलाकार एवं वृक्काकार, १॥ से ४ इंच लम्बी पत्रनाल पीठ की ओर जुड़ा हुआ। दोनों पृष्ठ प्रथम मृदुरोमश बाद में चिक्कण प्रतीत होते हैं। स्त्री एवं पुरुष पुष्प पृथक्-पृथक्; श्वेताभ फल, नारङ्गीवर्ण मटर के समान।

राजपाठा से इसमें स्पष्ट भेद होता है। "दोनों की पुष्पमंजरियां भिन्न प्रकार की होती हैं। पाठा में बाह्यकोश के दल ४ (पुंपुष्प) और २ (स्त्रीपुष्प) और इससे बाह्यकोश के दल ६–१० और आभ्यन्तर दल ३–५ (पुंपुष्प) अथवा दोनों चक्रों में ३–५ दल (स्त्रीपुष्प) होते हैं। पाठा की अपेक्षा इसमें पत्ती प्रायः बड़ी (१·५–५·५″) और शिराजाल कम सघन होता है अतः इसे बड़ी पाठा कह सकते हैं।" (आ० श्री बलवन्तसिंहजी)

दोनों पाठा के मूल का ही व्यवहार औषध्यर्थ करना चाहिये। अभाव में लोग काण्ड और पञ्चाङ्ग लेते हैं।

सक्रियतत्त्व—पाठा में सेपेरीन (Sepperine), बर्बेरीन (Berberine)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और सिजेम्पलीन (Cissampeline) नामक तत्त्व मिलते हैं। राजपाठा में सेपोनिन (Saponin) पाया जाता है।

गुणकर्म—

पाठा रसे स्मृता तिक्ता पाके कट्वी भिषग्वरैः।
वल्या संग्राहिणी वृष्या कफपित्तविनाशिनी ॥ (स्व०)

पाठा रस में तिक्त, पाक में कटु, वल्य, वृष्य और कफपित्तनाशक होती है।

सांस्थानिक प्रभाव—यह साधारण दीपन-पाचन, (Stomachic) तथा तिक्तवल्य (Bittertonic) ओषधि है। आन्त्र की श्लैष्मिक कला पर यह बल्य एवं ग्राही प्रभाव करती है।

मूत्रवह-संस्थान—यह अश्मरी नाशक (Antilithic) होती है। मूत्र-प्रजनन संस्थान की श्लैष्मिक त्वचा पर इसका ग्राही (Astrin geut) एवं संशामक (Sedative) प्रभाव होता है।

इसका उत्सर्ग मूत्रेन्द्रिय द्वारा होता है और उत्सर्ग के समय वहां उत्तेजक प्रभाव करने के कारण मूत्र की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

पाठा के मुख्य गुण—तिक्त, पाचक, ग्राही, ज्वरनाशक एवं मूत्रल होते हैं।

आमयिक प्रयोग—

हन्ति शूलज्वरच्छर्दिकुष्ठातीसारहृद्रुजः।
दाहकण्डूविषश्वासकृमिगुल्मगरव्रणान् ॥ (भा० प्र०)

पाठा शूल, ज्वर, छर्दि, कुष्ठ, अतिसार, हृदय की पीड़ा, दाह, कण्डू, विष, श्वास, कृमि, गुल्म, जीर्णविष और व्रण में लाभ करती है।

ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, मूत्ररोग, मूत्राशय शोथ (Cystitis) तथा वृक्क शोथ (Nephritis), मूत्रकृच्छ्र, सान्द्र मेह तथा रक्तमूत्र आदि रोगों की चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले योगों में पाठा का सम्मिश्रण आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्रायः मिलता है। अतिसार में पाठा का प्रयोग बहुत किया जाता है। पाठा का शाक अतिसार में हितकारी होता है। पाठा को गाय के दही या भैंस के तक्र में पीसकर पिलाने का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। अतिसारनाशक अनेकों योगों में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पाठा एक घटक के रूप में प्रायः रहती है। उदाहरणार्थ कुटजाष्टक योग, कुटजादि कषाय, अमृतार्णव रस, लवङ्गद्रावक योग। अर्श की चिकित्सा में पाठा विभिन्न अनुपानों जैसे बिल्व, यमानी या शुण्ठी के साथ अथवा तक्र के साथ पीने से मस्से गिरते हैं और वायु का अनुलोमन होता है। प्रमेह में पाठा के कषाय या स्वरस का प्रयोग किया जाता है। सुखप्रसवार्थ पाठा की जड़ को योनि में रखने या नाभि-वस्ति, वराङ्ग आदि पर प्रलेप करने से लाभ होता है।

शीत कम्पयुक्त ज्वर में पाठा की जड़ को काली मिर्च के साथ पीसकर पिलाने से लाभ होता है। प्लीहोदर में तण्डुलोदक के साथ में देने से लाभ होता है। अर्धावभेदक में पाठामूल के नस्य से लाभ होता है।

मात्रा—मूल चूर्ण १ माशा से ३॥ माशा तक।

छिलहिण्ट

नाम—(सं०) वत्सादिनी, विक्रान्ता, सोमवल्ली, पातालगरुड़ी, तार्क्ष्यी, सौपर्णी, गारुड़ी, मेचिका, वारुणी, दीर्घकाण्डा, दृढ़काण्डा, महाबला, दीर्घवल्ली, दृढ़लता—यह चौदह नाम राजनिघण्टुकारने दिए हैं। इसके अतिरिक्त भावप्रकाशकार ने इसे **छिलहिण्ट** लिखा है; (हिं०) छिलहिण्ट, पतालगरुड़ी, जलजमनी, फरीद-बूटी; (गु०) वेवड़ी, पाताल गलोरी; (काठियावाड़) वर्धानोवेलो; (ते०) त्रिपुसतिगे; (ता०) कातुकंकोदि; (बं०) हएर चिलिन्दा, (को०) मुर्दपाढ़ल; (क०) दागड़ी, (ले०) Cocculus Villosus या Cocculus.

वि० विवरण—कड़ी लता होने के कारण दृढकाण्डा, विषनाशक होने के कारण गारुड़ी, और स्वरस जल में मिलाने से जल के गाढ़ा होने (जमने) के कारण इसे 'जलजमनी' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—मैदानों में यह वनस्पति भारतभर में पायी जाती है।

परिचय—इसके आरोही क्षुप या छोटी लता होती है। शाखा तथा पत्र मृदुरोमाच्छादित। इसके पत्र एक ही लता में कई प्रकार के पाये जाते हैं। निम्न पत्र लट्वाकार ३ इञ्च लम्बे २ इञ्च चौड़े दोनों किनारे समानान्तर; हृदयाकृति ऊपर की ओर क्रमशः छोटी होती जाती है। पुष्प एकलिङ्ग, सूक्ष्म एवं हरिताभ फल गुच्छों में आते हैं। तरुण अवस्था में हरे और पकने पर काले हो जाते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सक्रियतत्त्व—दो, परस्पर विरोधी, क्षारोद (Alkaloid) तथा एक अम्ल एवं कुछ राल सदृश द्रव्य मिलते हैं ।

गुणकर्म—

वत्सादिनी तु मधुरा पित्तदाहास्रदोषनुत् ।
वृष्या संतर्पणी रुच्या विषदोषविनाशिनी ॥ (रा० नि०)
छिलहिण्टः परं वृष्यः कफघ्नः पवनापहः । (भा० प्र०)

छिलहिण्ट मधुर, पित्त दाह एवं रक्तदोषनाशक, वृष्य संतर्पक रुचिवर्द्धक तथा विषदोषनाशक है । भावप्रकाश ने इसके अतिरिक्त इसे कफघ्न तथा वातदोषनाशक भी लिखा है ।

पातालगरुड़ी की जड़ मुख्यरूप से तिक्त तथा क्षारीय रसायन, मृदुरेचक, श्लैष्मिक कलाओं पर मार्दवजनक प्रभाव करनेवाली, उष्णवीर्य, मूत्रल, दाहप्रशमन शोथहर तथा स्तन्यजनन होती है । इस द्रव्य के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत् के मराठी टीकाकार संत एकनाथ ने अपनी टीका के एकादश स्कन्ध में लिखा है—

पिचुमन्दनित्यसेविल्यादिख त्यासी वाधीना कोणी विख ।
पाताल गरुड़ी चे-पाशिल्यासुख त्यासी देह दुःख बाधीना ॥

जिसप्रकार नित्य निम्ब सेवन करने वाले को विषबाधा नहीं होती है; उसी प्रकार पाताल गरुड़ी के नित्य सेवन करने वाले को शारीरिक कष्ट नहीं होते ।

सांस्थानिक प्रभाव—इसका प्रभाव विशेषरूप से मूत्र-प्रजनन संस्थान पर होता है । इससे कला मृदु होती तथा शोथ का शमन होता है। मूत्र की मात्रा प्रथम बढ़ती है और तदनु धीरे धीरे अङ्गों पर वल्य प्रभाव होता है । मूत्रमार्ग पर छिलहिण्ट का ग्राही प्रभाव होता है । इसमें विषनाशक गुण विशेष महत्त्व का होता है ।

आमयिक प्रयोग—इसका मुख्य प्रयोग प्रमेह में किया जाता है । इसके लिए इसका स्वरस देते हैं । रक्तशोधनार्थ भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसके लिए इसको सारसापरिला के साथ व्यवहृत करते हैं । इसके रस को जल में मिलाने से जल जम जाता है । उसी को त्वग् रोगों में देते हैं । शर्करा के साथ इसके स्वरस को सूजाक (पूयमेह) में देते हैं । एक छटांक मूल का क्वाथ पिप्पली और बकरी के दूध में मिलाकर दिन में २ से ३ वार आमवात एवं फिरङ्गजन्य व्याधियों में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

देते हैं। अन्य तिक्त द्रव्यों के साथ जलजमनी का क्वाथ शुण्ठी, शर्करा का प्रक्षेप देकर, पित्ताजीर्ण तथा ज्वरों में देते हैं।

मात्रा—स्वरस ६ मा० से १ तोला। मूल—१ से ३ माशा।

कलम्बा

नाम—(सं०) कपोतपदी, फिरङ्गतिक्त, कलम्बक; (हिं०) कलम्बा (म०) कलमकाचरी; (गु०) कलम्बो; (अं०) कलम्बा (Calumba Radix); (ले०) जेटिओराइजा पामेटा (Jateorhisa Palmata)।

वि० विवरण—महाराष्ट्र के वैद्य इस ओषधि का प्रयोग चिरात् करते आरहे हैं। भावप्रकाश आदि निघण्टुओं में कलम्बक इस नाम से अन्य द्रव्य भी लिये गये हैं। परन्तु यहां पर कलम्बा नामक आधुनिक प्रचलित तिक्त द्रव्य को ही समझना चाहिए।

परिचय—यह एक विदेशी ओषधि है। बाजार में इसके मूल के आड़े या वेड़े के कटे हुए टुकड़े मिलते हैं, जो प्रायः अफरीका से भारतवर्ष को भेजे जाते हैं। ये टुकड़े मोटे गोल, अण्डाकार, मध्य में नतोदर, अनियमित प्रकार के, व्यास में २ से ६ सेंटीमीटर तथा २ से १२ मिलिमिटर मोटे होते हैं।

सक्रियतत्त्व—इसमें रंगहीन कणमय सक्रिय तत्त्व पाया जाता है, जिसे कलम्बीन (Calumbin) कहते हैं। इसके अतिरिक्त ३ अन्य बर्बेरिन (Berberine) सदृश कणमय क्षारोद (अल्कलायड) पाये जाते हैं, जिनको कलम्बामीन (Columbamine), पामेटीन (Palmatine) तथा जेटिओराइजीन (Jateorhizine) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कलम्बिकाम्ल (Olumbicand), श्वेतसार और कुछ निर्यासोद (Mucilage) भी पाया जाता है।

गुणकर्म—

कलम्बा तु रसे तिक्ता लघ्वी दीपनपाचनी।
जीर्णज्वरस्य शमनी चोष्णवीर्या मता बुधैः॥ (स्व०)

कलम्बा रस में तिक्त, विपाक में कटु, वीर्य में उष्ण, दीपन-पाचन तथा लघु होती है। यह एक आधुनिकों द्वारा व्यवहृत विदेशी ओषधि है। ओषध्यर्थ इसके चूर्ण तथा निष्कर्ष (टिंक्चर) का प्रयोग किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसका प्रधान गुणकर्म इसकी तिक्तता के कारण होता है। इसी लिए इसको तिक्तबल्य (Bitter tonic) माना गया है। इसका प्रधान प्रभाव लालास्रावी नाड्यग्रों पर होता है और उसी के प्रत्याक्षिप्त प्रभाव के द्वारा आमाशय की ग्रंथियों पर भी उत्तेजक प्रभाव होता तथा आमाशयिक रस के स्राव में वृद्धि होती है। इसी प्रभाव के कारण यह दीपन-पाचन गुण भी करता है। यद्यपि आमाशयिक किण्वों (Ferments) में वृद्धि नहीं होती तथापि अग्न्याशयिक रस के स्राव में वृद्धि होती है। सुगन्धित द्रव्यों के साथ सेवन करने से इसकी क्रियाशीलता बढ़ती है। ध्यान रहे कि निरन्तर अधिक समय तक इसका सेवन करने से आमाशय की श्लैष्मिक कला पर क्षोभक प्रभाव होने के कारण प्रदाह उत्पन्न होकर पाचन क्रिया में विकृति भी उत्पन्न हो सकती है।

आमयिक प्रयोग—

आमाशयस्य शैथिल्ये क्षुन्नाशे च विशेषतः।
रोगादिजन्यदौर्बल्ये योज्यं वैद्यैः कलम्बकम् ॥
शोथे शूले च छर्द्यां च व्रणाद्यामाशयाश्रये।
दीर्घकालप्रयोगे हि न शस्तमिदमुच्यते ॥ (स्व०)

अन्य तिक्त बल्य द्रव्यों की भाँति इसका प्रयोग आमाशय शैथिल्यजन्य क्षुधानाश आदि विकारों में किया जाता है। रोगोत्तरकालिक दौर्बल्यकाल (Convalscentpriod) में इसका प्रयोग उपकारी होता है। आमाशयिक शूल, शोथ, सव्रणावस्था तथा वमन आदि में इसका प्रयोग वर्ज्य है। अन्य तिक्त द्रव्यों की अपेक्षा कलम्बा से क्षोभक प्रभाव कम होता है। इसमें **टैनिन** (Tannin) नहीं होता। अत एव इसका प्रयोग लौह के यौगिकों के साथ भी कर सकते हैं। गुदज कृमियों के लिए इसका प्रयोग गुदमार्ग से भी किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण—४ रत्ती से २॥ माशा। हिम—२ से ४ तो०।

मरमञ्जलू

नाम—(सं०) वल्ली हरिद्रा, (हि०) झाड़की हल्दी; (बम्बई) दारुहलद; (मद्रास) दारुहलद; (ते०) मानुपुसपु; (क०) दोड्डमहदरसिन; (मलयालम) मरमञ्जलू, (ता०) मरमञ्जलु; (मरा०) झाड़ी हलद, (ले०) कोसिनियम् फेनिस्ट्रेटम् (Coscinium Fenestratum)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वि० विवरण—इस द्रव्य का व्यवहार मालावारी दारुहरिद्रा के नाम से दारुहरिद्रा के स्थान पर दक्षिण में चलता है। कलम्बा के साथ ही इसको मिलाकर बेचा जाता है। भावप्रकाशकार ने पीतचन्दन के वर्णन में 'कलम्बक इति लोके' कहा है। वह अशुद्ध प्रतीत होता है। यही वृक्ष कलम्बा के प्रतिनिधि रूप में वर्ता जाने के कारण कलम्बक है। पीत होने के कारण ऐसा भ्रम हो गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

उत्पत्तिस्थान—भारत के दक्षिणी प्रदेश में मालावार के पर्वतो पर यह लता पाई जाती है। सिंहलद्वीप में भी यह पाई जाती है।

परिचय—इसका काण्ड कोमल काष्ठमय १ से ४ इंच मोटा होता है। छाल कार्क के रंग की होती है। काष्ठ का वर्ण हरितपीत होता है। यद्यपि काटने पर इसके अन्दर चक्राकृति नहीं प्रतीत होती, किन्तु मध्य भाग से परिसरीय भाग को जाती हुई स्पष्ट रेखायें प्रतीत होती हैं। इसका स्वाद कटु होता है और कोई गन्ध नहीं पाया जाता। इसका व्यवहार पीले रंग तथा ओषध्यर्थ दोनों कार्यों के लिए होता है।

असली दारुहल्दी से भेद—इसका तना दारुहल्दी की अपेक्षा कम गोल होता है। साथ ही इसकी पहिचान रंग तथा कठोरता से भी करनी चाहिए। वास्तविक दारुहल्दी अधिक कठोर, काष्ठमय तथा अधिक पीत होती है।

कलम्बा से भेद—कलम्बा मूल होता है और यह काष्ठ होता है। इसके अतिरिक्त मरमञ्जलू का रंग कलम्बा की अपेक्षा गाढ़ा पीत होता है मरमञ्जलू कलम्बा की अपेक्षा अति कठोर और काष्ठमय होता है। इसमें कलम्बा की भाँति पिष्टमय द्रव्य नहीं होता।

सक्रियतत्त्व—मरमञ्जलू में बरबेरीन (Berbenie) तथा सेपोनिन (Saponin) नामक सत्त्व पाये जाते हैं।

गुणकर्म—

> उक्ता वल्लिहरिद्रा तु कलम्बकसमा बुधैः।
> दीपनी पाचनी रुच्या वल्या कट्वी रसे स्मृता॥ (स्व०)

मरमञ्जलू के गुणकर्म कलम्बा के समान होते हैं। विशेषतः यह दीपन-पाचन, रुचिवर्धक, बल्य और स्वाद में कटु होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आमयिक प्रयोग—मरमञ्जलू को कलम्बा के स्थान में वर्तते हैं। मधुमेह तथा अनार्तव में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसके फाण्ट में कपड़ा भिगोकर शिर पर रखते हैं। इससे शिरःशूल शान्त होता है। विषमज्वर, दौर्बल्य तथा अजीर्ण एवं पाचनविकार में यह उपयोगी होता है।

काकमारी

नाम—(सं०) काकमारी, काकघ्नी; (गु०) काकफल; (क० ते० वं०) काकमारी; (ता०) काककुलि; (मालवार), मित्रजु, (कोंकम) गरुड़फल; (पं०) नेत्रमल; हयुवेर; (ले०) अनामिर्टा कॉक्युलस (Anamirta Cocculus)।

उत्पत्तिस्थान—भारत के प्रत्येक प्रान्त में पाई जाती है।

परिचय—गुडूचीकुल में काकमारी ही एक विषाक्त वनस्पति है। इसकी बेल होती है, जो ऊपर चढ़ने वाली होती है। इसकी छाल खुरदरी कार्कवत्, और पत्र हृदयाकृति नोकदार, पत्रनाल लम्बा, पुष्प हरित, गिलोय के सदृश गुच्छों में आते हैं। फल भी छोटी द्राक्षा या अंगूर की भांति अण्डाकार जामुनी रंग के गुच्छों में ही पाये जाते हैं। शुष्कफल काली मिर्च के समान काले होते हैं। फल स्वाद में अत्यंत कटु तथा गन्ध बिगड़े हुए तैल के समान होती है। औषध्यर्थ फल का उपयोग किया जाता है।

सक्रियतत्त्व—काकमारी के फल के बीजों में एक विषाक्त प्रभाव युक्त मधुमेयसत्त्व पाया जाता है, जिसे पिक्रोटॉक्सिन (Picrotoxin) या काक्युलिन (Cocculin) कहते हैं।

गुणकर्म—

काकमारी मता त्वच्या कृमिघ्नी दीपनी तथा।
श्लेष्मघ्नी शोषणी चैव सविषा प्रोच्यते बुधैः॥ (स्व०)

काकमारी विषैली, कृमिघ्न, त्वग्दोषहर है। अल्पमात्रा में प्रयुक्त होने से क्षुधावृद्धि होती है, अन्न का परिपाक ठीक होता तथा स्वेदावरोधक प्रभाव करती है। मात्रातियोग से आमाशय में पीड़ा होती है तथा हृल्लास, वमन एवं आक्षेप उत्पन्न होते हैं। रोगी प्रलाप करता तथा मूर्च्छित होकर संज्ञारहित हो जाता है। आधुनिक विचारानुसार यह केन्द्रिक नाड़ीसंस्थान (Cantral Nervous

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

System) पर उत्तेजक प्रभाव करती है। विशेष कर सुषुम्नाशीर्ष (Medulla) गत केन्द्र उत्तेजित होते हैं। जिसके परिणामस्वरूप श्वसन पर उत्तेजक प्रभाव पड़ता, रक्तभार में वृद्धि होती तथा नाड़ी की गति किंचित् मन्द होती है। इसके अतिरिक्त यह वारबिट्युरेट्स (Barbiturates) श्रेणि के द्रव्यों की प्रयोगजन्य विषाक्तता के प्रत्यनीक प्रभाव कर उसका निवारण करती है।

आमयिक प्रयोग—

यक्ष्मिणां स्वेदरोधाय काकमारी फलं मतम्।
नारुकस्य च नाशाय लेपो लाभकरस्तथा॥ (स्व०)

स्वेदावरोधक प्रभाव करने के कारण काकमारी का प्रयोग राजयक्ष्मा के अत्यधिक प्रस्वेदावरोध के लिये किया जाता है। इस कार्य के लिये इसके साथ यशद भस्म का प्रयोग भी करते हैं।

त्वच्य होने के कारण कृमिजन्य त्वग्रोग तथा शारीरिक फुन्सियों पर काकमारी का मलहर प्रयुक्त होता है। मलहर तैयार करने के लिये काकमारी चूर्ण २० रत्ती तथा घी ४ तोला लेते हैं। ध्यान रहे कि इस मलहर का प्रयोग व्रण पर नहीं करना चाहिए अन्यथा इसका शोषण होकर विषाक्तता होने की आशंका रहती है।

यह एक उत्तम कृमिघ्न द्रव्य है। विशेषतः इसका प्रयोग नारू नामक कृमि को मारने के लिए किया जाता है। एतदर्थ इसका स्थानिक प्रलेप किया जाता है।

पाश्चात्यचिकित्सकों द्वारा सुषुम्नाशीर्ष पर उत्तेजक प्रभाव करने के कारण इसका प्रयोग प्रमीलक द्रव्य विषाक्तता (Narcotic poisoning) में श्वसन को उत्तेजित करने के लिये किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

N. O. Berberideae (दार्वीकुल)

दारुहरिद्रा

नाम—(सं०) दारुहरिद्रा, काष्ठरजनी, दारुनिशा, दार्वी, कटंकटेरी, पर्जन्या, पीतदारु, पचम्पचा, हेमवर्णवती, हेमकान्ति, पीतद्रु (हिं०) दारुहल्दी; (बं०) दारुहरिद्रा; (म०) दारुहलद; (गु०) दारुहलदर; (अ०) दारहल्द; (फा०) दारचोबा; (ने०) चिन्नाकश्मल, (गढ़वाल) किंगोरा। (ले०) बर्बेरिस अरिस्टाटा (Berberis Aristata)।

वि० विवरण—दारुहल्दी के फल को 'झरिष्क' कहते हैं। यूनानी योग 'सफूफ झरिष्क' का यह नामकरण इसी उपादान के नाम पर पड़ा है।

दार्वीकुल में लगभग १३-१४ प्रकार की वनस्पतियाँ, जो स्वरूप में प्रायः समान एवं कंटकित होती हैं, हिमालयीय प्रदेशों में पाई जाती हैं। इनमें कई एक वनस्पतियां प्रधानरूप से व्यवहृत होती हैं। पीतवर्ण का काष्ठ होने के कारण इसको 'दारुहरिद्रा' कहते हैं।

दक्षिण में **मरमञ्जलू** नामक एक वल्ली पायी जाती है। इसको भी दारुहरिद्रा या 'नकली दारुहरिद्रा' के नाम पर बेचते हैं। इस द्रव्य का वर्णन पीछे किया जा चुका है। दक्षिण में यद्यपि मरमञ्जलू को ही दारुहरिद्रा कहने लगे हैं, किन्तु वास्तव में यह 'नकली दारुहरिद्रा' होती है। असली और नकली 'दारुहरिद्रा' की पहिचान का भी वर्णन मरमञ्जलू (गुडूची कुल) के वर्णन के समय किया जा चुका है।

दारुहरिद्रा की जातियों के स्थानिक नामों पर विश्वास नहीं किया जा सकता; क्योंकि एक जाति को दूसरी से भिन्न करना कठिन होता है।

उत्पत्तिस्थान—(१) **बर्बेरिस अरिस्टाटा** (Berberis Aristata)—मुख्य दारुहल्दी यही है। यह हिमालय प्रदेश में ६ से ८ हजार फुट की ऊंचाई पर पाई जाती है। इसे ही स्थानिक लोग 'चित्राकाश्मल' कहते हैं। पहाड़ी इसके रंग का व्यवहार करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(२) बर्बेरिस एशियाटिका (Berberis Asiatica)—इसका स्थानिक नाम 'किलमोरा' या 'किंगोरा' है। इसे नेपाल में 'किलमोरा' और 'चित्रा' कहते हैं। यह हिमालय की सूखी घाटियों में ३००० से ७५०० फीट की ऊंचाई के प्रदेशों में पाई जाती है। इसके अतिरिक्त भूटान, गढ़वाल तथा विहार में पारसनाथ पर्वत पर होती है। इसमें प्रायः बर्बेरिस अरिस्टाटा के समान ही सक्रियतत्त्व होते हैं।

(३) बर्बेरिस लिसियम (Berberis Lycium)—इसका स्थानिक नाम 'काशमले चतरोई' है। यह पश्चिमी हिमालय के शुष्क एवं उष्ण प्रदेश में २ हजार से ९ हजार फीट की ऊंचाई पर गढ़वाल में हजारा तक प्राप्त होती है।

(४) बर्बेरिस चित्रिया (Berberis Chitria)—यह भी पहाड़ों में 'काश्मोई' और 'किंगोरा' नाम से प्रसिद्ध होती है। तथा ६ हजार से ९ हजार फीट की ऊंचाई पर पायी जाती है।

(५) बर्बेरिस कोनिएसिया (Berberis Coniacea)—इसे भी पहाड़ी 'काश्मल' कहते हैं। यह भी उत्तर पश्चिमी हिमालय में ८ हजार फुट की ऊंचाई तक पाई जाती है।

(६) बर्बेरिस नेपेलेन्सिस (Berberis Nepalensis)—नेपाल में इसे 'चैत्री' या 'मिल्किसी' कहते हैं। प्रायः यह हिमालय में रावी के पूर्व प्रदेशों खानिया तथा नागा पहाड़ियों एवं नीलगिरि की पहाड़ियों पर ५ हजार फीट की ऊंचाई पर पाई जाती है। इसका व्यवहार रंग के लिए पहाड़ियों द्वारा की जाती है।

(७) बर्बेरिस वल्गेरिस (Berberis Vulgaris)—इसे पञ्जाबी में 'झिरिष्क का शाल चचार' फारसी में 'वेवाना', अरबी में 'अम्बर वरीस' कहते हैं। नेपाल से लेकर पश्चिमी हिमालय के छायादार जंगलों में यह ८ हजार फीट की ऊंचाई पर पाया जाता है। पंजाब में इस पौधे का विभिन्न प्रकार से व्यवहार होता है।

परिचय—इसकी मुख्य जातियों को परस्पर पहिचानना कठिन होता है। प्रायः वैज्ञानिक लोग भी भ्रम से एक जाति के स्थान पर दूसरी जाति का व्यवहार कर लेते हैं। मुख्यरूप से प्रधान जातियों की पहिचान निम्न प्रकार से हो जाती

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है । प्रायः सभी वनस्पतियों की कांटेदार झाड़ियां ६-८ फुट ऊंची होती हैं । इनमें मूल से ही अनेकों शाखायें निकल आती हैं, जो सभी भूमि की ओर झुकी होती है । इस शाखासमूह को ही काण्ड समझना चाहिए । इनका बाह्य वल्कल पाण्डु-वर्ण का होता है । भीतरी काष्ठ का रङ्ग पीला होता है । इस पीत वर्ण के ही कारण इसे 'दारुहरिद्रा' कहते हैं । अन्यथा इसका क्षुप हरिद्रा से सर्वथा भिन्न होता है । दूसरे हरिद्रा कन्द (भूमिशायी काण्ड) है और दारुहरिद्रा काष्ठ है ।

इसके पत्र कठोर, किनारा सरल परन्तु कांटेदार तथा पुष्प पीतवर्ण के होते हैं । निम्न विशिष्ट लक्षणों को भी ध्यान में रखना चाहिए ।

बर्बेरिस अरिस्टाटा

पत्र चर्मवत् (मोटा मजबूत) ऊपर की ओर लट्वाकार (Ov-ovate) सूक्ष्म शिराओं की घनी बनावट से युक्त, सरल धारवाली या दूर-दूर पर तीक्ष्ण कांटों से युक्त । पुष्पमञ्जरी २ से ३ इञ्च लम्बी शाखारहित, फल नीले रजावृत । पौधे गुल्म (Shrubs) होते हैं । इनका काष्ठ हरिद्रावत् पीतवर्ण का होता है ।

बर्बेरिस एशियाटिका

सदा हरित गुल्म । पत्र चिक्कण, अखण्ड या कण्टकीय, दन्तुर धारदार तथा २ इञ्च लम्बे एक इञ्च चौड़े होते हैं । शाखाओं पर पांच तक शाखाओं सम्पन्न अथवा निःशाख कांटे होते हैं । और पीले पुष्प होते हैं । पुष्पों में बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों कोशों में ३-३ दलों में दो-दो चक्र रहते हैं । पुंकेशर ६ तथा स्त्रीकेशर होता है । फल, बीज, मांसल और बैंगनी या नीले रंग के होते हैं । यह कभी कभी खाये जाते हैं और मृदुरेचक होते हैं, जिसे युनानी में 'झरिष्क' कहते हैं ।

बर्बेरिस चित्रिया

इसकी शाखायें प्रायः गहरे रक्तवर्ण की होती हैं । फल लाल तथा रंगहीन, पत्र चर्मवत्, शिराजाल अस्पष्ट दोनों पृष्ठ किंचित् चमकीले, पुष्पमञ्जरियां सशाख होती हैं ।

बर्बेरिस लिसियम्

इसका क्षुप प्रायः छोटा और समूह बद्ध होकर उगता है, पत्र पतले एवं लम्बे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होते हैं। दारुहल्दी की उपर्युक्त जातियों का काष्ठ व्यवहार में आता है। युनानी चिकित्सक फल को भी व्यवहृत करते हैं।

दारुहरिद्रा का एक कल्प बनाया जाता है, जिसे 'रसाञ्जन' कहते हैं—

दार्वीक्वाथसमं क्षीरं पादं पक्त्वा यदा घनम्।
तदा रसाञ्जनं ख्यातं नेत्रयोः परमं हितम्॥ (भा० प्र०)

दारुहरिद्रा के क्वाथ में समान भाग दुग्ध मिलाकर पकाते हैं, जब चतुर्थांश शेष रहे और क्वाथ घन हो जाय, तब उसे (घनीभूत क्वाथ को) 'रसाञ्जन' कहते हैं। नेत्र रोगों के लिए यह बहुत हितकारी होता है। यद्यपि रसाञ्जन बनाने में शास्त्रज्ञों ने दुग्ध डालने का निर्देश किया है, तथापि आज कल पहाड़ी लोग जो रसाञ्जन बनाते हैं, उसमें दुग्ध नहीं डालते अथवा अत्यल्प डालते हैं। इसके बनाने की प्रक्रिया इस प्रकार है—

दार्वी के मूल और मोटे काण्डों को खण्डित करके १६ गुने जल में पकावें। चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर छान लें। पुनः उसे मन्द आंच पर पकाकर गाढ़ा कर लें।

आज कल रसाञ्जन बनाने वाले क्वाथ को जब वह गुड़वत् घन हो जाता है, तब उसे पत्तों के दोनों में भर देते हैं। शीतल होने पर यह जमकर दृढ़ हो जाता है। यही रसाञ्जन बाजारों में प्राप्त होता है।

यदि इस रसाञ्जन को चिकित्सार्थ प्रयुक्त करना हो तो, शुद्ध करके लेना चाहिए जिसकी प्रक्रिया यह है—

तोयेऽप्युष्णे परिक्षिप्य द्रवी कुर्याद्रसाञ्जनम्।
वाससा स्रावयित्वा तु शोषयेद्भानुरश्मिना॥
एवं विशोधितं सर्वकर्मसु परियोजयेत्।

रसाञ्जन को जल में घोल ले फिर वस्त्र से छान ले। पुनः धूप में सुखा ले। इस प्रकार से शुद्ध किए हुए रसाञ्जन में अपद्रव्य नहीं रहते और चिकित्सा में पूर्ण लाभप्रद होता है। अशुद्ध रसाञ्जन का प्रयोग हानिकारक होता है।

रसाञ्जन के नाम—(सं०) रसाञ्जन, तार्क्ष्य शैल, रसगर्भ, तार्क्ष्यज; (हिं०) रसौत (म०) रसाञ्जन (गु०) रसवन्ती।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वि० विवरण—कई निघण्टुकारों ने रसाञ्जन को धातुवर्ग में लिखा है; किन्तु रसाञ्जन वास्तव में वानस्पतिक द्रव्य है। यही मत ठीक है।

सक्रियतत्त्व—इसमें मुख्यरूप से एक अल्कलायड बर्बेरीन (Berberine) पाया जाता है। यह सत्त्व इसकी विभिन्न उपजातियों में विभिन्न मात्रा में होता है। दार्वीकुल के अतिरिक्त अन्य जातियों की वनस्पतियों में भी इसकी प्राप्ति होती है।

गुणकर्म—

दार्वी तिक्ता च कटुका लेखनीया च पाचनी।
पित्तश्लेष्महरी त्वच्या रूक्षा सोष्णा च ग्राहिणी ॥ (स्व०)

दार्वी रस में कटु और तिक्त, वीर्य में उष्ण तथा रूक्ष, लेखनीय, पाचन और ग्राही एवं पित्तश्लेष्मनाशक होती है।

रसाञ्जन—

रसाञ्जनं हिमं तिक्तं रक्तपित्तकफापहम्।
शोथघ्नं नेत्रदोषघ्नं व्रणशोधनरोपणम् ॥ (स्व०)

रसाञ्जन हिम, तिक्त, रक्तपित्तनाशक तथा कफहर होता है। इसके अतिरिक्त यह नेत्रदोषनाशक तथा व्रणशोधन और रोपण करने वाला है।

सांस्थानिक प्रभाव

बाह्य—दार्वी एवं रसौत बाह्य त्वचा पर संकोचक प्रभाव करता है। रसौत में पाये जाने वाले रञ्जकतत्त्व का विशेष प्रभाव नेत्र पर पड़ता है।

आभ्यन्तर—पाचकसंस्थान दार्वी उत्तम कटुपौष्टिक है। यह आमाशयान्त्र पर उत्तेजक प्रभाव करती तथा उत्तम दीपक-पाचक है। इसके अतिरिक्त, अल्पमात्रा में यह आन्त्र पर किंचिद् ग्राही प्रभाव करती है। जिससे श्लैष्मिक कला का संकोच होता है। किन्तु अत्यधिक मात्रा में सेवन करने से यह मृदुरेचक हो जाती है। दार्वीसत्त्व आमशयान्त्र की गति का भी उद्बोधक होता है।

रक्तवहसंस्थान—दार्वी के सक्रिय तत्त्व का शिरा में प्रवेश करने से आशयिक रक्तवाहिनियां (Splanchnic Vessels) विस्फारित होती हैं, जिनके परिणामस्वरूप रक्तभार कम हो जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त्वचा—त्वचा पर इसका विशेष कार्य होता है। इसके प्रयोग से स्वेदग्रंथियों की विनिमय क्रिया सुधरती है। जिसके परिणाम स्वरूप स्वेदजनन होता है। इस प्रकार यह एक उत्तम स्वेदल (Diaphoretic) औषधि है। इसका ज्वरहर प्रभाव भी होता है। इसके प्रयोग से विषमज्वर के जीवाणु परिसरीय रक्तपरिभ्रमण में उत्क्षिप्त होते हैं। इसका एक कार्य जीवाणु-उत्तेजक (Provocative agent) भी है।

श्वसनसंस्थान—दार्वीसत्त्व, शिराओं द्वारा शरीर में प्रविष्ट होने से कम मात्रा में तो श्वसन पर उत्तेजक प्रभाव करता है, किन्तु अधिक काल के सेवन से विशेषतः अधिक मात्रा में—श्वासकेन्द्र (Respiratory Centre) अवसादित (Depressed) होता है। मृत्यु श्वसन-भेद (Failure of respiration) से ही होती है। श्वसन बन्द हो जाने पर भी कुछ काल तक हृदय कार्य करता रहता है।

मूत्र-प्रजननसंस्थान—गर्भाशय पर भी यह ग्राही प्रभाव करता है, जिससे गर्भाशय को बल मिलता तथा प्रदर की अवस्थाओं में लाभ होता है। दारुहरिद्रासत्त्व ८०००० में १ के अनुपात से भी लीशमनिया ट्रॉपिका (Leishmania tropica) जीवाणु के लिए घातक होता है। इसीलिए इसका प्रयोग, उक्त जीवाणु के उपसर्ग से होनेवाले (Oriental sore) नामक व्रण में बहुत उपयोगी होता है।

निस्सरण—इसका निस्सरण प्रायः मूत्र के साथ होता है।

आमयिक प्रयोग—

> अर्शोघ्नी चाथ कंण्डूघ्नी दार्वी कुष्ठप्रणाशिनी।
> योनिदोषहरी सम्यक् प्रदरेषु सुपूजिता॥
> ज्वराणान्नाशिनी मेहकृमिघ्नी व्रणरोपिणी।
> कर्णास्यनेत्र दोषघ्नी स्तन्यसंशोधिनी मता॥ (स्व०)

दार्वी कण्डूकुष्ठादि त्वचा के रोगों को नष्ट करनेवाली, अर्शनाशक, योनिदोषहर, प्रदरशामक, विषनाशक, ज्वरहर तथा प्रमेह-कृमि दोष नाशक, व्रणरोपिणी एवं कर्ण मुख, नेत्र रोगो में लाभ करने वाली एवं स्तन्यसंशोधिनी होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बाह्यप्रयोग—दार्वी का बाह्य प्रयोग रसाञ्जन के रूप में नेत्राभिष्यंद (Conjunctivitis) में किया जाता है। इसे जल में घोलकर नेत्र के बाहर गरम गरम लेप करते हैं। इसके साथ अहिफेन तथा फिटकरी मिला देने से इसकी क्रियाशीलता और भी बढ़ जाती है। इससे नेत्र की लालिमा दूर होती है तथा पीड़ा का शमन होता है। एतदर्थ आधी छटांक गुलाबजल अथवा साधारण विस्रुत जल में, २ रत्ती रसाञ्जन तथा २ रत्ती फिटकरी मिलाकर इसी विलयन का प्रयोग आश्च्योतनार्थ किया जाता है।

दार्वीक्वाथ का प्रयोग व्रणों के प्रक्षालनार्थ एवं इसके कल्क का प्रयोग व्रणों पर लेपनार्थ किया जाता है। इससे व्रण की शुद्धि होकर रोपण में सहायता मिलती है। चिरकालज मन्दव्रणों (Indolent ulcers) में इसका प्रयोग बहुत उपयोगी होता है। शोथ पर इसके कल्क का प्रलेप करने से उसका शमन होता है।

पुष्यनक्षत्र में कूष्माण्डस्वरस के साथ दार्वी को महीन पीसकर नेत्राञ्जन करने से ग्रह दोष शान्त होते हैं। सामान्यविषों में प्रलेपार्थ भी दार्वी का प्रयोग होता है।

कर्णस्राव में इसका द्रव कर्णविन्दु (Ear drop) के रूप में प्रयुक्त होता है।

आन्तरिक प्रयोग—पाचन विकार में दार्वी का प्रयोग अग्निदीपन के लिये किया जाता है। अर्श में इसका प्रयोग बहुत उपयोगी होता है, क्योंकि ग्राही होने के कारण एक तो यह रक्तस्राव को रोकती है, दूसरे मृदुरेचन होने के कारण तथा यकृत की क्रिया में सुधार करने के कारण अर्शशमन में सहायता करती है। एतदर्थ इसके साथ अन्य उपयुक्त ओषधियाँ भी मिला सकते हैं। **अर्शोघ्नीवटी** नामक योग इसी प्रकार का है—

शुद्धरसाञ्जन ६ भाग, निबौली (नीम के फल की मींगी) २ तो०, बकायन के फल की मींगी २ तो०, खूनखराबा (दमऊल् अख़्वैन) २ तो०, तृणकान्त (कहरवा) पिष्टी १ भाग।

इस योग में पहिले निबौली तथा बकाइन की मींगी को खूब महीन पीसते हैं, फिर अन्य द्रव्य मिलाकर घोंटते हैं। यदि इसमें मूलीरस की भावना दी जाय तो और भी अच्छा है। सबको परस्पर मिलाकर आधा-आधा माशे की गोली बना लेते हैं। २-२ गोली की मात्रा में दिन में कई बार

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सेवन करने से, रक्तार्श तथा वातार्श (शुष्कार्श) दोनों में पर्याप्त लाभ होता है।

पाण्डु एवं कामला में इसको चावल के पानी से देने से लाभ होता है। पाचन क्रिया एवं यकृत के कार्य में सुधार करने से दार्वी उक्त दोनों रोगों में लाभकारी होती है। आमाशय एवं ग्रहणीव्रण (Gastric and Duodenal ulcer) में दार्वी क्वाथ अथवा रसाञ्जन का प्रयोग लाभकारी होता है।

रसौंत का प्रयोग बच्चों में रेचनार्थ किया जाता है। इस कार्य के लिए इसके फलों का भी व्यवहार कर सकते हैं।

मूत्रप्रजननसंस्थान—पिष्टमेह में दारुहरिद्राक्वाथ अथवा शहद के साथ इसके कल्क का प्रयोग विशेष लाभकारी होता है। तिक्तबल्य होने के कारण परिपाक की क्रिया में सुधार होने से मूत्र की आविलता नष्ट होती है, मूत्र के साथ इसका उत्सर्ग होने से यह मूत्रमार्ग पर स्थानिक प्रभाव भी करती है।

उत्पादकसंस्थान पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है और रक्त तथा श्वेत दोनों प्रकार के प्रदर में यह लाभकारी होती है। श्वेतप्रदर में दार्वी घन को मधु के साथ अथवा क्वाथ को भी मधु मिलाकर तण्डुलाम्बु के साथ प्रयुक्त करना चाहिए। इस कार्य के लिए प्रसिद्ध **दार्व्यादिक्वाथ** भी प्रयुक्त कर सकते हैं।

दार्वी रसाञ्जनं मुस्तं भल्लातः श्रीफलं वृषः।
कैरातञ्च पिबेदेषां क्वाथं शीतं समाक्षिकम्।
जयेत् सशूलं प्रदरं पीतश्वेतासितारुणम्॥ (शा० सं०)

दार्वी, रसाञ्जन, मुस्ता, शुद्धभल्लातक, विल्व, अडूसा तथा चिरायता इन ओषधियों को सम्मिलित २ तो० लेकर १ पाव जल में क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर शीतल होने पर मधु मिलाकर सेवन करावें। कुछ काल तक इसका सेवन कराने से सशूल प्रदर, चाहे वह पीत, श्वेत, काला अथवा लाल हो, नष्ट होता है। गर्भाशय पर संकोचक प्रभाव करने के कारण दार्वी और रसाञ्जन इस योग के मुख्य उपादान हैं। सभी आचार्यों ने इस अनुभूत योग को प्रदर में अव्यर्थ माना है। दार्वी प्रदर की एक उत्तम ओषधि है। इसका बाह्य प्रयोग भी गर्भाशय तथा वराङ्ग के धोने के लिए उत्तरवस्ति के रूप में होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यदि प्रदर के निदान पर ध्यान दें, तो दार्वी किस प्रकार उक्त व्याधि में उपकार करती है, यह विषय स्पष्ट हो जाता है ।

विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद् गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च ।
यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च भाराभिघाताच्छयनाद्दिवा च ॥
(मा० नि०)

इस पद्य के भावको यदि आधुनिक ढंग से सोचें तोः—

विरुद्धमद्याध्यशन (Overindulgence in food and alcoholic drinks), अजीर्ण, गर्भप्रपात के द्वारा गर्भाशय में अपराके या गर्भ के किसी अंश का रहना, अतिमैथुन, यानसेवन (अधिक लम्बी यात्रा करना), मनोद्वेग आदि कारणों से तत्कालिक तथा चिरकालीन प्रभाव होता है। जिससे प्रजननाङ्गों में जीर्णस्वरूप का रक्तसंरम्भ बना रहता है। और इसी के परिणामस्वरूप प्रदर की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त विभिन्नरोगों-आन्त्रिकज्वर, मसूरिका, विषमज्वर आदि-से गर्भाशय विकार होकर प्रदर की उत्पत्ति होती है। दार्वी सत्व के वर्तमान अनुभव को देखते हुए, यह स्पष्ट है कि यह रक्तसंरम्भ को कम करता है। अतएव प्रदर की अवस्था में इससे लाभ होना निश्चित है। इसके अतिरिक्त यह रक्तस्कन्दन में सहायता करता तथा गर्भाशय की पेशियों पर बल्य प्रभाव करता है और इस प्रकार भी प्रदर की शान्ति में सहायता करता है। अतएव उक्त प्रभावों के कारण, दार्वी का प्रयोग श्वेत प्रदर (Leucorrhoea), रक्तप्रदर (Menorrhagia) तथा कष्टार्तव (Dysmenorrhoea) आदि व्याधियों में बहुत उपकारी होता है। उक्त दार्व्यादिक्वाथ में यदि भल्लातक नभी मिलाया जाय तो भी यह बहुत अंश तक लाभकारी होता है। भल्लातक एक तीक्ष्ण ओषधि है, उसके सम्मिलित करने में सावधानी भी रखनी चाहिए ।

त्वचा—स्वेदल होने के कारण इसका प्रयोग नाना त्वग्रोगों यथा कुष्ठादि में लाभकारी होता है। फिरंग, उपदंश, अपची तथा गलगण्ड आदि रोगों में भी यह उपकारी होती है। हस्तिदन्तमसी, रसाञ्जन तथा बकरी के दुग्ध का लेप इन्द्रलुप्त[1] गंजा (Baldness) में उपयोगी होता है ।

१—शिरः प्रलेपनं तेन केशसंवर्द्धनं परम् ।
हस्तिदन्तमसीं कृत्वा छागीदुग्धं रसाञ्जनम् ॥ (इन्द्रलुप्ते, शा० सं०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शिरीष और हरीतकी के साथ रसाञ्जन को शहद मिलाकर लेप करने से उपदंशरोग नष्ट होता है।

विषमज्वर—इसके विषमज्वरहर विशिष्ट प्रभाव के सम्बन्ध में डाक्टर चोपरा का मत है कि यह संदिग्ध है, किन्तु साथ ही वह निर्देश करते हैं—'There is still another use of berberine in malaria not as a curative agent, but as a diagnostic measure. It is said to liberate the Parasites into the circulation So that, whereas bloodfilms taken before the administration of berberine are negative, those taken ofter it are positive." Chopra.

दारुहारिद्रिक सत्व का विषमज्वर में रोगोपशम के अतिरिक्त निदान के लिए भी उपयोग होता है। ऐसा कहा जाता है कि इसके सेवन से जीवाणु रक्तसंवहन में आ जाते हैं, और इस प्रकार निदान में सहायता होती है। ऐसा देखा गया है, कि जहां इसके प्रयोग के पूर्व रक्त में जीवाणुओं की अनुपस्थिति रही है, वहां इसके सेवन के उपरान्त रक्त में जीवाणु मिले हैं। इसकी क्रियासरणि के विषय में डा० चोपरा साहब का कहना है कि सम्भवतः इसके (दारुहारिद्रिक सत्व के) प्रयोग से प्लीहागत राशि (Volume) एवं उसकी तालबद्ध संकोचों (Rhythmic contractions) में वृद्धि हो जाती है। इसी कारण विषमज्वर के जीवाणु रक्तसंवहन में आ जाते हैं। यथा—"Berberine has been shown to increase the volume of the spleen and to increase its rhythmic Contractions. It will, therefore expel malarial Parasites into Circulation" Chopra. ज्वर में इसके स्वेदल प्रभाव से भी लाभ होता है। एतदर्थ किंचित् रेचन कराकर २ माशा की मात्रा में रसाञ्जन दिन में ३ वार देते हैं। ओषधि देने के उपरान्त रोगी को कपड़ा उढ़ाकर सुला देना चाहिए। इससे प्रस्वेदजनन होकर ज्वर कम हो जाता है। तदनन्तर उष्णपेय—दुग्ध आदि पिलाना चाहिए।

---

१ रसाञ्जनं शिरीषेण पथ्ययाचसमन्वितम्। सक्षौद्रं लेपनं योज्यं उपदंशगदापहम्॥ (शा०सं०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्तन्यशोधन होने के कारण स्वतन्त्र रूपसे अथवा अन्य उपयुक्त द्रव्यों के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

मुख रोगों में गण्डूष तथा प्रलेप करने से बहुत उपकार होता है।

दारुहारिद्रिक सत्व का प्रयोग आजकल निम्न प्रकार से, पौर्वात्यव्रण (Oriental sore) या त्वचागतकालाजार (Cutaneous leishmaniasis) में करते हैं—

इसके (सल्फेट के) १ प्रतिशत विलयन का १–२ सी० सी० मात्रा का व्रण के चारों ओर हाइपोडर्मिक सूई (Hypodermic Syringe) के द्वारा आभरण (Infiltration) करते हैं। इस प्रकार एक ही स्थल पर पूरी ओषधि न प्रविष्टकर ३–४ स्थलों पर थोड़ा-थोड़ा इन्जेक्शन किया जाता है ताकि ओषधि समरूप से सर्वत्र फैल जाय। यह क्रिया सप्ताह में एकवार की जाती है। साथ ही व्रणबन्ध सामान्य रूप से करते रहना चाहिए। प्रायः ३ वार के सूचिकाभरण से ही अभीष्ट लाभ हो जाता है। किन्तु कभी कभी इससे अधिक वार भी इन्जेक्शन करना पड़ता है। यदि व्रणों की संख्या अधिक हो—विशेषतः जब ये आकार में बड़े हों—तो प्रायः एक दिन में २ तथा सप्ताह में २ वार करके ४ व्रणों से अधिक पर सूचिकाभरण नहीं करना चाहिए। (चोपरा)

आजकल अनेक कम्पनियां विभिन्न नामों से दारुहारिद्रिक सत्व को बेचती हैं।

क्षरिष्क—इसका प्रयोग पैत्तिक व्याधियां में किया जाता है। इससे तृष्णा तथा वमन की शान्ति होती है।

मात्रा रसाञ्जन—१–२ माशा।
दार्वीक्वाथ—१ छटांक।
चूर्ण—१ से ३ माशा।

गिरिपर्पट

नाम—(सं०) वक्रा, गिरिपर्पट, हंसपद, वनवृन्ताक, (हिं०) पाप्रा, वैशाखसेव, पाप्री, भवनवाकरा, बकर, चिम्याक निर्विष; (पंजावी पहाड़ी) वनवाक्री वनककड़ी, गुलकाक्रू (काश्मीर) वनवांगन, (गु०) वेणीवेल, (देववन)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रिखपित्ता (ले०) पोडोफिलम इमोडी (Podophyllum emodi)।

वि० विवरण—आधुनिक चिकित्सा में इस द्रव्य का विशेष व्यवहार किया जाता है। इसकी दूसरी जाति 'पोडोफिलम् पेल्टेटम् (Podophyllum peltatum (Mayapple or Mandrake) N.O Berberideae) का निर्यात अमेरिका से होता है। किन्तु विशेषज्ञों के निर्णयानुसार यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय पोडोफिलम् में सक्रियतत्वों* की मात्रा अधिक होती है। किन्तु, भारतवर्ष में इसका समुचित ढंग से संग्रह न होने के कारण, अमेरिका से ही यह द्रव्य आता है।

उत्पत्ति—हिमालय के ७००० फीट ऊंचे प्रदेशों के छायादार सघन जंगलों में इसकी उत्पत्ति होती है। प्रायः सीकम् से लेकर काश्मीर, शिमला, जौनसार गढ़वाल आदि स्थानों पर पाई जाती है।

परिचय—इसका क्षुद्र क्षुप होता है। जिसमें केवल २–३ पत्तियां—जो पत्र-नाल से पीठ पर जुड़ी होती हैं—पाई जाती हैं। पत्तियां ३–९ इञ्च लम्बी तथा ३ विच्छेदों युक्त होती हैं, जिनकी धार अनियमित रूप से कटी हुई एवं नोकीले दांतों से युक्त (Laciniate and Serrate) होती हैं।

पुष्पों का व्यास १ से १॥ इञ्च लम्बा होता है। फल अण्डाकार होता है।

---

* उपजाति	उत्पत्तिस्थान	प्रयोज्य भूमिकाण्ड (Rhzome) मात्रा	पोडोफाइलोटॉक्सिन की प्रतिशत मात्रा	राल(Resine)क प्रतिशत मात्री
पोडोफिलम् इमोडी	कुलु (Kulu) पञ्जाब	११·९२ ग्राम	२·८	९·५५
"		३२·४६ "	३·५	९·०
"	चम्बा (पञ्जाब)	९·८१ "	४·७	११·१२
पोडोफिलम् पेल्टेटम्	संयुक्तराष्ट्र असरीका (U.S.A.)	११·३५	०·७७	५·२
"	"	२८·५५	०·९	४·१७

(चोपरा)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चिकित्सार्थ इसका मूल व्यवहृत होता है। ये मूल टेढ़े-मेढ़े (Tortuous), एवं ग्रंथिल (Knotty) २ से ४ सेंटीमीटर लम्बे तथा १-२ सेंटीमीटर मोटे होते हैं। पुरोपश्चिम (Dorsiventrally) दिशा में यह चपटे होते हैं, जिसके ऊर्ध्वस्तर पर ३-४ प्याले के सदृश छोटे चिह्न पाये जाते हैं। निचली सतह पर कई एक जड़े लगी होती हैं या उनके चिह्न पाये जाते हैं। इसमें एक विशेष गंध होती तथा स्वाद में ये तिक्त (Bitter) एवं चरपरी (Acrid) होती हैं।

सक्रियतत्त्व—इसमें मुख्य रूप से २ रेचक तत्व—पोडोफिलोटॉक्सिन (Podophyllotoxin) तथा पोडोफिलोरेजिन (Podophylloresin) पाये जाते हैं। इसके चूर्ण का व्यवहार होता है जो हल्के बादामी रंग का होता है।

इसके अतिरिक्त आजकल इसका रेजिन जिसे पोडोफिलिन Podophyllin या वेजिटेबुल कैलोमल (Vegetable Calomel) कहते हैं, व्यवहृत होता है। यह पीताभ चूर्ण या भूराभ हरितवर्ण (Brownishgrey) के पिण्ड के रूप में होती है। प्रकाश एवं ताप से यह गहरे रंग की हो जाती है। स्वाद एवं गंध पोडोफिलम् की भांति।

गुणकर्म—

गिरिपर्पटकः तिक्तो याकृतपित्तविरेचनः।
पीतं द्रवं सरेत्किट्टं चान्त्रोद्वेष्टनकारकः॥ (स्व०)

तिक्त, कटु होने के कारण पोडोफिलम् के सेवन से लालास्राव तथा हृल्लास होता है। इसमें पाई जानेवाली रेजिन यकृदुद्रेचन में घुलनशील होती है। रेचन मात्रा में इसके प्रयोग से मरोड़ उत्पन्न होता है। १०-१२ घण्टे के अन्दर पतले दस्त होते हैं। इस प्रकार यह तीव्र तरल विरेचन (Powerful Hydragogue purgatvie) है। रेचन क्रिया में यह केलोमल की भांति है, अतएव इसे 'वेजिटेबुल केलोमल' कहते हैं। अशुद्ध राल के प्रयोग से मरोड़ अधिक होता है। तथा लवण का संयोग करने से इसका रेचक प्रभाव तीव्रतर होता है। यह याकृत पित्त विरेचक (Cholagogue purgative) है। किन्तु मलमें जो पित्त पाया जाता है, उसका कारण यह है, कि आन्त्र की पुरःसरणगति (Peristalsis) औषधि के प्रभाव से तीव्र हो जाती है, जिससे वहां पर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्थित पित्त का शोषण ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। अतएव वह पित्त मल के साथ बाहर उत्सर्गित होता है।

आमयिकप्रयोग। आभ्यन्तरिक—यकृदुत्तेजक तथा विरेचक होने के कारण, हृन्मन्दताजन्य मलविबन्ध में यह एक परमोपयोगी ओषधि है। इसके मरोड़जनक कुप्रभाव के लिए इसके साथ, हायोसायमस वेलाडोना तथा भांग (केनेविस इण्डिका) का भी योग किया जाता है। वैद्यों को शुण्ठी यमानी आदि का योग कर देना चाहिए। अन्य रेचक द्रव्य यथा मुसब्बर (Aloes), जलापा, इन्द्रायण तथा रेचन्दचीनी आदि के साथ प्रयुक्त करने से इसकी क्रिया और भी तीव्र तथा निश्चितरूपेण होती है। यकृत विकार जन्य अग्निमांद्य, मलविबन्ध, पित्तमयता आदि विकारों में इसका प्रयोग बहुत उपयुक्त होता है। स्थिर रूपसे मलविबन्ध वालों के लिए भी यह एक अत्यन्त उपयुक्त औषधि है। एतदर्थ इसकी मात्रा $\frac{१}{६}$ से $\frac{१}{४}$ ग्रेन पर्याप्त होती है। तीव्र विरेचन के लिए अपेक्षाकृत अधिक मात्रा प्रयुक्त करना चाहिए।

मात्रा—चूर्ण—१ से ५ रत्ती, राल—$\frac{१}{८}$ से $\frac{१}{२}$ रत्ती।

वि० विवरण—भारत वर्ष में पोडोफिलम् का प्रयोग चिरकाल से होता आ रहा है। जो इसके विभिन्न पर्य्यायों से प्रकट होता है। पहाड़ी लोगों की "रिखपित्त" संज्ञा उदाहरणार्थ उपस्थित की जा सकती है। वैद्यों को इसके चूर्ण का व्यवहार करना चाहिए।

N. O. Nymphaeaceae (कमल–कुल)

कमल

नाम—(सं०) पद्म, नलिन, अरविन्द, महोत्पल, सहस्रपत्र, कमल, कुशेशय, शतपत्र, पङ्केरुह, तामरस, सारस, सरसीरुह, विसप्रसून, राजीव, पुष्कर, अम्भोरुह, (हिं०) कमल, पुरइन, (बं०)–पद्म (म०, गु०) कमल, (क०) विलियातावरे, (तै०) तमारा, कालावा, (ता०) तामाराई अम्बल, (अरबी) कातिलुन्नइल (मधुमक्षिका नाशक), (अं०) लोटस (Lotus), (ले०) नेलम्बियम् स्पेसिओजम् (Nelumbium speciosum)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वि० विवरण—चरककार ने कमल की ६ जातियों का मूत्रविरजनीयगण में 'पद्मोत्पलनीलेन कुमुद सौगन्धिक शतपत्राख्याः षट् कमलभेदाः' इसप्रकार वर्णन किया है। टीकाकार चक्रपाणि ने "पद्मभेदाश्चत्वारः सौगन्धिकः शुन्धी" जलपकल्पतरुकार ने "अत्र पद्मनलिन पुण्डरीकशतपत्राणि चत्वारि पद्मविशेषाणि" ऐसा वर्णन किया है। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य ने कमल की ४ जातियों का उल्लेख किया है, और शेष 'उत्पल' और 'सौगन्धिक' को तत्समान पुष्प कुमुद की जातियां माना है। सुश्रुतकारने जलौकावचरणीय अध्याय में निम्न जलीय पुष्पों का वर्णन किया है—"पद्मोत्पलनलिन कुमुद सौगन्धिक कुवलय पुण्डरीक—शैवलकोथ जाता"। इसी प्रकरण से टीकाकार उल्हण ने कमल की उपर्युक्त जातियों के सम्बन्ध में निम्न-मत प्रगट किया है—

१—"पद्मम्—ईषच्छुक्लम्
२—उत्पलम्— ईषन्नीलम्
३—नलिनम्—ईषद्रक्तम्
४—कुमुदम्—'कुइया' इति लोके
५—सौगन्धिकम्–गर्दभपुष्पाभिधानमत्यन्तसुरभिचन्द्रोदयविकाशि
६—कुवलयम्—रक्तोत्पलम
७—पुण्डरीकम्—अतिश्वेतपद्मम्।

आगे उत्पलादिगण के वर्णन में, पुनः सुश्रुतकार लिखते हैं—"उत्पलरक्तोत्पल-कुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि"। इसकी टीका में डल्हण ने लिखा है—"उत्पलं, नीलोत्पलं-रक्तोत्पलं, लोहितोत्पलं-कुमुदं, श्वेतोत्पलं–सौगन्धिकं, नीलोत्पलाकारवर्णमुत्पलं सुगन्धि च, कुवलयमीषन्नीलधवलं, पुण्डरीकं श्वेतपद्मम्"। इस प्रकार आचार्यों के मत में एकरूपता प्रतीत नहीं होती है। उत्पल के भेदों के नाम के सम्बन्ध में अन्यत्र भी जहां वर्णन है, वहां भी ऐसी ही गड़बड़ी मिलती है। उदाहरण के लिए अनेक स्थानों पर डल्हण ने सौगन्धिक को "कुमुदभेदः" चि. अध्या. ४५ तथा "नीलोत्पलाकारवर्णम्—उत्पलसुगन्धि च" (सूत्रस्थान अध्याय ६८) इस प्रकार उल्लेख किया है। इससे सौगन्धिक का आकार एवं वर्णन स्पष्ट हो जाता है।

अमरकोषकार ने सौगन्धिक को कल्हार लिखा है। कल्हार की टीका में भानु जी दीक्षित ने 'शुक्लकल्हारस्य मुण्डी इति ख्यातस्य—इत्यन्ये' लिखा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गोरख मुण्डी को गुजरात में कल्हार कहा भी जाता है। सौगन्धिक को नील कमल कई निघण्टुकारों ने भी कहा है। किन्तु इसके पर्याय रूप कल्हार को रक्तोत्पल भी कहा गया है।

इसी प्रकार 'नलिन' के सम्बन्ध में भी है। सुश्रुत के टीकाकार के मत में यह 'ईषद्रक्तपद्म' है, किन्तु चरक के टीकाकारों ने 'श्वेतमष्टदलकमलम्' ऐसा कहा है। इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से ज्ञात होता है, कि 'कमल' के बारे में शास्त्रकारों में वहुत मतभेद है।

किन्तु धन्वतरि एवं भावप्रकाशनिघण्टुकारों के मत का विशेष अध्ययन करने से कमल के निम्न मुख्य भेद प्रतीत होते हैं।

(१) श्वेतपद्म—इसे धन्वन्तरिनिघण्टुकार—

पुण्डरीकं श्वेतपद्मं सिताब्जं श्वेतवारिजम्।
हरिनेत्रं शरत्पद्मं शारदं शम्भुवल्लभम् ॥

और भावप्रकाशकार—

'विशेषतः सितं पद्मपुण्डरीकमिति स्मृतम्'। कहते हैं।

(२) रक्तपद्म—इसे धन्वन्तरिनिघण्टुकार

'रक्तपद्मं तु नलिनं पुष्करं कमलं नलम्।'
राजीवं स्यात्कोकनदं शतपत्रं सरोरुहम्। और भावप्रकाशकार 'रक्तं कोकनदं ज्ञेयं' कहते हैं।

(३) नीलकमल—इसे धन्वन्तरिनिघण्टुकार—

सौगन्धिकं नीलपद्मं भद्रं कुवलयं कुजम्।
इन्दीवरं तामरसं कुवलं कुड्मलं मतम् ॥

कहते हैं, और भावप्रकाश में 'नीलमिन्दीवरं स्मृतम्' ऐसा कहा है—

उक्त दोनों निघण्टुओं की तुलनात्मक समीक्षा से यह प्रकट होता है, कि धन्वन्तरिनिघण्टुकार तथा भावप्रकाशकार के समय में ३ प्रकार के कमल विशेषरूप से व्यवहृत होते थे। इन दोनों शास्त्रकारों ने 'कुमुद' का पृथक् वर्णन किया है और उसकी कई जातियाँ भी बतलाई हैं। इसका वर्णन आगे पृथक रूप से किया जायगा। धन्वन्तरिनिघण्टु में 'क्षुद्रोत्पल' तथा 'पद्मिनी' का वर्णन पृथक् रूप से पाया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आधुनिक काल में कमल से 'नेलम्बियम् स्पेसिओजम् Nelumbium speciosum' नामक जलीय वनस्पति का ग्रहण किया जाना चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—कमल गम्भीर और स्थिर जलाशयों में, जहां पङ्क की अधिकता होती है, उत्पन्न होता है। भारत में सर्वत्र—और विशेषतः आनूपदेशों में बहुत उत्पन्न होता है। कमलपत्र का व्यास प्रायः २ से ३ फुट तक हो सकता है। ये जलस्तर के ऊपर तैरा करते हैं। पत्र का ऊपरी स्तर चिक्कण और हरित तथा अधः पृष्ठ श्वेताभ होता है। कमलपत्र पर जलविन्दु नहीं ठहरते।

कमलपुष्प बहुत ही सुन्दर, गुलाब तुल्य रक्ताभ या श्वेत तथा मधुरगन्धयुक्त होता है। भारतीय संस्कृति में कमल को लक्ष्मी का वासस्थान माना गया है। इसके पुष्प की उपमा सुन्दर मुख, कोमल कर अथवा चरणों से की जाती है। मृणाल की उपमा भुजाओं से देते हैं। इसके पुष्पदण्ड (Peduncle) तथा पत्र दण्ड (Petiole) २–४ हाथ लम्वे, कटीले, लम्बाई में जल की गहराई के अनुसार कम या अधिक होते हैं। इसी जलपूर्ण नलाकार भाग को 'मृणाल' कहा जाता है। इसको तोड़ने से तन्तु निकलते हैं और इसमें छिद्र या लम्बी नलिकायें पाई जाती हैं। दलपत्र (Petals) की संख्या बहुत अधिक होती है। जोकि २०–२५ या इससे भी अधिक पाई जा सकती है। इसी लिए इसके 'शतपत्र', 'सहस्रपत्र' आदि पर्याय विद्वानों ने दिये हैं। लिङ्गसूत्र (Stamens) भी बहुत होते हैं। कमल में स्त्रीकेशर अलग अलग पाये जाते हैं और कर्णिका में जहां तहां धंसे होते हैं। इसके सभी वाह्य दल कर्णिका के अधःस्थित होते हैं, अर्थात् नीचे से निकलते हैं। कमलनाल (पुष्पनाल या पत्रनाल) दोनों जल के ऊपर निकले रहते हैं। गर्भाशय (Ovary) स्पञ्जतुल्य और शङ्काकार (Conical) कोष होता है। इसी पद्मकोष या कर्णिका में अनेकबीज (कमलगट्टे) होते हैं। कोष को पञ्जाबी भाषा में 'कलाली कोल' या 'चेपणी' कहते हैं। कमलगट्टे को 'कौल डोडे' कहते हैं। कमल मूल (भिस, या मुरार) जलाशय की तली में स्थित पंक में फैली रहती है। ग्रीष्मकाल में जब जल सूख जाता है तो इसी को खोदकर शाक वनाकर खाते हैं। कमलपुष्प प्रायः ग्रीष्म ऋतु में मिलते हैं। कमलगट्टा युक्त कर्णिका भी बाजार में विकती है। कमल के विभिन्न अवयवों के शास्त्रकारों ने विशिष्ट नाम लिखे हैं—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संवर्तिका नवदलं बीजकोशस्तु कर्णिका ।
किञ्जल्कः केसरः प्रोक्तो मकरन्दो रसः स्मृतः ॥
पद्मनालं मृणालं स्यात् तथा विसमिति स्मृतम् ।
मूलनालदलोत्फुल्लफलैः समुदितापुनः ॥
पद्मिनी प्रोच्यते प्राज्ञैर्विसिन्यादिश्च सा स्मृता ।
पद्मबीजं तु पद्माक्षं गालोड्य पद्मकर्कटी ॥

(भा० प्र० नि०)

पद्मादि मूलं शालूकं करहाटः कुरण्टकम् ।
पद्ममूलं जलालूकं शालीनं शकलं शिफा ॥ (कै० देवनि०)

पद्म के नये पत्तों को **संवर्तिका**, बीजकोश को **कर्णिका**, किञ्जल्क को **केशर** और मकरन्द (पराग) को **रस** कहते हैं। पद्मनाल को **मृणाल** अथवा **बिस** कहते हैं। मूलनालपत्र से युक्त उत्फुल्लफल युक्त कमल को **पद्मिनी** या **विसनी** कहते हैं (ध्यान रहे कि धन्वन्तरिनिघण्टुकार की पद्मिनी इससे भिन्न है। उन्होंने कुमुद की एक जाति को पद्मिनी लिखा है)। पद्मबीजों को **पद्माक्ष गालोड्य** या **पद्मकर्कटी** कहते हैं। पद्मादि के मूलको शालूक कहते हैं। इसी को करहाट, कुरण्टक, पद्ममूल, जलालूक, शालीन, शकल और शिफा भी कहते हैं। कमल के उक्त सभी अवयव व्यवहृत होते हैं।

सक्रियतत्त्व—इसके कन्द (Rhizome) तथा बीजों में रेजिन, ग्लूकोज (Glucose), मेटार्बिन (Metarbin), टैनिन (Tannin), वसा (Fat) तथा एक अल्कलायड नेलम्बीन (Nelumbine) पाया जाता है।

गुणकर्म—

कमलं शीतलं वर्ण्यं मधुरं कफपित्तजित् ।

कमल, शीतल, वर्ण्य, मधुर तथा कफपित्तनाशक होता है। 'भावप्रकाशकार' ने गुणतः श्वेत कमल को उत्कृष्ट माना है—

धवलं कमलं शीतं मधुरं कफपित्तजित् ।
तस्मादल्पगुणं किञ्चिदन्यरक्तोत्पलादिकम् ॥

धन्वन्तरिनिघण्टुकार ने कमल के भेदों के गुणों को पृथक् २ निम्नप्रकार से वर्णन किया है—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुण्डरीक—

पुण्डरीकं हिमं तिक्तं मधुरं पित्तनाशनम् ।
दाहघ्नमस्रशोषघ्नं पिपासाभ्रमनाशनम् ॥ (ध० नि०)

पुण्डरीक स्वाद में तिक्त एवं मधुर, शीतवीर्य, पित्तनाशक दाह, रक्तदोष, शोष-नाशक तथा पिपासा और भ्रम नाशक होता है।

रक्तोत्पल—

पाके रक्तोत्पलं शीतं तिक्तञ्च मधुरं रसे । (ध० नि०)

रक्तोत्पल तिक्त, मधुर, शीत विपाकवाला, पित्तदोषशामक दाह एवं रक्तदोष शामक होता है।

नीलपद्म—

नीलाब्जं शीतलं स्वादु सुगन्धि पित्तनाशनम् ।
रुच्यं रसायने श्रेष्ठं देहदार्ढ्यं च केशदम ॥ (ध० नि०)

नीलकमल स्वादुरसयुक्त शीतवीर्य सुगन्धित, पित्तनाशक, श्रेष्ठ रसायन, देह को दृढ़ बनाने वाला तथा बालों के लिए हितकारी होता है।

कमल के अवयवों के गुणकर्म—

संवर्तिका—

संवर्तिका हिमा तिक्ता कषाया दाहतृट्प्रणुत् । (भा० प्र०)

संवर्तिका रस में तिक्त और कषाय, वीर्य में शीत तथा दाह और तृषाशामक होती है।

कर्णिका—

पद्मस्य कर्णिका तिक्ता कषाया मधुरा हिमा ।
मुखवैशद्यकृल्लध्वी तृष्णासृक्कफपित्तनुत् ॥

कमल की कर्णिका तिक्त, कषाय, मधुर, शीतल, मुख वैशद्यकारक, लघ्वी तृष्णा रक्तदोष कफ एवं पित्त शामक होती है।

किञ्जल्क—

किंजल्कः शीतलो वृष्यः कषायो ग्राहकोऽपि सः ।
कफपित्ततृषादाह-रक्तार्शोविषशोथजित् ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किंजल्क, कषाय, शीतल, वृष्य, ग्राही, कफपित्त शामक, तृषाहर, दाहनाशक, रक्तार्श, विष एवं शोथ नाशक होता है।

मृणाल एवं कमलकन्द—

मृणालं शीतलं वृष्यं पित्तदाहास्रजिद् गुरु ।
दुर्जरं स्वादु पाकं च स्तन्यानिलकफप्रदम् ॥
संग्राहि मधुरं रूक्षं शालूकमपितद्गुणम् ॥

मृणाल मधुर, स्वादुपाकी, शीतलवृष्य, पित्तनाशक दाहशामक, रक्तदोषनाशक, गुरु रूक्ष, दुर्जर, स्तन्यवर्द्धक, वातवर्द्धक, कफप्रद, ग्राही रुक्ष होता है।

नाल के गुण चरक में—

कुमुदोत्पलनालास्तु सपुष्पाः सफलाः स्मृताः ।
शीताः स्वादुकषायाश्च कफमारुतकोपनाः ॥ (चरक)

कुमुद तथा उत्पलनाल सपुष्प और सफल शीतल, स्वादु, कषाय, कफवातप्रकोपक होता है।

पद्मबीजगुण—

कषायमीषद्विष्टम्भि रक्तपित्तहरं स्मृतम् ।
पौष्करन्तु भवेद्बीजं मधुरं रसपाकयोः ॥ (चरक)
पद्मबीजं हिमं स्वादु कषायं तिक्तकं गुरु ।
विष्टम्भि वृष्यं रूक्षञ्च गर्भसंस्थापकं परम् ।
कफवातहरं वल्यं ग्राहि पित्तास्रदाहनुत् ॥ (भा० प्र०)

पौष्कर बीज मधुर, कषाय, मधुर विपाकी, विष्टम्भकारक, रक्तपित्तहर, शीतल, किंचित् तिक्त, गुरु, वृष्य, रूक्ष, गर्भसंस्थापक, कफवातहर, बल्य, ग्राहि एवं दाह नाशक है।

सांस्थानिक प्रभाव—कमल के विभिन्न भागों का प्रयोग किया जाता है। उन अवयवों का तत्स्थानों पर विशिष्ट प्रभाव पृथक् पृथक् रूप से विचारने से ही प्रतीत हो सकता है। अतएव कमल का सांस्थानिक प्रभाव उसके अवयवों के अनुसार पृथक् पृथक् निम्न भांति समझना चाहिए:—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कमलपत्र—

पाचक संस्थान पर, कमल का शामक प्रभाव पड़ता है। शोथ युक्त श्लैष्मिक कला को स्निग्ध करता, एवं रूक्षता को दूर करता है। इसके अतिरिक्त यह किंचिद् ग्राही भी होता है और गुद भाग पर इसका विशेष प्रभाव होता है।

मूत्रसंस्थान पर भी पाचक संस्थान की भांति शामक प्रभाव होता है। मूत्र की मात्रा बढ़ती है।

रक्तवाहकसंस्थान में इसका प्रभाव विशेषतः हृदय के ऊपर होता है। रक्तस्कन्दन में सहायता होती तथा हृदय का संरक्षण होता है।

पुष्पदल एवं किंजल्क

पाचक संस्थान—पर शामक प्रभाव करते हैं। इनके द्वारा आन्त्र पर ग्राही प्रभाव होता है। तिक्त होने के कारण यह परिपाक की क्रिया को भी तीव्र करते हैं। आमाशयान्त्र की कला का शोथ कम होता तथा प्रदाह का शमन होता है। यकृत् का क्षोभ नष्ट होकर उसके उद्रेचन में सुधार होता है।

रक्तवाहकसंस्थान—इसकी क्रिया हृदय तथा रक्तवाहिनियों पर होती है। हृदयोत्तेजना की शान्ति होती है तथा उसकी गति कम होती है। रक्तनलिकायें संकुचित होती हैं। रक्तका संग्राहण होता है। इसकी क्रिया को डिजिटेलिस की क्रिया की भांति बतलाया गया है। अर्थात् इसकी क्रिया के फल स्वरूप हृदय की गति मन्द होती है, विस्फारकाल (Period of diastole) बढ़ जाता है। हृत्संकोच की शक्ति बढ़ती तथा हृत्पेशी पर भी बल्य प्रभाव होता है। इसके प्रयोग से धमनी की गति भी कम होती है। आचार्यों ने इसके केशर को विशेष रूप से रक्तस्कन्दक लिखा है।

श्वास संस्थान—कमल की पङ्खड़ियों एवं केशर का प्रभाव इस संस्थान पर विशेष रूप से पड़ता है। इससे कफ का निस्सारण विशेष रूपेण होता है। यह क्रिया सम्भवतः इसके पुष्पों में पाये जानेवाले सुगन्ध द्रव्य के श्वासनलिकाओं द्वारा उत्सर्ग होने के कारण होती है। उत्सर्ग के समय यह श्वासनलिकाओं पर किंचित् उत्तेजक प्रभाव करता है, जिससे नलिका का शोथ नष्ट होता है।

मूत्रसंस्थान—वृक्क की धमनिकाओं (Arterioles) पर उत्तेजक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रभाव करने के कारण मूत्रल होता है। शीतल एवं पाचन संस्थान पर प्रभावकारी होने के कारण मूत्र का रङ्ग भी बदलता है।

अन्य अवयवों पर भी इसका शामक प्रभाव पड़ता है।

पद्ममूल शालूक—अथवा बिस

पाचक संस्थान—यह भी शामक होते हैं, किन्तु दुर्जर होने के कारण इनका परिपाक देर में होता है। अन्य संस्थानों पर इसकी स्नेहन क्रिया होती है।

पद्मबीज

पाचकसंस्थान—यह शीतल, शामक, स्नेहन एवं ग्राही होते हैं।

मूत्रवाहक संस्थान—स्नेहन होने के कारण कलाओं का क्षोभ नष्ट होता है। इसका अन्य विशेष प्रभाव पुष्टिकारक एवं रक्तस्तम्भक होता है।

आमयिक प्रयोग—

मतं हृद्यं स्निग्धं परमशिशिरं कृच्छ्रहरणम्।
प्रदाहे शय्यायां घृतमतिसुखं तापशमनम्॥
प्रवृत्तं गर्भं वा स्थिरयति रजः शोणितगतिम्।
ज्वरघ्नं कासघ्नं गुदगदहरं श्वेतकमलम्॥
सांग्राहिकम्परम्प्रोक्तं रक्तपित्तहरन्तथा।
मूत्ररोगहरञ्चैव कमलं प्रथितं बुधैः (स्व०)

कमल के प्रत्येक अवयव का प्रयोग चिकित्सार्थ किया जाता है—

कमल के अङ्गों का बाह्य प्रयोग—कमल पत्र को तापशमनार्थ शय्या पर बिछाते हैं। [1]स्वेदन करते समय स्वेद्य व्यक्ति के नेत्रों को पद्मपत्र से आवृत करते हैं। एवं हृत्प्रदेश को इससे आवृत करते हैं। पैत्तिक शिरोऽर्ति में केशर का लेप करते हैं। बालों को काला करने के लिए, कमल के पुष्पों को दूध के साथ १ मास तक गाड़कर रखें, फिर निकालकर बालों में लगावें, इससे बाल काले एवं मसृण होते हैं। नासास्रुत रक्तस्राव में चन्दन और कमल के पत्रों एवं पुष्पों के कल्क का नस्य लाभकारी होता है। नीलोत्पल, गैरिक, शंख, चन्दन और सिताजल का नस्य शिरोविकार, दुष्टप्रतिश्याय एवं नासा प्रवृत्तरक्तस्राव आदि में देते हैं।

---

१. पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी। (चरक)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आन्तरिक प्रयोग—कमल का मुख्य प्रयोग रक्तपित्त में किया जाता है। किसी भी स्थान से प्रवृत्त रक्तस्राव में यह लाभकारी है। एतदर्थ इसकी केसर एवं पंखड़ियां सर्वश्रेष्ठ होती हैं। किन्तु, मृणाल, बीज आदि अवयव भी लाभकारी होते हैं। चरककार ने इसे रक्तपित्त की मुख्य औषधि स्वीकार किया है। तथा रक्तपित्ताधिकार में मुख्यरूप से इसका प्रयोग करने का निर्देश किया है। इस सम्बन्ध में चरक के निम्न प्रयोग विशेष स्मरणीय है—

(१) कमल का चन्दन के साथ प्रयोग रक्तपित्त शामक है। (च० चि० ४)

(२) उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां पङ्कस्य लोष्ठस्य (लोध्रस्य) च यः प्रसादः।
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देयः॥ (चरक)

उशीर, पद्म, उत्पल और चन्दन को कूट कर जल में डाल दें। उसके स्थिर होने पर जो जल प्राप्त हो उसे शर्करा और शहद से रक्तपित्त में दें। मिट्टी के ढेले को आग में पकाकर जल में डाल दें उसका थिरायाजल मधु और शर्करा मिश्रित पिलावें (उशीर, पद्म, उत्पल और चन्दन, के पङ्क, लोध्र के थिराये हुए जल के साथ शर्करा और मधु से पिलावें। यहां 'लोष्टस्य' के स्थान पर 'लोध्रस्य' पाठ करके यह अर्थ भी कुछ लोग करते हैं।)

(३) कफानुबन्धे रुधिरे सपित्ते कण्ठामये स्याद्ग्रथिते प्रयोगः।
युक्तस्य युक्त्या मधुसर्पिषोश्च क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य॥ (चरक.)

कफानुबन्धी रक्तपित्त में गला रुंधने पर कमल नाल के क्षार और मधु तथा घी का प्रयोग हितकारी होता है।

(४) मृणाल पद्मोत्पल केशराणां········क्षाराः प्रयोज्याः विधिनैव तेन (च० चि० ४)।

मृणाल, पद्म, उत्पल केशर के क्षार का भी प्रयोग कर सकते हैं। मुखप्रवृत्त रक्तपित्त में कमल केशर के चूर्ण को शर्करा के साथ देने से रक्तप्रवृत्ति रुक जाती है। कमल की यह क्रिया उसके रक्तस्कन्दक एवं शामक प्रभावों के कारण होती है। रक्तार्श और रक्तप्रवाहिका में कमल की पेया लाभ करती है। गर्भाशयगत रक्तस्राव में कमल का फाण्ट दिया जाता है।

मूत्रकृच्छ्र—कमल के क्वाथ को मूत्रकृच्छ्र में प्रयोग करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वेदनायुक्त मूत्रावरोध में पद्मकन्द को तैल में पकाकर गोमूत्र के साथ देने से लाभ होता है।

हृदयसंरक्षक—डा॰ वामनगणेश देशाई ने कमल के हृद्य प्रयोग के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला है। उनका मत है कि पुष्प फाण्ट से हृदय की धड़कन कम होती है। किन्तु जीर्ण हृद्रोग में वह इसके प्रयोग को उपयुक्त नहीं समझते हैं। संतत ज्वरों में जव हृदय पेशी खराब और शिथिल होती है, उस अवस्था के प्रतिरोध के लिए, उनका कहना है कि कमल को प्रारम्भ से ही देते रहने से घातक क्रियायें नहीं होतीं। कमल देने से हृदय की धड़कन दूर होती है। और हृदय अशक्त नहीं होता। निम्न क्वाथ को, वह विशेषरूप से हृदय संरक्षक, मूत्रल, दाहहर तथा ग्राही कहते हैं।

कमल पुष्प, चन्दन, खश, मुलेठी, नागरमोथा और मिश्री का क्वाथ वनाना चाहिए। मेरी सम्मति में इन द्रव्यों का क्वाथ न वनाकर यदि फाण्ट दिया जाय तो ज्यादा अच्छा है। क्योंकि इनमें प्रत्येक में कुछ न कुछ ऐसे द्रव्य हैं जो मन्दाग्नि पर क्वाथ करने में उड़ सकते हैं। यदि मिश्री वाद में डाली जाय तो अच्छा हो सकता है।

कमल के अवयवों के अन्य प्रयोग—

गुद निर्गमन में कोमल कमलपत्र शर्करा के साथ खिलाने से लाभ होता है। दांत में कीड़ा लगने तथा दांत हिलने की अवस्था में कमल के पत्ते अथवा मूल को चवाना चाहिये। कमलगट्टे का चूर्ण मधु से पित्तजकास में प्रयुक्त होता है। ज्वरातिसार में कमल पुष्पदल तथा केशर अनार की छाल के साथ चावल के धोवन में देने से ज्वरातिसार नष्ट होता है। गर्भपात में पद्मपत्र अथवा कन्द, मधु एवं शर्करा में खिलाने से लाभ होता है। बीज की पेया से हिक्का और असृग्दर तथा गर्भस्राव में लाभ होता है तथा स्तन दृढ़ होते हैं। स्त्रियों के श्वेत प्रदर में पत्र स्वरस तैल से लेने से लाभ होता है। शर्करा मिश्रित, मृणाल स्वरस शीतल हृद्य एवं दाहहर है। केशर को मधु मिश्रित कर देने से दाह नष्ट होता है। बीज का कषाय वालकों के वमन एवं अतिसार में देते हैं। वीजों को जल में घिसकर उनका चन्दन बालकों को चटाने से तृष्णाधिक्य का शमन होता है। कमलगट्टे के बीच की हरी पत्ती को अर्कगुलाव में पीसकर पिलाने से हैजा में लाभ होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कमल के मधु का विशेष प्रयोग नेत्र रोगों में किया जाता है। वास्तव में आत्रेय संहितकार[१] ने कमल के मकरन्द को नेत्र रोग नाशक बतलाया है। किन्तु कमल अधिक होने वाले तालाबों में स्थित मधु मक्षिकाओं के द्वारा संचित मधु में भी वही गुण पाया जाता है, यह भी प्रत्यक्ष देखा गया है। यूनानी चिकित्सक कमल के अर्क और शर्बत का प्रयोग करते हैं। वह इसे विशेषतः पित्तज्वर एवं तृष्णानाशक कहते हैं, कमल के कन्द एवं बीजों का शाक विशेष रुचिकर होता है। कन्दशाक किंचित् दुष्पाच्य एवं हरे बीजों का शाक सुपाच्य होता है।

मात्रा—पद्मपत्र स्वरस—१ तोला। बीज चूर्ण—३ माशा से १ तोला।

कुमुद

नाम—(सं०) कुमुद, श्वेतजलज, अम्भोज, अम्बुज, पङ्कज, अरविन्द, कल्हार, कुशेशय, शशिकान्त, कैरव, इन्दुकमल, चन्द्राब्ज, चन्द्रिकाम्बुज, शीतलक—यह नाम श्वेतकुमुद के तथा नीलोत्पल, उत्पलक, कुवलय, इन्दीवर, कन्दोत्थ, सौगन्धिक, सुगन्ध, असितोत्पल, कुड्मलक, यह नाम नीलोत्पल या नीलकुमुद के होते हैं। (हिं०) कुमोदनी, कोंई, ताल के फूल; (बं०) सुन्दि-शालूक, (गु०) पोपणुं; (क०) बम्पोश; (म०) कमोद, (फा०) नीलोफर; (ले०) निम्फिया स्टिलेटा (Nymphaea stellata)।

विशेषविवरण—कमल को सूर्यविकाशी और कुमुद को चन्द्रविकाशी कहा गया है। अर्थात् कमलपुष्प दिन को खिलते हैं और कुमुद रात्रि को पुष्पित होता है। पुष्प के वर्ण-भेद से कमल और कुमुद के अनेक भेद किए गए हैं। किन्तु नील पुष्प के भेद केवल कुमुद जाति में ही पाये जाते हैं। उक्त वर्णन से यह भी स्पष्ट जाना जा सकता है, कि प्राचीन आचार्यों ने कुमुद के कतिपय भेदों को कमल के नाम से व्यवहृत किया है।

प्राप्तिस्थान—प्रायः भारत के सभी प्रान्तों के तालाबों में कुमुद पाया जाता है। वर्षा ऋतु में तथा उसके बाद काफी मात्रा में पुष्प प्राप्त होते हैं। कमल की अपेक्षा यह सुलभ होता है। किन्तु इसका नील भेद कम मिलता है।

१—अरविन्द हृतः शीतो मकरन्दोऽति बृहणः। त्रिदोष नाशनः सर्वनेत्रामयनिषूदनः
(आत्रेयसंहिता)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिचय—मुख्यरूप से इसके ३ भेद होते हैं जिनकी पहचान निम्नलिखित लक्षणों के आधार पर होती है—

"(१) पत्रतट अत्यन्त लहरदार और तीक्ष्णदन्तुर, पुष्प के वाह्यदल पर्शुकी (Ribbed) परागकोश विना वाह्य वृद्धि के, पुष्प श्वेत या रक्त। इसे लेटिन में निम्फिया लोटस (Nymphaea lotus) कहते हैं।

(२) पत्रतट अत्यन्त लहरदार, परन्तु कुण्ठितदन्तुर या अखण्ड। वाह्य दल, न तो स्पष्टतः पर्शुकी और पराग कोश भी वाह्यवृद्धिसे युक्त नहीं होते और पुष्प श्वेत होते हैं। इसे निम्फिया एस्कुलेंटा (N. esculenta) कहते हैं।

(३) वाह्यदल पर्शुक विहीन परन्तु शिरायुक्त और परागकोश वाह्यवृद्धि से सम्पन्न, पुष्प नीले एवं श्वेत होते हैं। इसे निम्फिया स्टिलेटा (N. stella-a) कहते हैं।

फिर (N. lotus) के २ उपभेद होते हैं, एक में (Var-lotus proper) पुष्प श्वेत गुलाबी (Pink) होता है, और दूसरे में (Var rubra) गहरा लाल।

इसी तरह N. stellata, में ३ उपभेद होते हैं, पहिले में (Var-stellata proper) पुष्प गहरा नीला और व्यास में २" होता है। आभ्यन्तर दल ८ होते हैं। और कुक्षिकिरणें भी ८ होती हैं। दूसरे में (Var-versicolor) पुष्प श्वेत या गुलाबी (Pink) और फल में १५ प्रकोष्ठ होते हैं। तीसरे उपभेद में (Var-major) पुष्प फीका नीला और ४"–५" व्यासमें होता है। आभ्यन्तर दल ८–१२ तक और फल में प्रकोष्ठ १०–१२ तक होते हैं।

× × × × ×

कुमुद में नाल प्रायः पानी की सतह तक रहता है, जिससे पत्तियां पानी के ऊपर तैरती रहती हैं।" "गुरुवर प्रो० बलवन्त सिंहजी"

यूनानी में कुमुद कोनीलोफर (नीलोत्पल का अपभ्रंश) कहते हैं। कुमुद के वीज छोटे होते हैं और कच्ची हालत में लाल और पकने पर काले हो जाते हैं। नीलोफर के नाम पर नील कूंई के पुष्प पंसारियों के यहां से मिलते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सक्रियतत्त्व—कुमुद की जातियों में नुफेरीन (Nupharine) नामक अल्कलायड पाया जाता है।

गुणकर्म—

'उत्पलानि कषायाणि रक्तपित्तहराणि च ।'

सभी उत्पल कषाय और रक्त-पित्त नाशक होते हैं।

सतिक्तं मधुरं शीतं पद्मं पित्तकफापहम् ।
मधुरं पिच्छिलं स्निग्धं कुमुदं ह्लादि शीतलम् ।
तस्मादल्पान्तरगुणे विद्यात्कुवलयोत्पले । (सु० सू० अ० ४६)

पद्म तिक्त मधुर शीतल और पित्तकफनाशक एवं कुमुद मधुर, स्निग्ध, पिच्छिल, शीतल, और आह्लादकारक होता है। कुवलय और उत्पल उससे कम गुण वाले होते हैं। इस उद्धरण से पता चलता है कि चरक और सुश्रुतकार ने कमल और कुमुद दोनों का प्रायः साथ साथ वर्णन किया है। दोनों के अवयवों के गुण धर्मों का वर्णन भी साथ-साथ ही मिलता है। शाकवर्ग में चरक ने लिखा है—

कुमुदोत्पल नालास्तु सपुष्पाः सफलाः स्मृता ।
शीताः स्वादुकषायाश्च कफमारुतकोपनाः ॥
कषायमीषद्विष्टम्भि रक्तपित्तहरं स्मृतं ।
पौष्करं तु भवेद्बीजं मधुरं रसपाकयोः ॥ (चरक सू० २७)

कुमुद तथा उत्पल के नाल, पुष्प और फल सहित स्वादु, कषाय, शीतल, और कफवात, कोपक होते हैं। पौष्कर बीज रस में मधुर और कषाय, विपाक में मधुर, किञ्चित् विष्टम्भी तथा रक्तपित्त नाशक होते हैं। कन्दवर्ग में सुश्रुत ने भी—

अविदाहि विसं प्रोक्तं रक्तपित्तप्रसादनम् ।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम् ॥
कुमुदोत्पल नालानां कन्दाः मारुतकोपनाः ।
कषायाः पित्तशमनाः विपाके मधुराः हिमाः ॥ (सु० सू० ४६)

विस (कुमुद या कमल कन्द) रक्तपित्तशामक विष्टम्भी, दुर्जर, रूक्ष, विरस और वातवर्द्धक होता है। कुमुद एवं उत्पल नाल के कन्द कषाय, मधुर विदाही, शीतल, पित्तशामक और वातप्रकोपक होते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्पल तथा कुमुद किञ्जल्क को[1] चरककार ने एक साथ वर्णन कर सांग्राहिक तथा रक्तपित्तशामक द्रव्यों में श्रेष्ठ कहा है।

भावप्रकाशकार—कुमुद के गुण का वर्णन करते हुए 'कुमुदं पिच्छिलं स्निग्धं मधुरं ह्लादि शीतलम्' अर्थात् कुमुद शीतल, स्निग्ध, मधुर तथा आह्लादकारक होता है। इसके बाद कुमुदिनी का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

कुमुद्वती कैरविका तथा कुमुदिनीति च।
सातु मूलादि सर्वाङ्गैरुदिता समुदिता बुधैः॥
पद्मिन्या ये गुणाः प्रोक्ताः कुमुदिन्याऽपि ते स्मृताः॥

कुमुद के मूल से लेकर संपूर्ण अंगों को कुमुदिनो कहते हैं इसी को कुमुदनी और कैरविका भी कहा जाता है। पद्मिनी के गुणों के समान ("पद्मिनी शीतला गुर्वी मधुरा लवणा च सा। पित्तासृक्कफनुत्क्षुद्रा वातविष्टम्भ कारिणी। पद्मिनी मधुर व लवणरस युक्त, शीतल, गुर्वी, रक्तपित्तनाशक, कफनाशक, वातकारक और विष्टम्भकारक है।") ही कुमुदिनी के गुण भी होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कमल और कुमुद के प्रयोगों तथा गुणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अतएव दोनों के सांस्थानिक प्रभाव भी प्रायः एक से हैं और आमयिक प्रयोग भी एक से ही समझने चाहिए। किन्तु कमल के अभाव में ही कुमुद का व्यवहार करना चाहिए।

यूनानी चिकित्सक नीलोत्पल (नीलोफर) का विशेष व्यवहार करते हैं। यह, इसके पुष्प को निद्राजनक, स्निग्ध, मार्दवकर, दोषतारल्य जनन, शीत, संग्राही, दाहप्रशमन कामावसादक तथा वीर्यपुष्टिकर बतलाते हैं। इसके शर्वत को दाहप्रशमनार्थ प्रयुक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त कुमुद का प्रयोग, मस्तिष्क को शान्ति देने, शिरःशूल, हृदय को वल देने, नींद लाने, कामशक्ति घटाने तथा स्वप्नदोष नाशन के लिए करते हैं। उनके मत से इसके प्रयोग से कास और छाती की खुश्की दूर होती है तथा मसूरिका के दाने निकल आनेपर इसका प्रयोग गुणकारी होता है।

---

१ उत्पलकुमुदपद्मकिजल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम् (श्रेष्ठः) चरक सू०अ० २५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रा—पुष्पचूर्ण—४ मासे से १ तो० । तथा क्वाथार्थचूर्ण—२ तो० । मूल—४ माशा । बीजचूर्ण—१ तो० तक ।

मखान्न

नाम—(सं०) मखान्न, पद्मबीजाभ, पानीय फल; (हि०) मखाना; (उड़िया) कुन्तपद्म, (गु०) मखाणा; (म०) मका (खा)णे; (ले०) यूरीएल फेरोक्स (Euryale ferox),

विशेष विवरण—मखाना पवित्र खाद्य द्रव्य है । 'मख' का अर्थ यज्ञ होता है । यज्ञ में खाद्यान्न के समान प्रयुक्त होने से इसे मखान्न कहते हैं। आजकल भी हिन्दू जनता व्रत आदि में व्रताहार की भांति मखाने के लावा का व्यवहार करती है । पद्म या कमल बीजवत् होने के कारण 'पद्मबीजाभ' तथा जल में उत्पन्न होने के कारण इसको 'पानीयफल' कहा गया है ।

प्राप्तिस्थान—काश्मीर, पूर्व बंगाल, मणिपुर, बिहार के पूर्णि या तथा दरभङ्गा आदि प्रदेशों में, तालावों में मिलता है । इसके अतिरिक्त भारत के मध्य एवं पश्चिमी प्रदेशों में भी पाया जाता है ।

परिचय—"कुमुद के समान इसकी पत्तियाँ भी पानी के ऊपर तैरती रहती हैं । स्त्री केशर चक्राकार स्थित और पूर्णतः संयुक्त और कर्णिका में घँसे हुए, पर्ण, पर्णनाल, तथा फल कण्टकावृत । पुष्प वनफ़्शई नील अथवा लाल रङ्गके होते हैं" "गुरुवर प्रो० बलवन्तसिंहजी"

इसके बीजों को भूनकर लावा बनाते हैं । उन्हीं को मखानाके नामसे बाजारों में बिक्री होती है ।

गुणकर्म—

पद्मबीजगुणैस्तुल्यं मखान्नं समुदीरितम् ।
वल्यं शीतं विशेषेण वातपित्तविनाशकम् ॥
तर्पणञ्च मतं ग्राहि कफनिस्सारकन्तथा ।
स्निग्धञ्चमधुरं चोष्ण यूनानीयैर्प्रकल्पितम् ॥ (स्व०)

शास्त्रकारों के मत से पद्मबीज और मखाना में समान गुण होते हैं । विशेषकर यह वल्य, शीतल, वातपित्तनाशक, एवं तर्पण ग्राहि तथा कफनिस्सारक भी होता है । यूनानी चिकित्सक इसे, स्निग्ध, उष्ण एवं मधुर कहते हैं ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आमयिक प्रयोग—

काले चातिसृतौ देयं मखान्नं बलवर्द्धनम्।
पुष्ट्यर्थञ्च प्रसूतायाः शुक्रमेहे च शस्यते ॥ (स्व०)

कफनिस्सारक होने से कास में तथा ग्राही होने के कारण अतिसार में इसका पथ्य देने से लाभ होता है। वल्य प्रभाव के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। स्त्रियों की प्रसूतावस्था में इसका प्रयोग हितकारी होता है।

मात्रा—यूनानी मतसे इसकी मात्रा १ तो० तक मानी गई है। खाद्यार्थ मात्रा अधिक भी हो सकती है।

N. O. Papauevaceæ. (अहिफेन कुल)

पोस्त (अहिफेन)

नाम—(सं०) तिलभेद, खसतिल, खाखसतिल, अहिफेन क्षुप; (हिं०) पोस्त; (बं०) पोस्तढेरी; (तैलगू) गासागेसालू; (तामिल) गासागसा; (के०) कासाकेरु; (मल०) कासाकस; (गु०) खसखस; (ने०) झाड़, अफीणवा झाड़ या अफीणवाडोड़क (अ०) नवातुल् खशखाश (फा०) कोकनार, (वर्मा) भिन्विन; (अं०) ओपियम् पॉपी (Opium poppy); (ले०) पापावर सॉम्निफेरम् (Papaver somniferum)।

फल—(स०) खाखसफल, खलफल; (हिं०) पोस्तका डोड़ा या अफीम का डोड़ा; (अ०) क़िश्रुल ख़सखाश; (फा०) पोस्ते खसखाश, पोस्तेकोकनार; (म०) खशखशीचे बोंड, (गु०) खसखसनाडोड़ा; (अं०) पॉपी कैप्स्यूल (Poppy capsule); पापावरिस कैप्स्यूली (Papaveris capsulae).

बीज—(सं०) खसबीज, खाखसतिल; (हिं०) खसखास पोस्तदाना; (मराठी, गुजराती) खसखस; (अ०) बज्रुल् खश्खाश; (फा०) तुख्मे खश्खाश (कोकनार); (अं०) पॉपी सीड्स (Poppy seeds)।

निर्य्यास—(सं०) अहिफेन, फणिफेन, खसफलक्षीर, आफूक, सफेनका; (हिं०) अफीम; (पं०) अफीम; (बं०) आफिम; (म०) अफू; (गु०) अफीण; (मारवाड़) अमल; (अ०) अफ़यून, लब्नुल् खश्खाश; (फा०) तिर्याक- (अं०) ओपियम (Opium), (ता०, तैलगू) अफिनी।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विशेषविवरण—यह क्षुप भारतवर्ष में विदेशों से लाया गया प्रतीत होता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करने से पता चलता है, कि इसका परिचय ईसा के बहुत पूर्व से प्राप्त हो गया था। पहिले इसको उद्यानों में लगाया जाता था। इसके गुणों का ज्ञान क्रमशः बाद में हुआ। किन्तु यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सर्व प्रथम इसके गुणों का ज्ञान कबसे हुआ। शास्त्रज्ञों का मत है कि इसके शुष्क फलों को अरब के लोगों ने एशियामाइनर से, जहां यह प्राप्त होता था, पूर्वी प्रदेशों तथा चीन के लोगों में प्रचारित किया। ईसा के तीसरी शताब्दी पूर्व के **थियोफ्रेटस** (Theophratus) नामक विद्वान के एक लेख से प्रतीत होता है, कि उसके काल में लोग इसके गुणोंसे परिचित हो चुके थे। ईसा की प्रथम शताब्दी के चीनी लेखों से पता चलता है कि चीन में बाहरी व्यापारियों से इसका आदान होने लगा था। लेखों से यह भी पता चलता है कि अरब के लोगोंने ही चीन वालों को इसका परिचय कराया। यह निश्चय है कि चिकित्सोपयोग के पूर्व इसके मादकताजन्य आनन्द के कारण इसका प्रचार जन-साधारण में हो गया था। बाद में इसका उपयोग चिकित्सा में बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप से होने लगा।

भारतवर्ष में मुगलों के शासनकाल के ग्रंथों तथा अबुलफजल के आईन अकबरी से पता चलता है कि अहिफेन का प्रयोग उस समय नशे के लिए किया जाता था। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि भारत से चीन आदि देशों को काफी मात्रा में अफीम भेजी जाती थी। इस काल से प्राचीन भारतीय आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इसका परिचय प्राप्त नहीं होता। आयुर्वेद के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि में इसका उल्लेख नहीं है। इन ग्रन्थों में सबसे आधुनिक वाग्भट का काल छठीं शताब्दी माना गया है। टीकाकार चक्रदत्त ग्यारहवीं शताब्दी के माने जाते हैं। इनके ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं है। इतना अवश्य है कि लगभग ८६२ ईस्वी में दक्षिण में मालाबार के **नारायण नामक वैद्य** लिखित विषचिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थ में मूषक विष चिकित्सा में अहिफेन का प्रयोग दिया गया है। पन्द्रहवीं और १६ वीं संदी के शार्ङ्गधर एवं सत्रहवीं सदी के भावप्रकाश ग्रन्थ से पता चलता है कि अहिफेन का प्रयोग भारतीय चिकित्सकों ने पूर्णरूप से उस समय प्रारम्भ कर दिया था। उसी समय के अन्य साहित्य को देखने से भी पता चलता है कि अहिफेन, का भारतीय चिकित्सा में विशेष रूपसे प्रवेश

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मुगल शासन काल के विकास के समय अर्थात् १५ वीं शताब्दी के आसपास हुआ है। वर्तमान आयुर्वेदीय साहित्य में अहिफेन के अनेक प्रचलित एवं उपयोगी योग प्राप्त होते हैं। रस चिकित्सा में भी कतिपय महत्त्वपूर्ण रसों का यह घटक है। आसवादि का भी निर्माण इससे होता है। इसके वेदनाहर प्रभाव के सम्बन्ध में कई लोगों ने लिखा है कि भारतीय इस कार्य के लिये इसका प्रयोग नहीं करते थे। यह निश्चित है कि इसके वेदनाहर प्रभाव का ज्ञान भारतीयों को देर में हुआ था, किन्तु वह इसको बिल्कुल नहीं जानते थे, यह समझना भ्रमपूर्ण है।

उत्पत्तिस्थान—अहिफेन के व्यापार पर सर्वप्रथम अकबर ने चुंगी लगाई थी। ब्रिटिश शासनकाल में इस द्रव्य के विषाक्त होने के कारण इसकी उत्पत्ति को भी नियंन्त्रित किया गया था। इसकी खेती बिहार, राजपूताना, युक्तप्रान्त, मध्य एवं पश्चिम भारतवर्ष तथा मालवा आदि में नियंत्रित रूप से की जाती है। इसके अतिरिक्त नेपाल, आसाम और ब्रह्मा में भी यह होता है। चीन, ईरान, एशिया माइनर, यूरोप आदि में यह काफी पाया जाता है। भारतवर्ष की सरकार की नीति के अनुकूल इसकी कृषि के लिए लाइसेंस लेना पड़ता है और अहिफेन की सम्पूर्ण उपज भी सरकार को ही बेचनी पड़ती है। इसके बीज अक्टूबर और नवम्बर मास में बोये जाते हैं। दिसम्बर में अधिकारी बोयी हुई जमीन को पड़ताल कर उसके क्षेत्र को अंकित कर लेते हैं। जनवरी से मार्च तक इसके रस का संग्रह किया जाता है। यह सम्पूर्ण संग्रह अप्रैल से जून तक सरकारी अधिकारियों को हस्तान्तरित कर देना पड़ता है। फिर इसको अहिफेन की फैक्टरी में भेज दिया जाता है वहां इसका व्यवहारोपयोगी स्वरूप बनाया जाता है। जनता को अफीम इसके लाइसेंस प्राप्त दूकानदारों से निश्चित मात्रा में ही प्राप्त हो सकती है। औषधि के लिए सरकारी फैक्टरी से भी अहिफेन वैद्यों को प्रयत्न करने से मिल सकती है। काशी, बिहार और मालवा की अफीम बहुत काल से प्रसिद्ध रही है। काशी के पास गाजीपुर में अफीम की फैक्टरी है। वहां से अहिफेन का निर्यात होता है। इस समय इसकी उपज सरकारी नीति पर निर्भर है। सरकार जहां चाहती है इसकी उपज होती है अन्यथा बन्द कर देती है। ध्यान रहे कि उपर्युक्त उत्पत्ति स्थान सफेद पोस्ता के हैं। रक्त पोस्ता हिमालय के प्रदेशों में पाया जाता है। कहीं २ बिहार या युक्तप्रान्त में भी क्षुप मिलते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिचय—इसका क्षुप होता है। जो देखने में स्वर्णक्षीरी या भड़भाड़ जैसा लगता है। पत्र वृन्तहीन, भड़भाड़ से किंचित अधिक लम्बे चौड़े, खण्डित किनारे वाले होते हैं। पुष्प वृहदाकार के, पुष्पदल श्वेत या पीत होते हैं। इसके २ भेद होते हैं। श्वेत को 'पापावर साम्निफ़ेरम (Papaver somniferum) खश्खाश सफेद या खश्खाश बुस्तानी कहते हैं। इसके लाल भेद को पापावर र्‌हीज (Papaver rhoes) या खश्खाश मन्सूर कहते हैं। लेखकों ने एक और जाति लिखी है, जिसे जंगलीय या काला पोस्ता अथवा खश्खाश स्याह कहते हैं। श्वेत जाति के पौधे के पुष्प श्वेत, लाल के पुष्प लाल और कृष्णजाति के पुष्प नील या कृष्णवर्ण के होते हैं। पोस्ता का फल या डोड़ा २ या ३ इंच व्यास का होता है। यह अण्डाकार होता है, जिसके निम्न भाग में ग्रीवा होती है और ऊपर कंगूरेदार रचना पाई जाती है। इसका वर्ण किंचित्पीताभ भूरा होता है। भीतर कई कोष्ठ होते हैं, जो पतले पर्दों के द्वारा विभक्त रहते हैं इन्हीं कोष्ठों में बहुत छोटे छोटे, प्रायः सफेद या भूरे या कभी कभी कृष्णाभ बीज रहते हैं। हकीमों ने इसके बीजों को भी २ प्रकार का बतलाया है—

(१) खश्खाश बुस्तानी या सफेद के बीज सफेद होते हैं।
(२) खश्खाश स्याह तथा खश्खाश मन्सूर के बीज काले होते हैं।

अहिफेन—पोस्ते के फल के निर्यास को ही अहिफेन कहते हैं। सायंकाल कच्चे फल में चारों ओर लम्बाई के रुख में किसी धारदार चीज से गहरा चीरा, जो अन्दर न पहुँचे, लगा दिया जाता है। इस क्रिया से डोड़े पर दुग्ध सदृश एक तरल द्रव निकलता है और जम जाता है। प्रातःकाल उसे खरोंच कर संग्रह कर लिया जाता है। इसे सुखा लेते हैं। इसका रंग प्रारम्भ में भूरा, किन्तु, बाद में काला हो जाता है। इसे ही 'अहिफेन' कहा जाता है। इस क्षुप के फलों के छिलके या डोड़े, बीज और बीजों का तैल तथा निर्यास (अहिफेन) व्यवहार में आते हैं।

अहिफेन का स्वरूप—इसकी कुछ गोल अथवा चिपटी विभिन्न भारकी टिकिया, जिन पर पोस्ता की पत्तियों के टुकड़े अथवा चुक्रजाति (Rumex) के एक पौधे के फलों के खण्ड लगे होते हैं प्राप्त होते हैं। ताजी अहिफेन नरम

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होती है, वाद में कड़ी और भंगुर हो जाती है। इसमें एक प्रकार की तीव्र गंध पाई जाती है। स्वाद तिक्त होता है।

अहिफेन के प्रकार—आजकल ४ प्रकार की अहिफेन बाजार में प्राप्त होती है:—

टर्की की अफीम (Turkey Opium)—यह प्रायः एशियामाइनर में उत्पन्न होती है। इसकी गोल अनियमित चपटी टिकिया होती है। टिकिया के आसपास इनको परस्पर चिपकने से बचाने के लिये पोस्त की पत्ती या चुकुजाति के एक पौधे के फलों के टुकड़ों को लगा दिया जाता है। यह २ प्रकार की मिलती है:—(१) सॉफ्ट सिफ्टिंग (Soft Sifting) इसमें ३० प्रतिशत तक आर्द्रता होती है; (२) ओषधीय (Druggist's Opium) ओपियम् कहलाती है, इसमें कम आर्द्रता रहती है तथा मार्फीन नामक सक्रिय तत्व भी कम मात्रा में होता है।

(२) यूरोपीय अफीम (European Opium)—यह अधिकतर वेल्जियम् , यूनान तथा यूगोस्लाविया आदि देशों में उत्पन्न होती है। यह टर्की की साफ्ट सिफ्टिंग के प्रकार से अच्छी होती है, किन्तु इसका सामान्य स्वरूपादि इसी के समान होता है।

(३) फारस की अफीम (Persian Opium)—इसके ईंटों के समान ½-½ सेर के टुकड़े आते हैं। इसमें आर्द्रता कम होती है तथा विशेष आकार की टिकिया वनाने में कुछ स्थानीय गोंद आदि मिला दिया जाता है।

(४) भारतीय अफीम (Indian Opium)—यह दो प्रकार की होती है—(१) आवकारी अफीम (Excise Opium) इसकी टिकिया नेपाली कागज में लिपटी हुई प्राप्त होती हैं (२) ओषधीय (Medicinal) अफीम यह भी टिकिया अथवा चूर्ण रूप में प्राप्त होती है।

सक्रियतत्त्व—इसके विभिन्न प्रकारों में जो बाजार में प्राप्त होते हैं, सक्रिय तत्त्वों की मात्रा में अन्तर होता है। इसके संग्रह स्थल, संग्रह प्रकार एवं निर्माण पर इसके तत्त्वों की मात्रा का न्यूनाधिक्य निर्भर करता है। उदाहरणार्थ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निम्न देशों की अफीम में पाई जाने वाली मार्फीन (Morphine) की मात्रा में निम्न प्रकार की भिन्नता पाई जाती है:—

टर्की—३–१४ प्र० श०
फारस—६–१४ ,, ,,
मिश्र—०·२८–८ ,, ,,
भारत—३–१५ ,, ,,
चीन—१·५–११ ,, ,,
जापान—०·७–१३ ,, ,,
वोहेमिया—११–१२ ,, ,,
तुर्किस्तान—५–१८ ,, ,,
आस्ट्रेलिया—४–११ ,, ,,

पहिले लोगों का विश्वास था कि भारतीय अफीम औषधीय व्यवहार के योग्य नहीं होती किन्तु अफीम निर्माण में सुधार होने के परिणाम स्वरूप अब भारतीय अफीम उत्तम श्रेणी की मानी जाती है।

भारत और टर्की की अफीम के तत्वों की मात्रा का परस्पर अनुपात निम्न प्रकार से होता है:—

	भारतीय अफीम	टर्की अफीम
मॉर्फीन	९·५–१४·२ प्र० श०	१०–१४ प्र० श०
कोडीन	१·८–४ ,, ,,	०·२–३·२ ,, ,,
नार्कोटीन	३·९–७·६ ,, ,,	४ – ११ ,, ,,

अहिफेन में पाये जाने वाले सक्रिय तत्त्वों को २ वर्गों में विभाजित किया जाता है:—

(१) पाइपेरिडीन फिनेनथ्रीन वर्ग (Piperidine Phenanthrene group)—मार्फीन, कोडीन तथा थीबेन आदि।

(२) बेंजीन आइसोकिनोलीन (Benzene Isoquinoline group) वर्ग—नार्कोटीन, पापावरीन, लाडेनोनीन, नारसीन (Narceine) हाइड्रोकोटारनीन आदि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(१) प्राथमिक क्षारोद (Primary alkaloids)—इनकी संख्या १८ होती है। यह क्षारोद एक परस्पर सम्बन्धित श्रेणी बनाते हैं। इस श्रेणी के अन्तिम भाग पर एक ओर मॉर्फीन स्थित होता है जिसमें प्रधानतया प्रमीलक (Narcotic) प्रभाव होता है; और दूसरे किनारे पर थीबेन है, जिसमें कुपीलुसत्व (स्ट्रिक्नीन) की भांति सुषुम्नाकाण्ड पर प्रभाव करने की शक्ति होती है। इन्हीं अन्य तत्त्वों के कारण अहिफेन की अपेक्षा मार्फीन अधिक प्रमीलक (Narcotic) प्रभाव करता है। मार्फीन ५-२१ प्रतिशत, कोडीन लगभग ०·३ से ०·५ प्रतिशत, थीबेन लगभग ०·३ प्रतिशत, अनारकोटीन या नार्कोटीन २-७ प्रतिशत। इसके अतिरिक्त नार्सीन (Narceine), पापावरीन, स्यूडो मॉर्फीन (Pseudomorphine) एरिप्टोपीन, प्रोटोपीन, हाइड्रोकोटारीन, लाडेनीन, लाडेनोसीन तथा मिकोनिडीन आदि होते हैं।

(२) द्वितीयक क्षारोद (Secondary alkaloids or Derivatives)—इनकी संख्या ८ होती है—एपोमार्फीन, आक्सीडाइमार्फीन, एपोकोडीन, डिआक्सीकोडीन, थिबेनीन।

(३) कोटारनीन, रीडेनीन (Rhoedinine)—इन क्षारोदों के अतिरिक्त ३ विशिष्ट अन्यतत्त्व ओपिओनिन, मिकोनिन तथा मिकोन्वायडिन पाये जाते हैं।

(४) २ सेन्द्रिय अम्ल—लेक्टिक एसिड तथा मिकोनिक एसिड (Meconic acid)।

(५) लगभग १६ प्रतिशत जल।

(६) राल (Resin), ग्लूकोज, वसा, उत्पत् तैल, सुगन्धद्रव्य, खटिक तथा अमोनिया एवं मैगनीसियन् के लवण भी पाये जाते हैं।

अहिफेन चूर्ण—ओपियम् पल्वरेटम् (Opium pulveratum) ले०, पाउडर्ड ओपियम् (Powdered Opium) अं०, इसको पल्विस ओपियाई (Pulvis opii) भी कहते हैं। इसमें अहिफेन को सुखाकर चूर्ण रूप में कर दिया जाता है। कभी कभी इसमें लेक्टोज का चूर्ण मिलाकर चूर्ण में मॉर्फीन की मात्रा को नियन्त्रित किया जाता है जिसमें मॉर्फीन की मात्रा १० प्रतिशत या ३ ग्रेन में $\frac{३}{१०}$ ग्रेन मॉर्फीन हो।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अहिफेन का शोधन—वैद्यों को अहिफेन का प्रयोग इसको शुद्ध करके करना चाहिए। पहले इसे पानी में घोलकर कपड़े से छान लेना चाहिए। बाद में मन्द अग्नि पर रख धीरे धीरे गाढ़ा कर लेना चाहिए। पुनः आर्द्रक स्वरस की २१ भावना देने के पश्चात् इसका प्रयोग करना चाहिए।

गुणकर्म—अहिफेन क्षुप के विभिन्न अवयवों के गुणों का वर्णन भावप्रकाश मे निम्न प्रकार किया गया है—

फलत्वक्—

स्यात्खाखसतिलोद्भूतं वल्कलं शीतलंलघु।
ग्राहि तिक्तं कषायं च वातकृत्कफकासहृत्॥
धातूनां शोषकं रूक्षं मद्कृत् वाग्विवर्द्धनम्।
मुहुर्मोहकरं रुच्यं सेवनात्पुंस्त्वनाशनम्॥ (भा० प्र०)

अहिफेन वल्कल रस में तिक्त एवं कषाय, वीर्य में शीतल, लघु, ग्राही, रूक्ष, धातु शोषक, मदकारी, वाक् शक्ति वर्द्धक, वातकारक किन्तु कफ, कास-नाशक होते है। इसके अतिरिक्त यह शीघ्र मोहजनक, रुचिवर्द्धक तथा विशेष काल तक सेवन करने से पौरुष शक्ति को नष्ट करने वाले होते है।

खाखसतिल या बीज

खसबीजानि वल्यानि वृष्याणि सगुरूणिच।
शमयन्ति कफं तानि जनयन्ति समीरिणम्॥ (भा० प्र०)

पोस्ता के बीज या पोस्ता दाना वलवर्द्धक, वल्य गुरु होते हैं। यह कफ शामक एवं वातजनक होते हैं।

अहिफेन—

आफूकं शोषणं ग्राहि श्लेष्मघ्नंवातपित्तलम्।
तथा खस तिलोद्भूतं वल्कलप्रायमित्यपि॥ (भा० प्र०)

अहिफेन, शोषण, ग्राही, श्लेष्मनाशक, वातपित्तवर्धक एवं फल के छिलके के अन्य गुणों के समान गुण वाला होता है।

ह्लादकं फणिफेनन्तु स्वेदसञ्जननंपरम्।
हरणं वेदनानांश्च श्वासकेन्द्रावसादकम्॥ (स्व०)

अहिफेन आह्लादकारक स्वदेल वेदनाशामक तथा श्वास केन्द्रावसादक होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सांस्थानिक प्रभाव

वाह्य—परिसरीय सांवेदनिक नाड्यग्रों (Sensory nerve-endings) पर अफीम तथा इसके अल्कलायड्स का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। किन्तु मार्फीन का शोषण अंशतः त्वचा से तथा श्लैष्मिक कलाओं से पूर्णतया होता है। अतएव वाह्यप्रयोग से भी शोषणोपरान्त केन्द्रीय प्रभाव के कारण यह किञ्चित् वेदनाहर होसकती है।

आभ्यन्तरिक—मुख एवं आमाशय—साधारण मात्रा में ग्रहण करने पर अहिफेन से मुख, जिह्वा एवं गले में शुष्कता पैदा होती है। यह क्रिया इसके शोष्णोपरान्त केन्द्रीय प्रभाव के कारण होती है। अल्प मात्रा में ($\frac{1}{12}$ ग्रेन) इससे क्षुधा कम होती तथा आमाशय की गति में किंचित्‌वृद्धि होती है। किन्तु अधिक मात्राओं में मुद्रिका द्वार (Pylorus) संकुचित होता तथा आमाशय गात्र का विस्फार होता है, परिणामतः आमाशयस्थ आहार द्रव्य कई घंटों तक वहीं अवरुद्ध हो जाता है। आमाशयिक स्राव एवं गति में मन्दता हो जाती एवं वेदना का शमन होता है। अतएव आमाशय में अहिफेन, क्षुधा को कम करता, पाचन क्रिया को विकृत करता तथा वेदना शमन करता है। उक्त सभी कर्म शोषणोपरान्त इसके केन्द्रीय (Central) प्रभाव के कारण होते हैं। कभी कभी हृल्लास (Nausea) एवं वमन भी होता है। यह कर्म भी इसके केन्द्रीय प्रभाव अर्थात् वमन-केन्द्र (Vomiting centre) को उत्तेजित करने के कारण होते हैं। किन्तु अधिक मात्रासे वमन केन्द्र अवसादित (Depressed) होता है।

आन्त्र—आन्त्रों में अहिफेन स्राव को कम करता, वेदना का शमन करता तथा मलविवन्ध (Constipation) उत्पन्न करता है। आन्त्र पर इसकी प्रधान क्रिया यह होती है कि यह आन्त्र की चेष्टाशीलता (Motor activity) में तो वृद्धि करता किन्तु आन्त्र की पुरस्सरण गति (Peristalsis) को मन्द करता है। बृहदन्त्र में वृत्ताकार सूत्रों (Circular fibres) का तीव्र सङ्कोच होता तथा क्षुद्रान्त्र की भांति यहां भी पुरस्सरण गति पर अवरोधक प्रभाव होता है। इसके अतिरिक्त ग्रहणीद्वार, उण्डुकद्वार (Ileo-Coecal orifice) तथा गुदद्वार का भी तीव्र संकोच होता है, जिससे आहार द्रव्य अथवा मल विलम्ब तक रुक जाता है और उसके जलांश का शोषण अधिकाधिक मात्रा में होने का अवसर मिलता है। इस प्रकार मल शुष्क हो जाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रिक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रभाव के कारण मलाशय की संवेदनशीलता (Sensations) भी कम हो जाती तथा मलोत्सर्गप्रत्याक्षिप्तक्रिया (Defaecation reflex) भी अवसादित हो जाती है। इस प्रकार आन्त्रों पर अफीम संशामक ग्राही एवं वेदनाहर प्रभाव करता है। आन्त्रों पर वेदनाशामक तथा मलविबन्धजनक प्रभाव मार्फीन की अपेक्षा अफीम से तीव्रतर होता है। सम्भवतः इसके २ कारण हो सकते हैं—(१) मार्फीन की अपेक्षा अफीम का मन्दगति से शोषण होना, (२) अफीम में आइसो-क्विनोलीन योगों की उपस्थिति।

यकृत—अन्य शारीरिक स्रावों की भांति यकृदुद्रेचन पर भी अवरोधक प्रभाव होता है, जिससे आन्त्रों में इसकी मात्रा कम होने से मल मृत्तिकावर्ण का (Clay-Coloured) हो जाता है, तथा कभी कभी कामला की भी उत्पत्ति हो सकती है। १/६ ग्रेन मार्फीन का इञ्जेक्शन करने से पित्तनलिका का अन्तर्भार (Intrabiliary pressure) सामान्य (० से २० मि० मि०) से बढ़कर २००-३०० मि० मि० तक हो जाता है, जिससे पित्तशूल (Biliary Colic) की भांति उदरशूल एवं बेचैनी हो जाती है किन्तु बाद में ये लक्षण मॉर्फीन के केन्द्रीय प्रभाव के कारण स्वयमेव लुप्त हो जाते हैं। यह दवाव वृद्धि सम्भवतः साधारणी पित्तनलिका (Common bile duct) द्वार संकोच होने से होती है।

हृदय तथा रक्तवह संस्थान—औषधीय मात्रा (Therapeutic dose) में अफीम का हृदय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। प्राणदाकेन्द्र (Vagal centre) पर उत्तेजना होने से साधारण हृन्मन्दता हो सकती है, किन्तु साथ ही इसका उत्क्षेपणकार्य किंचित् प्रवल हो जाता है। ऍट्रोपीन के द्वारा इसका निवारण हो जाता है। अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त किये जाने से रक्तभार में कमी होने तथा श्वासावरोध (Asphyvia) के कारण अप्रत्यक्षतया हृत्पेशी पर कुछ प्रभाव पड़ता है। किन्तु अहिफेन विषमयता में हृत्कार्य प्रायः अन्ततक चालू रहता है और मृत्यु श्वसनकेन्द्राघात (Failure-of respiratory centre) के कारण होती है। औपशयिक मात्रा में रक्तभार पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि त्वचा की छोटी रक्तवाहिनियों का साधारण विस्फार एवं चेहरे पर लालिमा हो सकती है। अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने पर रक्तभार गिर जाता है। श्वासावरोध की अवस्था में आकृति नीलवर्ण की (Cyanotic) हो जाती है। श्वासावरोध ज्यों ज्यों बढ़ता है, नाड़ी भी मन्द होती जाती है। हृदय एवं रक्तवा-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हिनी गत उक्त सभी कर्म श्वसनकेन्द्र पर होने वाले प्रभावों के परिणाम स्वरूप होते हैं अर्थात् अप्रत्यक्षतया होते हैं।

श्वसन—साधारण मात्राओं से जिसमें प्रमीलक प्रभाव न हों (Non-narcotic doses) प्रयुक्त होने पर मॉर्फीन श्वसन को शान्त करता है और यदि श्वसनशीघ्रता है, तो उसको कुछ मन्द करता तथा यदि श्वसन उत्तान (Shallow) हो तो इसको गम्भीर करता है। किन्तु अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने पर यह श्वसन पर स्पष्ट अवसादक प्रभाव करता है, यह मॉर्फीन तथा अफीम का विशिष्ट प्रभाव है। श्वसन उत्तरोत्तर मन्द एवं उत्तान होने लगता है, यहां तक कि प्रतिमिनट ३–४ वार तक हो जाता है। साथ ही यह अनियमित होकर चीनेस्टोक्स (Cheyne stokes) या ब्वायट (Biot's type) प्रकार का हो जाता है। शास्त्रज्ञों का मत है कि उक्त कर्म श्वसन केन्द्र (Respiratory centre) के अवसाद (Depression) के कारण होते हैं। मॉर्फीन तथा इसके यौगिक श्वसनकेन्द्र की उत्तेजनशीलता (Irritability) को कम करते हैं। मॉर्फीन, डायोनीन तथा कोडीन अल्पमात्रा में कासकेन्द्र (Cough-centre) को भी अवसादित करते हैं। अल्प मात्रा में प्रयुक्त होने पर श्वासनलिका की पेशियों पर भी शैथिल्यजनक प्रभाव होता है। पापवरीन तथा नार्कोटीन द्वारा यह क्रिया और भी प्रबल रूप से होती है। विषाक्त मात्राओं में श्वासनलिकायें इसके विपरीत संकुचित होती हैं। विषाक्तताजन्य मृत्यु प्रायः **श्वसनकेन्द्राघात** तथा **श्वासावरोध** के कारण होती है।

नाड़ीसंस्थान—अहिफेन का मुख्यकार्य केन्द्रीय नाड़ी मण्डल (Central Nervous System) पर होता है। यह केन्द्रीय नाड़ी मण्डल को अवसादित करता है। इसके कारण स्पष्ट उत्तेजना होती है और इसका प्रभाव परिसरीय नाड़ीमण्डल पर व्यक्त नहीं होता। इस क्रिया में अफीम अल्कोहल् तथा क्लोरोफॉर्म की समानता रखता है अन्तर केवल यह है, कि अल्प मात्राओं में भी (जिसमें संज्ञा में कोई अन्तर नहीं होता) यह श्वसन केन्द्र को प्रभावित करता तथा वेदना का निवारण करता है। थोड़ी मात्रा में सेवन करने पर यह प्रथम तो उच्च मानसिक केन्द्रों (Higher Faculties) को उत्तेजित करता है। जिसमें भिन्न भिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं। किन्हीं किन्हीं में तो किंचित् मनःप्रसाद की अनुभूति होती तथा जान्तवप्रवृत्तियाँ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्वतंत्र हो जाती हैं, किन्हीं किन्हीं में विचार शक्ति उच्च हो जाती तथा चित्तैकाग्रता करने की शक्ति उत्पन्न हुई सी प्रतीत होती है। जिससे प्राणी किसी विषय विशेष पर अपने ध्यान को केन्द्रीभूत (Concentrate) कर सकता है। अल्प मात्राओं में सेवन करने पर जिसमें उक्त मानसिक प्रभाव न हों, वेदना कास, क्षुधा, तथा क्लान्ति की संवेदनाओं की अनुभूति अवसादित हो जाती है। किन्तु, अधिक मात्रा से रोगी वाह्य उत्तेजनाओं से शून्य सा होकर ऊंघने लगता है। इस प्रकार की निद्रा से जागने पर हृल्लास तथा शिरःशूल का उपद्रव हो जाता है। प्रगाढ़ निद्रावस्था में वाह्य संवेदना और (यथा त्वचा में सुई चुभोना, यकायक भींगा कपड़ा शरीर पर डालना आदि) का प्रभाव रोगी पर नहीं पड़ता और वह जल्दी प्रबुद्ध नहीं होता। इस अवस्था में उच्च से लेकर उत्तरोत्तर निम्न श्रेणी के केन्द्र अवसादित होने लगते हैं। वास्तव में अहिफेन से प्रथम सबसे बाद विकसित होने वाले केन्द्र उत्तेजित होते हैं और क्रमशः विपरीत प्रकार प्रथम विकसित केन्द्रों पर प्रभाव पड़ता जाता है। किन्तु स्मरण रहे कि मॉर्फीन अल्प मात्राओं में–अर्थात् जिनमें उक्त प्रमीलनजन्य अनभीष्ट प्रभाव न उत्पन्न हों–भी वेदना हर प्रभाव करता है। इसकी यह क्रिया ट्रैक्ट Tracts जिसके द्वारा संवेदनाओं का संवहन होता है अवसादित होने के कारण होती है। किन्तु यदि मात्रा अत्यधिक हो तो उत्तेजना प्रायः क्षणिक–सी होती है अथवा कभी प्रायः नहीं भी होती। विषाक्त–मात्रा में मूर्च्छा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तथा केन्द्र अत्यधिक अवसादित हो जाते हैं।

मेडुलागत केन्द्रों (Medullary Centres) पर भी अफीम का प्रभाव होता है। जिसके परिमाण स्वरूप श्वसन एवं कास केन्द्र तो अवसादित होते, किन्तु प्राणदा एवं वमन केन्द्र उत्तेजित होते हैं। वाहिनीसंकोचक केन्द्र (Vaso-Constrictor Centre) भी उत्तेजित होते हैं, किन्तु त्वचा, शिर एवं ग्रीवा प्रदेश की रक्तवाहिनियों पर यह प्रभाव नहीं होता। अत्यधिक मात्रा में वमनोत्तेजक प्रभाव भी नहीं होता। नेत्र प्रचेष्टिनी नाड़ी (Oculo Motor nerve) केन्द्र उत्तेजित होने के कारण कनीनिका संकुचित हो जाती है।

अफीम तथा मॉर्फीन से सुषुम्ना की प्रत्याक्षिप्त क्रियायें (Refle xcitability) उत्तेजित होती हैं। निम्न श्रेणी के जन्तुओं में यह क्रिया विशेष रूप से लक्षित होती है। मनुष्यों में प्रायः अवसादक प्रभाव ही देखा जाता है। किन्तु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कभी २ मनुष्यों में भी उत्तेजक प्रभाव होता देखा जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप आक्षेप लक्षित होते हैं।

नाड़ी तथा पेशियाँ—साधारण मात्राओं में परिसरीय चेष्टावह एवं संज्ञावह नाड़ियों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव उग्र विषाक्तता की अवस्था में केन्द्र के तीव्ररूपेण अवसादित होने पर भी ऐच्छिक पेशियों की क्रियाशीलता बिल्कुल नष्ट नहीं होती, जिससे यदि रोगी को सहारा दिया जाय तो वह चल फिर सकता है। किन्तु केन्द्रगत प्रभाव के कारण पेशियों में क्रिया-असहयोग (Incoordination) अवश्य हो जाता है।

गर्भाशय—औषधीय मात्रा में गर्भाशय की गति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। प्रसव के समय इसके प्रयोग से, औदरी पेशियों एवं प्रसवकालिक गति पर संशामक प्रभाव होने के कारण गर्भ की पुरस्सरण गति का कुछ निरोध अवश्य हो सकता है।

तापक्रम—त्वचा की रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होने एवं स्वेदल प्रभाव तथा मति का अपस्तद होने से ताप की उत्पत्ति कम होने के कारण यह तापक्रम को कम करता है।

नेत्र—अल्प मात्रा में भी यह नेत्र की पुतली का संकोच करता है, जो विषाक्तता की अवस्था में तो सुई की नोक की भांति संकुचित हो जाती है। किन्तु श्वासावरोध की अवस्था उत्पन्न हो जाने पर यह प्रभाव जाता रहता है और कनीनिका विस्फारित होने लगती है। उक्त क्रिया भी अफीम-मार्फीन के केन्द्रीय प्रभाव से ही होती है।

वृक्क—मूत्र की राशि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता यद्यपि मूत्राशय के द्वारका संकोच होने के कारण अंशतः मूत्रावरोध (Retention of urine) हो सकता है। मार्फीन का उत्सर्ग वृक्कों द्वारा मूत्र के साथ होता है, जो मूत्र में इसी रूप में पाया जाता है। अतएव मूत्रमार्ग से उत्सर्ग के समय इसके पुनः शोषण की आशंका हो सकती है। कतिपय शास्त्रज्ञों के मतानुसार मूत्र में यूरिया की मात्रा तथा मधुमेही के सेवन करने से मूत्रगत शर्करा की राशि कम होती है।

स्राव—पसीना एवं दूध को छोड़कर प्रायः सभी शारीरिक स्रावों को यह कम करता है। अपरागत रक्तसंवहन द्वारा संवाहित होने के कारक गर्भिणी के अहिफेन सेवन से बालक (गर्भगत) को मृत्यु संभव होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शोषण तथा उत्सर्ग—श्लैष्मिक कलाओं तथा छिली हुई त्वचा से मार्फीन का शोषण क्षिप्रतापूर्वक होता है। स्वाभाविक त्वचा से इसका शोषण बहुत कम होता है। रक्तपरिभ्रमण में पहुंचने के वाद यह शारीरिक धातुओं में पहुंचकर थोड़े समय के लिए वहीं संचित हो जाता है। इसमें लगभग १०% तो स्वाभाविकावस्था में ही उत्सर्गित हो जाता है, किन्तु शेष ९०% शरीर के अन्दर ही रूपान्तरित कर दिया जाता है। इसका निस्सरण प्रधानतया वृक्क तथा आमाशयान्त्रप्रणाली द्वारा और अंशतः पसीना एवं स्तन्य के साथ होता है। इसका उत्सर्ग शरीर से दो स्वरूप में होता है—(१) स्वतंत्र तथा (२) 'बद्ध' (Combined or bound), जिन लोगों में अफीम के प्रति सह्यता अधिक होती है उनमें साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा 'बद्धस्वरूप' की मार्फीन का उत्सर्ग अपेक्षाकृत कम मात्रा में होता है।

सह्यता (Toleration)

अहिफेन उन द्रव्यों में से है, जिनका लगातार अधिक काल पर्यन्त सेवन करने से सेवन करने वाले के शरीर में उसके प्रति सह्यता उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् उन्हीं प्रभावों के लिए कुछ काल पर्यन्त उत्तरोत्तर मात्रा में वृद्धि करनी पड़ती है। अथवा धीरे धीरे रोगी में सह्यता के कारण ऐसी क्षमता हो जाती है कि अधिक मात्रा में भी इसको सेवन कर लेने पर घातक लक्षण नहीं प्रगट होते।

अहिफेन की तीव्र विषमयता—

भारतवर्ष में आत्महत्या के लिए इसका प्रयोग बहुत किया जाता है। विषाक्तता होने पर रोगी निद्रालु हो जाता है। जो प्रारम्भ में तो कुछ देर तक साधारण स्वरूप की होती है, परन्तु बाद में प्रगाढ़ स्वरूप की हो जाती है। और वाह्य उत्तेजनाओं से भी रोगी नहीं जागता। आंख की पुतली सुई की नोक की तरह संकुचित हो जाती है। त्वचा ठंढी तथा चिपचिपी सी हो जाती है। चेहरा और ओंठ नीलवर्ण के तथा नाड़ी दुर्वल तथा मन्द हो जाती है। श्वसन मन्द तथा अनियमित और अन्त में घर्घर युक्त हो जाता है। अन्ततः प्राणी श्वासावरोध से मर जाता है। मृत्यु के पूर्व पुतली पुनः विस्फारित हो जाती है।

प्रतिकार—तीव्र विषमयता—में सर्व प्रथम आमाशय को बार-बार धोना चाहिए। वामक औषधियों के प्रयोग से बहुधा लाभ की सम्भावना नहीं होती, क्योंकि इसमें वमन केन्द्र अवसादित हो गया रहता है, अतएव वामक द्रव्यों को

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्रियापर विश्वास नहीं किया जा सकता। वमन कराने के लिए रीठे (अरिष्टक) का झाग युक्त जल या राई या सरसों मिलाकर उष्ण जलका भी प्रयोग किया जा सकता है। रीठा का प्रयोग परम लाभकरी सिद्ध होता है। पोटासियम् परमैंगनेट (Potassium Permanganate) अहिफेन का रासायनिक प्रतिविष है। इसे ½ से १ पाव जल में २-४ रत्ती की मात्रा में घोलकर विलयन को तुरंत आमाशय धोने के पूर्व पिला देना चाहिए। इसके हल्के विलयन को आमाशय प्रक्षालन के लिए भी प्रयुक्त कर सकते हैं। अफीम विषमयता में विशेषतया श्वसन केन्द्र आक्रान्त होता है, अतएव श्वसन को उत्तेजित करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसके लिए कॉफी आदि उष्णपेय पिलाते रहना चाहिए। श्वसन केन्द्र को उत्तेजित करने के लिए $\frac{1}{40}$ ग्रेन सूचीसत्व (अट्रोपीन) का इन्जेक्शन करना चाहिए। इसकी अधिक मात्रा से श्वास क्रिया दुर्बल होती है। अतएव ऑक्सीजन तथा कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को मिलाकर सुंघाने से भी लाभ होता है। लेप्टाजोल तथा निकेथामाइड (कोरामीन) आदि श्वसन केन्द्रोत्तेजक औषधियों का भी सूचिकाभरण करना चाहिए। कुपीलुसत्त्व स्ट्रिक्नीन $\frac{1}{60}$ ग्रेन की मात्रा में ३-३ घण्टे के अन्तर से इन्जेक्शन द्वारा प्रयुक्त करें। आमाशय को धोने के बाद बिनौले का क्वाथ पिलाने से अहिफेन विष में लाभ होता है। हींग और जुंदवेदस्तर को यथासम्भव खाई हुई अहिफेन की मात्रा के समान खिलाना चाहिए। मकरध्वज, कस्तूरी, जवाहर मोहरा, जहरमोहरा की पिष्टी को मधु के साथ देने से लाभ होता है। रोगी को जगाते रहना चाहिए। कृत्रिम श्वसन (Artifical Respiration) भी करा सकते हैं।

चिरकालीन अहिफेन विषमयता—

प्रायः अधिक काल पर्यन्त अहिफेन का सेवन करते रहने से रोगी इसका आदी हो जाता है। अतएव औषध्यर्थ भी यदि अधिक कालपर्यन्त इसका सेवन कराना हो तो रोगी को इसका ज्ञान नहीं होने देना चाहिए कि उसको अफीम का सेवन कराया जा रहा है। भारत, चीन, फारस तथा टर्की में इसके नशे के सेवी बहुत पाये जाते हैं। नशे के लिए इसका सेवन मुख द्वारा अथवा धूम्रपान के रूप में करते हैं। धूम्रपान के लिए मदक का प्रयोग करते हैं। इसके चिरकाल सेवन से शरीर क्षीण एवं कृश हो जाता है, पेशी दौर्बल्य, मानसिक अवसाद एवं खिन्नता, नाड़ीदौर्बल्य एवं मन्दता, क्षुधानाश,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मलविबन्ध आदि उपद्रव हो जाते हैं। धीरे धीरे कामावसाद होकर नपुंसकता की सी हालत हो जाती है। स्त्रियों को रजोनाश (Amenorrhoea) हो जाता है। पुतली प्रायः संकुचित रहती है।

प्रतीकार—धीरे धीरे आदत छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। चाय, कोको तथा अमोनिया आदि का सेवन करें। यदि आवश्यक हो तो अलकोहल या ब्राँडी का भी प्रयोग कर सकते हैं। यह अफीम सेवी को प्रतिदिन निश्चित समय पर अफीम की उचित मात्रा न मिले तो—मानसिक उत्तेजना, बेचैनी, आमाशय शूल तथा पृष्ठवंशमें जलन की अनुभूति आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोगी को यदि ज्ञान न हो कि वह अहिफेन लेता रहा है, तो यह लक्षण नहीं भी होते हैं। इसके अतिरिक्त वमन, अतिसार, प्रस्वेद तथा शुक्रस्खलन आदि उपद्रव भी उत्पन्न हो सकते हैं।

अहिफेन के प्रभाव में परिवर्तन करने वाली अवस्थायें—निम्नकारणों से अहिफेन के प्रभाव में अन्तर होता है—

(१) आयु—बालकों में इसके विषाक्त प्रभाव होने की सम्भावना अधिक होती है। अतएव इनको अहिफेन घटित योगों का सेवन कराते समय सतर्कता से काम लेना चाहिए।

(२) लिङ्ग (Sex)—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में पश्चात्प्रभाव अधिक होते हैं। साथ ही इसका उत्सर्ग स्तन्य के साथ भी होने से स्तनन्धयशिशु की मां को इसका प्रयोग सतर्कता के साथ करना चाहिए।

(३) स्वभाववैशिष्ट्य (Idiosyncrasy)—किन्हीं व्यक्तियों में अफीम के प्रति तीव्र असह्यता होती है। अतएव इनमें प्रारम्भिक मात्राओं से भी अनिष्टकर प्रभाव लक्षित होते हैं।

(४) आदत (Habit)—अधिक काल तक सेवन करने से इसके प्रतिसह्यता उत्पन्न हो जाती है, जिससे उसी व्यक्ति में पूर्वोत्पन्न प्रभाव के लिए कालान्तर में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा देने की आवश्यकता पड़ती है।

रोग—यदि वेदना उग्र स्वरूप की है तो वेदनाशमन के लिए अपेक्षाकृत अधिक मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। वृक्क, हृदय फुफ्फुस के रोगों तथा मस्तिष्कगत रक्ताधिक्य एवं अलकोहल् मदात्यय (Alcoholism) में इसका प्रयोग सतकर्ता से करना चाहिए।

औषधियाँ—क्लोरलहाइड्रेट, पोटासियम ब्रोमाइड तथा क्लोरोफॉर्म के साथ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

देने से इसके निद्राकर प्रभाव में वृद्धि एवं सहायता होती है। वेलाडोना का संयोग करने से इसके विवन्धकारक प्रभाव का निवारण होता है।

अफीम तथा मॉर्फीन के गुण कर्म में अन्तर—यद्यपि बहुत-कुछ अंशों तक दोनों के गुणकर्म एवं प्रभाव समान ही होते हैं, तथापि कतिपय बातों में इन दोनों के प्रभाव में अन्तर भी है, जो निम्नलिखित है।

अफीम	मार्फीन
(१) इसके यौगिकों का विलयन, शोषण एवं क्रिया मन्द गति से होती है किन्तु प्रभाव अधिक स्थायी होता है।	(१) इसके योगिकों का विलयन शोषण एवं प्रभाव शीघ्रतया होता है किन्तु प्रभाव उसकी अपेक्षा कम स्थायी होता है।
(२) इसमें मार्फीन के अतिरिक्त आक्षेपकारक, थिवेन कोडीन तथा नार्कोटीन आदि घटक भी होते हैं।	(२) यह अफीम का एक स्वतंत्र घटक है।
(३) स्थान, भेद आदि के कारण संघटन में भिन्नता होने से विभिन्न प्रकार के अफीमों की क्रिया में भी वहुत-कुछ अन्तर हो सकता है।	(३) संघटन निश्चित होने से क्रिया में कोई भेद नहीं होता।
(४) मलविवन्ध, हृल्लास (Nausea) एवं पाचन की विकृति अधिक स्पष्ट होती है।	(४) अफीम की अपेक्षा ये विकृतियाँ कम स्पष्ट होती हैं।
(५) स्वेदल प्रभाव तीव्रतर।	(५) मन्दतर या नहीं के बराबर।
(६) संशामक (Sedative) एवं निद्रल (Hypnotic) प्रभाव मार्फीन की अपेक्षा मन्दतर।	(६) उक्त प्रभाव। अफीम की अपेक्षा तीव्रतर।
(७) मधुमेही के मूत्रगत शर्करा में कम करने की शक्ति अधिक।	(७) अफीम की अपेक्षा कम या विशेष नहीं।
(८) आन्त्रों पर स्थानिक प्रभाव अधिक स्पष्ट।	(८) आन्त्रोंपर स्थानिक प्रभाव अफीम की अपेक्षा मन्दतर।
(९) इन्जेक्शन द्वारा प्रयुक्त नहीं हो सकता है।	(९) होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्रियाविरोधीद्रव्य (Antagonists)—अट्रोपीन, कॅफीन, कोकेन तथा स्ट्रिक्नीन ऐसे द्रव्य हैं जो मॉर्फीन के किसी न किसी गुण के प्रत्यनीक प्रभाव करते हैं। मॉर्फीन तथा आट्रोपीन (Atropine) की तुलना यहां दी जाती है:—

मार्फीन	एट्रोपीन
(१) मस्तिष्क की कर्णिकायें (Cerebral convolutions) अवसादित होती हैं।	(१) मस्तिष्क की कर्णिकायें उत्तेजित होती हैं।
(२) श्वसनकेन्द्र अवसादित होता है।	(२) उत्तेजित होता है।
(३) आन्त्र की पुरस्सरण गति निरोध होकर मल विबन्ध होता है।	(३) पुरस्सरण गति में सुधार होता है, जिससे मलविबन्ध नहीं होता।
(४) प्राणदाकेन्द्र उत्तेजित होकर हृन्मन्दता होती है।	(४) प्राणदाकेन्द्र अवसादित होकर हृच्छीघ्रता होती है।
(५) पुतली संकुचित होती है (केन्द्रिक प्रभाव से)	(५) विस्फारित होती है (तृतीय मूर्धजानाड्यग्रों के अवसादित होने से)
(६) त्वचागत रक्तवाहिनियों (Cutaneous vessels) को विस्फारित कर के स्वेदल (Diaphoretic) प्रभाव करता है।	(६) ग्रन्थिस्थित अन्तिम नाड्यग्रों द्वारा स्वेदावरोधक (Anhydrotic) प्रभाव करता है।

आमयिक प्रयोग—

फलत्वक्—यह भी अहिफेन के समान निद्राजनक, वेदनास्थापक, संग्राहि एवं रक्तस्तम्भक होता है। शिरःशूल, अर्द्धविभेदक, अनन्तवात, पार्श्वशूल, कटिशूल, आमवात तथा गृध्रसी आदि में सेक आदि के लिए इसका प्रयोग लाभकारी होता है। नेत्राभिष्यंदादि में इसका लेप किया जाता है। अन्य औषधियों के साथ इसकी पोटली बनाकर नेत्र पर फिराते हैं। कर्णशूल में इसके बाष्प का सेवन लाभकारी होता है। प्रसवोत्तर वेदना में इसके द्वारा सेक करते हैं। कण्ठ दोष जन्य शुष्ककास में इसके गण्डूष से अद्भुत लाभ होता है। सन्नि-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पात मद, उन्माद तथा अनिद्रा में इसका क्वाथ देते तथा सिर पर इसका लेप करते हैं। इसका चूर्ण अतिसार में प्रयुक्त होता है। भैषज्यरत्नावलीकार का, अतिसाराधिकार में वर्णित "सिद्धयोग" एक विश्वसनीय अतिसारघ्न औषधि है, जिसमें पोस्ते के छिलके का प्रयोग किया गया है। यूनानी चिकित्सक इसके शर्वत चटनी (शर्वतखश्खाश, लऊक खश्खाश, दियाकूजा) आदि का प्रयोग करते हैं। यह योग कास तथा रक्तष्ठीवन में प्रयुक्त होते हैं। 'लऊकसपिस्ताँ' नामक प्रसिद्ध यूनानी कासहर योग में इसका मुख्य प्रयोग है।

खाखस तिल—यह वाह्यत्वचा का अवसादक है। शिर पर लेप करने से तथा अधिक मात्रा में खाने से निद्राजनक होता है। विवन्धकारक, ग्राही अतिसार नाशक तथा आन्त्रगतरक्तस्रावनाशक होता है। शरीर की पीड़ा शमनार्थ इसको पीसकर अन्य औषधियों के साथ लेप करते हैं, शर्करा के साथ लेने से उरः कण्ठ और फुफ्फुस की कर्कशता एवं रूक्षता नष्ट होती है। पित्तज व शुष्क कास, रक्तष्ठीवन तथा यक्ष्मा आदि में लाभ होता है। यकृत एवं वृक्क का दौर्वल्य नष्ट होता है। यह पौष्टिक है। वादाम के साथ लेने से अधिक पुष्टिदायक होता है। पीसकर शहद के साथ चाटने से वाजीकर एवं शुक्रल प्रभाव करता है। प्रसवोत्तर काल में स्त्रियाँ इसका सेवन करती हैं। यह विषाक्त प्रभाव नहीं करता। शार्ङ्गधरकार ने दारुणक रोग में दुग्ध के साथ पीसकर इसके लेप का निर्देश किया है (दुग्धेन खाखस वीजं प्रलेपाद्दारुणं जयेत्)।

मात्रा—१ से ३ माशा।

खाखसतिल तैल—इसके तैल का कर्म बहुत प्रवल नहीं होता। यह निद्राजनक एवं ग्राही होता है। शिर पर मलने से शिरःशूल नष्ट होता है। कर्णशूल में इसको कान में डालने से शूल नष्ट होता है। कास नाशक भी है।

१—लिसोढ़ा ५० नग, उन्नाव २० नग, पोस्त की डोड़ी २ तो०, मुलैठी १ तो०, सफेद खत्मीबीज, खीरा व ककड़ी के बीज प्रत्येक ४ माशा, वीहीदाना ३ माशा, इन सबको ऽ२ सेर जल में क्वाथ करें और ऽ॥ चीनी में चाशनी तैयार करें। चाशनी के अन्त में निस्तुषीकृत यव का शीरा (पतला कल्क), छिल्का उतारी हुई वादाम की गिरी का शीरा (पतला कल्क) पोस्ते के दाने का शीरा (पतला कल्क) प्रत्येक १ तो० मिलादें। चाशनी तैयार होने पर मुलैठी सत, कतीरा, ववूल का गोंद, प्रत्येक ३ माशा पीसकर मिलावें। मात्रा ६ माशा से १ तो०। यह योग प्रतिश्याय, शुष्क कास के लिए लाभकारी एवं कफ निस्सारक है (यु० सि० यो० सं०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अहिफेन के प्रयोग—

अतिसारे ग्रहण्याञ्च योज्यश्चासेऽहिफेनकम्।
वेदनासु च शोथेषु शुक्रस्तम्भार्थमेव च॥
प्रयोगेण सदायाति निद्रात्यन्त सुखप्रदा।
तत्कालमेव कष्टानाम् शमनम्परिजायते॥
शोणितस्याथचान्त्रस्थे स्रावे लाभकरं मतम्।
लेपेनार्शोहरं नेत्र पीड़ा शोथादिनाशनम्॥
मार्फीन नामकं सत्वं सूचिकाभरणोचितम्
वेदनाविनिवृत्त्यर्थं विशेषेण फलप्रदम्॥ (स्व०)

बाह्य—स्थानिक प्रयोग से अहिफेन का मुख्य प्रभाव वेदनाहर एवं संशामक (Sedative) होता है। अहिफेनयुक्त गरम पुलटिस और सेंक फुफ्फुसावरण शोथ (Pleurisy) आमवात (Rheumatism), औदर्य्या कलाशोथ (Peritonitis), कटिशूल तथा संधिशोथ में बहुत उपयोगी होता है। कर्ण-शूल (Ear-ache) नाश के लिए कर्णरोगाधिकार के निम्न तैलों में से किसी एक में $\frac{1}{१२}$ भाग मात्रा में अहिफेन मिलाकर किञ्चिदुष्ण कान में डालने से बहुत लाभ होता है। विल्व तैल, क्षार तैल, दार्व्यादि तैल, निशाद्य तैल आदि। आज-कल, आधुनिक लोग ग्लिसरीन में अहिफेन के टिंक्चर लॉडेनम् को समान मात्रा में मिलाकर कान में छोड़ते हैं। अहिफेन एवं मार्फिया की गुदवर्ति (Suppository) तथा माजूफल एवं अहिफेन का मलहर (Ointment) लगाने से गुदचीर एवं अर्श की पीड़ा को शान्त करने के लिए प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार की गुदवर्ति के प्रयोग से मलाशय कुन्थन (Rectal tenesmus), मूत्रमार्ग उद्वेष्टन (Urethral Spasm) और श्रोणिशूल (Pelvic pains) भी नष्ट होते हैं। अर्शोवेदना एवं गुदविदार में वेदनाहरण के लिए निम्न वेदनान्तक मलहर परमोपयोगी होता है। इसका व्यवहार करना चाहिए:—

सिक्थ तैल—१२ तोला
अहिफेन—१२ मा०
सिन्दूर—१२ मा०

इसी योग में माजूफल चूर्ण ३ तोला मिला दिया जाय तो ज्यादा अच्छा है। इस योग में सिक्थतैल के निर्माण में यदि निम्ब तैल का ग्रहण किया जाय तो

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अधिक उत्तम है। वातिक वेदना (Neuralgic pain) में मॉर्फीन के अधस्त्वग् सूचिका भरण (Subcutaneous injection) से बहुत लाभ होता है। अहिफेन और रसाञ्जन का लेप नेत्ररोगों को दूर करता है। कटुतैल या तिल तैल में अहिफेन मिश्रित कर वातिक शूल में मालिश की जाती है। विषगर्भ, प्रसारिणी या पञ्चगुण तैल में अहिफेन मिश्रित कर वातव्याधि में मालिश करते हैं।

आन्तरिक प्रयोग—अफीम का प्रधान प्रयोग उत्तेजना एवं क्षोभ की शान्ति, वेदना शमन एवं निद्रा लाने के लिए किया जाता है।

मुख तथा आमाशय—अहिफेन तथा मॉर्फीन से आमाशयिक शूल नष्ट होता है इस प्रकार यह आमाशयिक व्रण (Ulcer), आमाशयिक कर्कटार्बुद (Cancer) तथा मदात्यय जन्य आमाशय शोथ (Gastritis) में विशेष उपयोगी है। इस प्रकार की वेदना को शान्त करने के लिए रसतरङ्गिणीकार द्वारा निर्मित वेदनान्तकरस का प्रयोग करना चाहिए। विस्मथ के साथ मॉर्फीन हृद्दाह युक्त या हृद्दाहरहित आमाशयशूल (Gastrodynia) को शान्त करता है।

आन्त्र—आजकल तीव्र चिरकालीन तथा क्षयजन्य सभी प्रकार के अतीसार की चिकित्सा के लिए अहिफेन एक सर्वश्रेष्ठ औषधि मानी जाती है। अतिसार (Diarrhoea) एवं ग्रहणी (Dysentery) में दुष्ट मल को निकालने के बाद अहिफेन की २-१ मात्रा देने से ही अभीष्ट कार्य हो जाता है। आयुर्वेद में अतिसार नष्ट करने के लिए निम्न योगों का उल्लेख आया है। इन योगों को सेवन करने से, इनमें अहिफेन के साथ अन्य द्रव्यों के मिश्रित होने के कारण एक तो अहिफेन के दोषों का निवारण होता तथा दूसरे उसके गुण में वृद्धि हो जाती है। वैद्यों को आन्त्र रोगों की चिकित्सा में अहिफेन के प्रयोग के लिए उपयुक्त अवस्थाओं में इन योगों का प्रयोग करना चाहिये:—

अतिसार के लिए—कर्पूर रस (भै० र०) पूज्य महाराज यादवजी द्वारा भैषज्य रत्नावली से किंचित्परिवर्तित लवङ्गाभ्रकयोग, अहिफेन वटिका (भै० र०) चाङ्गेरी के साथ शुद्ध अहिफेन, अतीसार नाशक रस (भै०, र०), सिद्ध गान्धार, रस (भै० र०) और अभयनृसिंह रस (भै० र०) आदि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ग्रहणी के लिए—साहिफेन बृहद्गंगाधरचूर्ण, ग्रहणी शार्दूल वटिका (भै० र०), दुग्धवटी (भै० र०), अगस्तिसूतराजरस (भै० र०) अजाज्यादि-चूर्ण (भै० र०) आदि।

आजकल अतिसार में प्रायः इसको विस्मथ (Bismuth) के साथ तथा ग्रहणी (Dysentcry) में एरण्डतैल के साथ प्रयुक्त करते हैं। विशूचिका की प्रारम्भिक अवस्था में जब कि अतिसार एक प्रधान लक्षण होता है, अहिफेन का प्रयोग लाभकारक होता है। किन्तु शीतावस्था (Cold stage) में इसका प्रयोग उचित नहीं होता। इस अवस्था में भैषज्यरत्नावली का अहिफेनासव प्रयुक्त करना चाहिए। रसतरङ्गिणीकार का अहिफेनासव भी आधुनिक टिंक्चर ओपियाई या लॉडेनम् (Laudanum) या टिंक्चर ओपियाई कैम्फोरेटा से मृतसंजीवनीसुरा में बनाया जाने के कारण उत्तम होता है। भैषज्यरत्नावली का योग उससे भी उत्तम है। इसे भी मृतसंजीवनी सुरा में ही वनावें। आन्त्रसंकोचातियोग-जन्यशूल (Intestinal colic) में भी इसका प्रयोग लाभप्रद होता है। उदर्य्याकलाशोथ (Peritonitis) में भी अहिफेन की विशेष उपयोगिता होती है। क्योंकि यह वेदना एवं वेचैनी के शमन के साथ आन्त्रगति को भी कम करता है। इस स्थिति में मार्फीन की अपेक्षा ओपियम् का प्रयोग अधिक उपयुक्त होता है। उपर्युक्त योगों का प्रयोग इन सभी अवस्थाओं में भी किया जाता है।

अहिफेनवस्ति Enema opii (स्टार्च के म्युसिलेज में बनाया गया २ से ६ प्रतिशत विलयन), १ से २ छटांक की मात्रा में प्रयुक्त करने से मलातिसरण, स्थानिकक्षोभ तथा मलाशयोद्वेष्ट का निवारण होता है। इसके अतिरिक श्रोणिगुहा-न्तर्गत मलाशय—समीपवर्ती अंगों पर भी संशामक प्रभाव होता है। उदर पर शस्त्र-कर्म एवं मूत्रशलाका (Catheteri sation) प्रयोग के पूर्व अहिफेन की वस्ति करने से शल्यकर्मोत्तर शीतकम्प (Rigeor) की आशंका नहीं रहती। स्थानिक क्षोभ एवं निद्रा वेदना शान्ति के लिए तो अल्प मात्रा में ही काम चल जाता है, किन्तु उत्पन्न करने के लिए वस्तिमें अफीम की मात्रा अधिक रखनी पड़ती है।

हृदय तथा रक्तवाहिनियाँ—अहिफेन और विशेषतः मार्फीन का प्रयोग कभी कभी हृद्रोगों में किया जाता है। इस कार्य के लिए यदि अहिफेन देना है तो रसतरङ्गिणी के वेदनान्तक रस का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा। मॉर्फीन तथा उसका डाइलॉडिड (Dilaudid) प्रयोग हृद्धमनी-अवरोध (Coronary occlusion)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तीव्रशूल का शमन करता है। हृच्छूल (Angina pectoris) तथा हृद्विकार जन्य श्वासकृच्छ्रता (Dyspnoea) में इसके प्रयोग से बहुत कुछ कष्टनिवारण होता है। $\frac{1}{6}$ ग्रेन मार्फीन का इन्जेक्शन कर देने से रोगी को निद्रा आ जाती है और जागने के बाद वह अपने को व्याधिमुक्त सा अनुभव करता है। हृद्विकारजन्य जलोदर अथवा सर्वांगशोथ में जब हृदय पर दबाव पड़ने के कारण श्वास कृच्छ्रावस्था उत्पन्न हुई हो तो ऐसी स्थिति में वेदना निवारण के हेतु मॉर्फीन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। वृक्क विकृति में अहिफेन का प्रयोग कतिपय शास्त्रज्ञों की राय में निषिद्ध है, किन्तु कतिपय विद्वान वृक्कजश्वासकृच्छ्र तथा मूत्रविषमयता जन्य आक्षेप (Uraemic convulsions) में $\frac{1}{6}$ ग्रेन मॉर्फीन के अधः स्त्वक् सूचिकाभरण का निर्देश करते हैं। इसके अवसादक प्रभाव को रोकने के लिए इसके साथ अट्रोपिन (Atropine) मिलाते हैं। आभ्यन्तरिक्त रक्तस्रावी अवस्थाओं–विशेषत आन्त्रगत एवं फुफ्फुसगत :(Intestinal or pulmonary) रक्तस्राव (Bleednig) में यह विशेष लाभदायक होता है। आन्त्रगत रक्तस्राव में यह प्रत्यक्षतया आन्त्रगति पर प्रभाव करने के कारण लाभकारी होता है। तथा फुफ्फुसगत रक्तस्राव में अप्रत्यक्षतया हृदयगति को धीमा करने, रक्तभार कम करने तथा कासादि पर संशामक प्रभाव करने एवं निद्रा लाने व मानसिक शान्ति की दशा उत्पन्न करने के कारण रक्तस्राव बन्द होने की स्थिति उत्पन्न कर देता है। रक्त नलिकाओं एवं रक्त आदि पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं होता। आन्त्रगत रक्तस्राव में अतिसार एवं ग्रहणी नाशक उपर्युक्त योगों का प्रयोग करना चाहिए।

श्वाससंस्थान—अहिफेन कास का शमन करता है। परन्तु एतदर्थ इसका प्रयोग सतर्कता के साथ करना चाहिए। जब खाँसी बार बार आती हो तथा बलगम न निकलता हो अर्थात् शुष्क कास हो अथवा स्थानिक नाड्यग्रों के क्षोभ के कारण बार बार सूखी खांसी आती हो तो अफीम का प्रयोग बहुत उपयुक्त होता है। इस प्रकार कुक्कुर कास (Whooping cough) एवं राजयक्ष्मा जन्य कास (जो ट्युबर्किल्स के नाड्यग्रों पर दबाव के कारण उत्पन्न होता है) में इसका प्रयोग बहुत लाभकारी होता है। इसके लिए इसका प्रयोग अवलेह (Linctus) तथा मुखगुटिका (Lozenges) के रूप में कर सकते हैं। बालकों की कुक्कुर खांसी में $\frac{1}{2}$–२ मिनिमम् अवलेह थोड़ी–थोड़ी देर पर चटाते रहना चाहिए। अथवा ३–४ घण्टे के अन्तर से $\frac{1}{60}$ ग्रेन मॉर्फीन का प्रयोग कर सकते हैं। कास तथा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फुफ्फुसोत्थ रक्तस्राव के लिए सिंहास्यादि वटी तथा शोथप्रभा गुटिका (भै० र०) आदि आयुर्वेदीय योग अधिक उपयुक्त एवं उपयोगी हैं। श्वासनलिकाओं के उद्वेष्ठ (Spasm) को निवारण करने के कारण दमा (Asthma) में भी इसका प्रयोग लाभकारी होता है। इसके लिए ध्यान रखना चाहिए कि अधिक कालपर्यन्त सेवन करने से 'अफीम सेवन' की आदत भी पड़ सकती है। फुफ्फुसावरण शोथ तथा न्यूमोनियाँ की प्रारम्भिक अवस्था में इसका प्रयोग वेदनाशमन के लिए बहुत उपयुक्त होता है। किन्तु न्यूमोनियाँ की अन्तिमावस्था में जब कफ का उत्सर्ग होता है, इसे प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। दुर्बल एवं वृद्धों की बलग़मी खांसी में तथा जब श्वासावरोध (Asphyxia) या श्यावोत्कर्ष (Cyanosis) अधिक हो तो इसका प्रयोग निषिद्ध है। जुकाम (प्रतिश्याय) की प्रारम्भिक अवस्था में डोवर्स पाउडर (Dover's powder) का प्रयोग रोग को दबा देता है। अहिफेन को अल्प प्रमाण में कर्पूर, नरसार, अर्कमूलत्वक्, लोवान, लोवान के फूल, जङ्गली प्याज के साथ देने से भी कास-प्रतिश्याय आदि श्वाससंस्थान की व्याधियों में लाभ होता है।

नाड़ी-संस्थान—शुद्ध निद्रलौषधि के रूप में हो मॉर्फीन क्लोरल हाइड्रेट से उत्कृष्ट नहीं है, किन्तु वेदनाजन्य निद्रानाश के लिए यह एक परमोपयोगी औषधि है। इसका उपयोग उग्रव्याधियों में होनेवाले निद्रानाश (Insomnia), उन्माद (Mania) तथा सकम्प प्रलाप (Delirium tremens) आदि अवस्थाओं में किया जाता है। बहुधा इसको ब्रोमाइड्स के साथ सहयोगी औषधि के रूप में भी प्रयुक्त करते है। $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{3}$ ग्रेन मॉर्फीन का अधस्त्वक् सूचिकाभरण करने से पित्त, आन्त्र एवं वृक्कशूलों तथा गृध्रसी (Sciatica) एवं और कहीं भी यदि नाड़ीशूल (Neuralgia) हो तो उसका शमन होता है इसके अतिरिक्त अन्य शोफज अथवा अशोफज व्याधियों में जिनमें पीड़ा अधिक हो तो वेदना शमन के हेतु इसका प्रयोग अत्यंत उपयोगी एवं उपयुक्त होता है। उरः वेदना, अस्थि-भग्न तथा संधि-विश्लेष, उग्र आमवात एवं रजः कृच्छ्रता (Dysmenorrohea) आदि अवस्थाओं में यह प्रयुक्त किया जा सकता है। पीड़ा की अवस्था में इसके प्रति अधिक सह्यता (Tolerance) होती है। इन क्रियाओं के लिए रसतरङ्गिणी के वेदनान्तक रस और निद्रोदय रसों का प्रयोग कर सकते हैं। आजकल तत्काल वेदनाहर एवं निद्रल प्रभाव के लिए मॉर्फीन का प्रयोग किया

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जाता है। वैद्यों को भी सावधानी के साथ यथावश्यक इसका प्रयोग करना चाहिए। यह एक उत्तम विश्वसनीय तत्काल प्रभावकारी ओषधि है।

विभिन्न वातव्याधियों में सिद्ध भैषज्यमणिमाला में वर्णित **महावातराजरस** का प्रयोग करना चाहिए।

आक्षेपहर होने के कारण अफीम, मार्फीन का प्रयोग अनेक आक्षेपयुक्त व्याधियों यथा धनुस्तम्भ (Tetanus), अपस्मार (Epilepsy) तथा बालकों के लासक (Chorea) आदि रोगों में किया जाता है। किन्तु अफीम का प्रयोग करते समय उसके श्वासावसादक प्रभाव को भी ध्यान में रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्याक्षिप्त उत्तेजनाओं में वृद्धि करने के कारण उक्त अवस्थाओं में इसका उपयोग सर्वथा सन्देह शून्य नहीं है। ऐसी स्थिति में क्लोरल या वारविटुरेट्स वर्ग की ओषधियां भी अधिक उपयुक्त होती हैं। सुषुम्ना की कुछ आक्षेप एवं वेदना युक्त विकृतियों में भी मार्फीन का अधस्त्वक् सूचिकाभरण करने से लाभ हो जाता है।

मस्तिष्क पर अवसादक प्रभाव करने के कारण संज्ञाहरणपूर्व निद्रल (Pre-anaesthetic hypnotic) प्रभाव के लिए यह एक उत्तम औषधि है। एट्रोपीन के साथ सूचिकाभरण द्वारा इसको प्रयुक्त कर देने से यह उत्पत् संज्ञाहर (Volatile-anaesthetics) द्रव्यों की क्रिया शीलता को बढ़ा देता है अर्थात् कम मात्रा में भी संज्ञाहर गैस का प्रयोग करने से मात्रा की अपेक्षा बहुत अधिक प्रभाव होता है। फुफ्फुसोत्थ उपद्रवों के होने की आशंका भी कम रहती है। मलविबन्ध कारक प्रभाव करने के कारण आन्त्रगतशस्त्रकर्मोत्तर काल में इसका प्रयोग आन्त्रों को आराम देने के लिए किया जाता है। स्कोपोलामीन (Scopolamine) के साथ देने से मार्फीन के द्वारा भी साधारण शस्त्रकर्मों के उपयुक्त काफी विसंज्ञता उत्पन्न हो जाती है। इसके लिए एक वार $\frac{१}{६}$ ग्रेन मार्फीन का पृथक रूप से इन्जेक्शन करते हैं तथा दूसरा इन्जेक्शन स्वतंत्ररूपेण स्कोपोलामीन ($\frac{१}{२००}$ ग्रेन) का करते हैं। प्रसवकालिक शल्यकर्म के लिए इस संयोग का उपयोग किया जाता है।

वृक्क—विकृत वृक्क से मार्फीन का उत्सर्ग समुचित रूप से नहीं होता। अतएव वृक्करोगों—यथा ब्राइट के रोग (Bright's disease)—में इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए। लेकिन कभी कभी मूत्रविषमयताजन्य निद्रानाश

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(Uraemic insomnia), आक्षेप (Uraemic convulsions) तथा श्वासकृच्छ् की अवस्थाओं में ¼ ग्रेन मार्फीन अधस्त्वग् मार्ग द्वारा प्रयुक्त करने से लाभ भी होता है। अतएव उक्त अवस्थाओं में सतर्कता के साथ इसका प्रयोग किया जा सकता है।

वैद्यों द्वारा शोथ में अहिफेन का प्रयोग दुग्धवटी तथा क्षेत्रपालरस आदि योगों के रूप में किया जाता है। दुग्धवटी के २ पाठ भैषज्यरत्नावलीकार ने शोथाधिकार में वर्णित किये हैं। एक में अहिफेन का योग है और दूसरा अहिफेन रहित है। द्वितीययोग जिसमें अहिफेन नहीं है, वह भी उत्तम है। अहिफेनयुक्त योगों का व्यवहार सतर्कतापूर्वक लवणविरहित दुग्धाहार पर रहकर करने से सर्वांग-शोफ वा वृक्कविकार जन्यशोफ में लाभ होता है। अहिफेन तथा कोडीन (Codeine) का प्रयोग मधुमेह में मूत्रगत शर्करा की मात्रा को कम करने के लिए किया जाता है।

त्वचा—स्वेदल होने के कारण अहिफेन के योग आजकल ज्वर में दिए जाते हैं। डोवर्स पाउडर (Dover's powder) को सर्दी, खांसी इन्फ्लुएञ्जा तथा अन्य ज्वरयुक्त साधारण शोफज विकृतियो में प्रयोग करते हैं। भूम्यामलकी के साथ अहिफेन ज्वर में लाभकारी होता है।

गर्भाशय—अहिफेन गर्भपात की आशङ्का के समय प्रयुक्त किए जाने पर लाभकारी होता है। किन्तु इसके लिए कुछ अधिक मात्रा में प्रयुक्त करना चाहिए। एतदर्थ इसके टिंक्चर अथवा अहिफेनासव को २०–३० बूंद की मात्रा में ३, ४, ६ घंटे के अन्तर से देना चाहिए। सामान्य प्रसव (Normal labour) में इसके प्रयोग को केवल प्रसव की प्रथमावस्था तक ही सीमित रखना चाहिए। इसका उपयोग प्रसवोत्तर वेदना (After pains) की शान्ति के लिएभी किया जाता है।

शुक्रस्तम्भकप्रभाव—बहुत से आयुर्वेदीय अहिफेनघटित योग शुक्रस्तम्भक होने के कारण व्यवहार किए जाते हैं, यथा—आकारकरादि चूर्ण (शार्ङ्गधर-संहिता) तथा कामिनी विद्रावण रस (भैषज्यरत्नावली) आदि—

मलेरिया—यह देखा गया है कि अफीम-सेवी लोगों पर विषम ज्वर का आक्रमण बहुत कम होता है। जब अकेले किनीन से विषम ज्वर ठीक न हो रहा हो, तो कभी कभी अफीम के साथ प्रयुक्त करने से बहुत लाभ होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह विषम ज्वर नाशक प्रभाव अफीमगत नार्कोटीन (Narcotine) नामक उपादान के कारण होता है । किन्तु इस मतमें अनेक विद्वानों ने सन्देह प्रगट किया है ।

अहिफेन के प्रयोग में सावधानी—

(१) मुखमार्ग द्वारा इसका प्रयोग चूर्ण, मिश्रण, रस तथा वटी आदि के रूप में किया जा सकता है ।

(२) मलमार्ग द्वारा इसे गुदवर्ति या वस्ति के रूप में प्रयुक्त करते हैं ।

(३) वाह्यत्वचामार्ग से लिनिमेंट के रूप में प्रयुक्त करते हैं ।

(४) अधस्त्वग् मार्ग से—मार्फीन का प्रयोग किया जाता है । आत्ययिक अवस्थाओं अथवा तात्कालिक प्रभाव के लिए इस मार्ग का अवलम्बन किया जाता है ।

निम्नावस्थाओं में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए—

(१) केन्द्रिक नाड़ी संस्थान की शोफ युक्त एवं रक्ताधिक्य युक्त अवस्थाओं में जैसे मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, अतिश्रमजन्य ज्वर (Ceribral congestion with tendency to apoplexy) आदि ।

(२) फुफ्फुस शोथ (Pulmonary Oedema) तथा कीनेस्टोक्स श्वसन (Cheyne stoke's breathing) में ।

(३) तीव्र आमाशय या अन्त्रविस्फार में । Acute dilatation (Paralysis) of the stomach or bowels.

निम्नावस्थाओं में इसका उपयोग सतर्कता से किया जाता है—

(१) वृक्कशोफ (Nephritis) जब मूत्र विषमयता (Uraemia) की प्रवृत्ति हो ।

(२) बालक तथा वृद्धों में ।

(३) आदत पड़ने की दृष्टि से सभी चिरकालीन प्रयोगों में ।

मार्फीन के अतिरिक्त आजकल अहिफेन से प्राप्त निम्न क्षारोदों का भी स्वतन्त्र प्रयोग होता है:—

कोडा (डाई) न Codein

यह क्षारोद अफीम में नैसर्गिक संघटक के रूप में पाया जाता है तथा मॉर्फीन के मेथिलीकरण (Methylation of Marphine) के द्वारा कृत्रिम रुपसे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भी बनाया जा सकता है। यह रङ्ग हीन पारभासी मणिभ (Translucent Crystals) या मणिभीय चूर्ण (Crystalline powder) के रूप में पाया जाता है, जो गंधहीन एवं स्वाद में तिक्त तथा क्लोरोफॉर्म एवं अल्कोहल् में सुविलेय एवं ईथर तथा जल में अंशतः विलेय होता है।

कोडीन फॉस्फेट—यह उक्त कोडीन नामक क्षारोद का फॉस्फेट लवण होता है।

गुणकर्म एवं प्रयोग—

कोडीन में मार्फीन की अपेक्षा प्रमीलक प्रभाव (Narcotic action) बहुत दुर्बल होता है। किन्तु सुषुम्ना पर इसका उत्तेजक प्रभाव अधिक स्पष्ट होता है। जिसके परिणाम स्वरूप पेशियों में कम्प (Tremor) होने लगता तथा प्रत्याक्षिप्त उत्तेजन शीलता (Reflex Excitibility) बढ़ जाती है। उक्त प्रभाव कोडीन के निद्रल मात्रा से कुछ अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने पर विशेष स्पष्ट होते हैं।

अत एव कोडीन में मॉर्फीन की अपेक्षा निद्रल एवं वेदनाहर दोनों प्रभाव कम होते हैं। इसके प्रयोग में हृल्लास एवं वमन तो नहीं होते किन्तु यह मलविबन्ध अवश्य करता है। श्वसन केन्द्र पर भी मॉर्फीन की अपेक्षा अवसादक प्रभाव कम होता है और इससे चिरकालिक प्रयोग में आदत पड़ने का भी भय नहीं रहता। अल्पमात्रा में भी यह कासहर प्रभाव करता है यह इसका एक विशिष्ट गुणकर्म है। मूत्रगत शर्करा को भी कम करता है। आशयिक नाड़ियों (Visceral nerves) पर भी यह संशामक एवं घातक (Paralyser) प्रभाव करता है। इस गुण के कारण यक्ष्मा में इसकी के साथ आने वाली सूखी खांसी (Hacking Cough) तथा आशयिक नाड्यर्ति (Visceral neuralgia) में इसका आभ्यन्तरिक प्रयोग विशेष उपयोगी होता है। कासहर प्रभाव के लिए सिरप ऑफ कोडीन फास्फेट (शर्बत कोडीन) को १–२ ड्राम की मात्रा में अकेले या सिरप ऑफ वाइल्ड शेरी (Wild Cherry) के साथ प्रयुक्त करना चाहिए। मधुमेह (Diabetes Mellitus) में मूत्र गत शर्करा की राशि को कम करने के लिए यह एक परमोपयोगी औषधि है। इसके लिए कोडीन फॉस्फेट की टिकियां (Tablets) प्रयुक्त करनी चाहिए। डिम्बग्रन्थि विकारजन्य (Ovarian in origin) कटिशूल के निवारण के लिए यह एक परमोपयुक्त औषधि है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एपोकोडीन की क्रिया एपोमॉर्फीन की भांति होती है किन्तु इसमें वामक प्रभाव की अपेक्षा कफनिस्सारक प्रभाव अधिक प्रबल होता है।

पापावरीन हाइड्रोक्लोराइड
(Papaverine Hydrochloride)

यह पापावरीन नामक क्षारोद, जो अफीम में पाया जाता है, का हाइड्रोक्लोराइड होता है। अथवा कृत्रिमरूप से (संश्लेषण Synthesis द्वारा) भी बनाया जाता है। यह श्वेत वर्ण के मणिभ या मणिभीय चूर्ण के रूप में होता है। यह गन्धहीन, स्वाद में किंचित्तिक्त तथा क्लोरोफार्म, अलकोहल में विलेय होता है। जल में भी अंशतः विलेय होता है।

मात्रा—२ से ४ ग्रेन।

गुणकर्म तथा प्रयोग—यह अनैच्छिकपेशियों (Smooth muscles) पर प्रत्यक्ष अवसादक प्रभाव करता है, और रक्तवाहिनियों का विस्फारण (Vaso-dilatation) करने के कारण रक्तभार को भी कम करता है। इसके इस प्रभाव का उपयोग हार्दिक धमनी अवरोध (Coronary occlusion), हृच्छूल तथा फुफ्फुसीया धमनी की अन्तःशल्यता (Pulmonary embolism) आदि व्याधियों में किया जाता है।

डाइमार्फीन हाइड्रोक्लोराइड
या
हिरोइन हाइड्रोक्लोराइड
(Heroin Hydrochloride)

गुणकर्म तथा प्रयोग—

हिरोइन के गुणकर्म भी मॉर्फीन की भाँति होते हैं, किन्तु शुष्क कासहर प्रयोग के लिए मॉर्फीन के स्थान पर इसी का प्रयोग किया जाता है। मस्तिष्क गोलार्ध (Cerebrum) तथा सुषुम्नाशीर्ष (Medulla) पर यह मॉर्फीन की अपेक्षा अधिक उत्तेजक प्रभाव करता है, जिसके परिणाम स्वरूप यह मार्फीन की अपेक्षा श्वसनकेन्द्र का अधिक प्रबल अवसादक है फलतः इस दृष्टि से यह मार्फीन की अपेक्षा अधिक विषाक्त (Toxic) है। श्वास (Asthma) में यह

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अधस्त्वक् सूचिकाभरण तथा कास में अवलेह (Linctus) के रूप में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—अहिफेन २ चावल से १ रत्ती। अहिफेन के आयुर्वेदीय योगों की मात्रा तत्तद उल्लिखित ग्रन्थों में देखें।

अफीम तथा इसके अल्कलायड्स के मुख्य आधुनिक योग—

(१) पल्विसक्रीटी एरोमेटिकस कम् ओपियो (Pulvis Cretae Aromaticus cum Opio.)

मात्रा—१० से ६० ग्रेन।

(२) पल्विस इपेकाक्वान्ही एट (एण्ड = और) ओपियो Pulvis Ipecacuanhae et opii या डोवर्स पाउडर Dover's Powder)।

मात्रा—५ से १० ग्रेन। इसकी टिकिया भी होती है।

(३) टिंक्चुरा ओपियाई Tinctura Opii, टिंक्चर ओपियम् Tincture Opium या लाडेनम् Laudanum।

मात्रा—५ से ३० बूंद।

(४) टिंक्चुरा ओपियाई कम्फोरेटा Tinctura Opii Camphorata या टिंक्चर कम्फोरी को० Tinct. Camphorae Co.।

मात्रा—३० से ६० बूंद।

(५) इन्जेक्शिओ मार्फीनी सल्फ० Injectio Morphinae Sulph. इन्जेक्शन ऑव मार्फीन सल्फेट-(मार्फिया की सूई)—

मात्रा—$\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{3}$ ग्रेन-अधस्त्वक् सूचिकाभरण (Subcutaneous injection) द्वारा प्रयुक्त किया जाता है।

(६) डायोनीन Dionin—मात्रा—$\frac{1}{4}$ ग्रेन इसका आभ्यन्तर प्रयोग शुष्क कास तथा श्वासनलिका शोथ (Bronchitis) में किया जाता है। बाह्यतः नेत्र के कतिपय रोगों के लिए यह एक परमोत्तम औषधि है। फूली पड़ने पर इसके २ से ६ प्रतिशत बल के विलयन का आश्च्योतन नेत्र में किया जाता है।

भड़भांड (स्वर्णक्षीरी)

नाम—(सं०) स्वर्णक्षीरी, हेमदुग्धा, पट्टपर्णी, हेमवती, यवचिञ्ची, हैमवती, काञ्चनक्षीरिणी, तिक्तदुग्धा, कटुपर्णी, हेमक्षीरी, हिमावती, पीतदुग्धा;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(हिं०) सत्यानाशी, भड़भांड, उजारकांटा; (बं०) शियालकांटा; (म०) काटे-धोत्रा, पिंवलाधोत्रा (गु०) दारुड़ा, फिरङ्गीधतूरा, ब्रह्मदण्डी (सिन्धी) खरकाण्डेरी (कै) अरसिना उन्मत्त (ता०) कुड़ियोदि (मल०) दोन्नुमत्तम् (उड़िया) कान्ताकुशम् (लैटिन) आर्गेमोन मेक्सिकाना (Argemone mexicana)।

विशेष विवरण—यह अमेरिका में होनेवाला पौधा है, ऐसा इसके नाम से भी प्रतीत होता है; अर्थात् यह 'मेक्सिको Mexico' प्रान्त से भारत में आया है। किन्तु भारत में यह नैसर्गिक रूप से उगता है और सर्वत्र पाया जाता है। इसका रस पीतवर्ण का होने के कारण इसे 'स्वर्णक्षीरी' कहते हैं। सुश्रुतकार ने दो प्रकार की स्वर्णक्षीरी का वर्णन किया है। चिकित्सास्थान अध्याय ८ में वह लिखते हैं—"कासीसं काञ्चनक्षीर्यौ वर्गः शोधन इष्यते।" इसकी टीका में डल्हण ने लिखा है—"काञ्चनक्षीर्यौ द्वे, एकं कंकुष्ठं, अन्या पीतदुग्धा यवतिक्ता" यह वर्णन भगन्दर शोधन के प्रकरण में आया है। धन्वन्तरि और राजनिघण्टुकार ने भी दो प्रकार की ही क्षीरिणी या काञ्चन क्षीरी मानी है। दोनों प्रकार की क्षीरिणी के गुणों का वर्णन किया है। भावप्रकाशकार ने कटुपर्णी या हेमक्षीरी, का वर्णन किया है और इसके मूल को 'चोक' लिखा है। कैयदेवकार-स्वर्णक्षीरी को पटुपर्णी और यवचिञ्ची लिखते हैं। पूज्यपाद आचार्य यादवजी महाराज ने 'भड़भाड़' को स्वर्णक्षीरी स्वीकार किया है। उन्होंने काश्मीर में उत्पन्न होने वाली एरण्डवर्ग की ओषधि 'हिरवी' को दूसरे प्रकार की स्वर्णक्षीरी माना है। गुरुवर बलवन्त सिंह जी का मत है कि "भिन्न भिन्न प्रान्तों एवं भाषाओं के नामों से संहिता ग्रन्थों में आये हुए किसी नाम से मेल नहीं खाता। अतः इसे स्वर्णक्षीरी मानना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। प्राचीनों की स्वर्णक्षीरीद्वय काश्मीर में प्राप्त हिरवी या थैकलजातीय (Garcinia) वृक्ष हो सकती है। उत्तरकालीन ग्रन्थों का चोक भड़भाड़ हो सकता है।" कैयदेव निघण्टु के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीसुरेन्द्रनाथ जी भड़भाड़ को ही स्वर्णक्षीरी मानते हैं। यदि भड़भाड़ को चोक भी माना जाय तो भावप्रकाशकार के मत से—"कटुपर्णी हैमवती हेमक्षीरी हिमावती—हेमाह्वा पीतदुग्धा च तन्मूलं चोक उच्यते।" अर्थात् कटुपर्णी, हैमवती, हेमक्षीरी, हिमावती, हेमाह्वा, पीतदुग्धा आदि नाम कटुपर्णी के हैं—और उसी हैमवती के मूल को चोक कहा जाता है। इस प्रकार यदि इसकी जड़ को

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चोक माना जाय तो भड़भांड़ को निश्चित रूपेण स्वर्णक्षीरी माना ही जाना चाहिए। चरककार की स्वर्णक्षीरी भेदनीय वर्ग की है। सुश्रुत भी इसे अधोभागहर मानते हैं तथा श्यामादिगण में इसका पाठ करते हैं जो कि विड्भेदी होता है। भड़भाड़ का भी मुख्य गुण विड् भेदन ही है। ऐसी स्थिति में रेचन गुण की दृष्टि से भी भड़भाड़ को स्वर्णक्षीरी न कहने का साहस नहीं होता है। तथापि यह एक विदेशी क्षुप है। देखा यह जाता है कि प्रायः अनेक क्षुप विदेशों से आने पर दो ही चार वर्षों में दूसरे देश में हजारों मील तक फैल जाते हैं, तब उनको लोग उसी देश की वनस्पति समझने लग जाते हैं। यही बात भड़भाड़ के सम्बन्ध में भी है। चरक, सुश्रुत के समय से पूर्व यह विदेशों से आगया था ऐसा मानने का भी साहस नहीं होता। अतएव प्राचीन स्वर्णक्षीरी कुछ और भी हो सकती है। और यदि स्वर्णक्षीरी ही कटुक्षीरी और उसका मूल ही चोक है तो वह भी कोई अन्य द्रव्य ही हो सकता है।

सम्प्रति स्वर्णक्षीरी तथा भड़भाड़ का एक साथ वर्णन किया जाता है। इसको उजार कांटा या सत्यानाशी इस लिए कहते हैं कि यह क्षेत्रों में होने से उन्हें उजार कर देती है। वाहर से आनेवाला क्षुप होने के कारण इसे 'फिरंगी धतूरा' या 'फिरंगी कांटा' कहा गया है। पहिले लोगों का यह विश्वास था कि इसमें अहिफेन या धतूरा सदृश विष होता है। इसी लिए इसे 'फिरंगी धतूरा' कहते हैं। कहीं कहीं इसे ब्रह्मदण्डी भी कहते हैं। इसको ब्रह्मदण्डी (ब्रह्मयष्टी) अर्थात् भारङ्गी से भिन्न समझना चाहिए। कांटेदार दण्ड को केवल ब्रह्म (देवता विशेष) ही धारण कर सकता है, इसी हेतु इसको लोग 'ब्रह्मदण्डी' कहने लगे हों ऐसा प्रतीत होता है। क्षुप के प्रत्येक भाग से पीतदुग्ध प्राप्त होने के कारण इसे 'स्वर्णक्षीरी,' काञ्चनक्षीरी' या 'हेमक्षीरी' आदि नाम दिये जा सकते हैं। यही कारण है, कि यद्यपि स्थानीय नाम इसके शास्त्रीय नामों के अनुकूल नहीं मिलते, तथापि विद्वानों ने इसके स्वरस को शास्त्रवर्णित 'पीतरङ्ग' के अनुकूल समझकर स्वर्णक्षीरी मान लिया है।

किसी किसी जनपद में इसे 'कटेली' कह दिया जाता है वास्तव में इस नाम से भी बहुत भ्रम होता है। कटेली (रिंगनी) जमीन पर फैलने वाला क्षुप होता है जिसमें नील पुष्प होते हैं। भड़भांड़का क्षुप जमीन से २-३ फुट ऊपर उठा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हुआ होता है। कभी कभी छोटी कंटकारी (भटकटैया) का स्वरूप भड़भाड़ के छोटे क्षुप से मिलता-जुलता हो जाता है। क्यों कि दोनों में कांटे होते हैं। अतएव भ्रमवश इसे भी 'कटेली' कह दिया गया है।

उत्पत्तिस्थान—वर्तमान काल में भड़भाड़ भारतवर्ष के मैदानी सभी भागों में प्राप्त होता है। प्रायः यह सड़कों के किनारे तथा वेकार पड़ी भूमि में स्वयं उग जाता है।

परिचय—भड़भाड़ का काण्ड २-३ फुट ऊंचा होता है। इसके सभी अवयवों पर कांटे पाये जाते हैं। पुष्प पीतवर्ण के होते हैं। इसके वाह्यकोषों में २-३ दल तथा आभ्यन्तरकोष (Corolla) में ४-६ दल (Petals) होते हैं। फल अण्डाकार लगभग 1" व्यास में एवं कण्टकित होते हैं, जिसमें क्षुद्र, गोल, कृष्ण वीज निकलते हैं। इन वीजों में तैल निकलता है। यह पौधे प्रायः शीतकाल में अधिक होते हैं। वसन्त में पुष्पित होकर ग्रीष्म तक सूख जाते हैं। इसकी जड़, वीज, क्षीर और तैल औषध्यर्थ व्यवहार होता है।

सक्रियतत्त्व एवं रासायनिक संगठन—पहले कुछ विचारकों ने इसमें अहिफेन सत्व मॉर्फीन सदृश (Argemomine) नाम एक क्षारोद (Alkaloid) होता है, ऐसा बतलाया था। किन्तु वाद की खोजों के परिणाम स्वरूप उपर्युक्त धारणा भ्रममूलक सिद्ध हो गई है। अब लोगों का यह मत है, कि इसमें 'बर्बेरीन' (Berberine) या दारुहारिद्रिक सत्व एवं एक और तत्त्व जिससे—(Protopine) प्राप्त होता है, पाया जाता है। इनके बीजों में २२ प्रतिशत स्थिर तैल होता हैजिसे (Argamone oil) कहते हैं। बीजों के जलने पर उसमें काफी मात्रा में क्षारीय फास्फेट्स एवं सल्फेट्स (Alkaline phosphates and sulphates) पाये जाते हैं।

गुणकर्म—

पीतदुग्धा हिमा तिक्ता भेदन्युत्क्लेशकारिणी।
रेचनी कफपित्तघ्नी रक्तदोषविनाशिनी॥ (स्व०)

काञ्चनक्षीरी के गुण प्राचीन शास्त्रकारों के मतानुसार रसमें तिक्त, वीर्य में शीत, भेदन एवं रेचन उत्क्लेश कारक कफपित्तनाशक एवं रक्तदोषनाशक होते हैं।

आधुनिक शास्त्रकारों के मतानुसार भड़भाड़ के गुणः—

पीतदुग्ध-मृदुरेचक, रक्तशोधक, त्वच्य, मूत्रल तथा व्रण एवं पीड़ाशामक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है। बीज-पिच्छिल, मृदुरेचक, वामक, वेदनास्थापक एवं किंचित्कफ निस्सारक होते हैं। बीजों में किंचित् प्रमीलक गुण (Narcotic action) भी पाया जाता है, जो स्पष्ट नहीं होता । बीज तैल-मृदुरेचक एवं शामक होता है। ताजी मूल पीड़ा शामक एवं शुष्क मूल रेचन व व्रण लेखन, कृमिघ्न और कुष्ठघ्न होती है।

विशेष विवरण—स्वर्ण क्षीरी को शास्त्रकारों ने शीत वीर्य कहा है। भड़भाड़ को शीतवीर्य औषधि स्वीकार करने के पूर्व कुछ प्रयोग करना चाहिए । मेरा अब तक का अनुभव इसको शीतवीर्य स्वीकार करने के विपरीत है।

आमयिक प्रयोग—

कृमिकण्डू विषानाह कुष्ठघ्नी चाश्मरी हरा।
योज्या गुल्मोदरे दाहे ज्वरोदावर्त व्याधिषु॥ (स्व०)

प्राचीन शास्त्रकारों ने स्वर्णक्षीरी को कृमि, कण्डू, विष, आनाह, कुष्ठनाशक, अश्मरीघ्न, गुल्मनाशक तथा उदर रोग, दाह, उदावर्त एवं ज्वरनाशक लिखा है।

विशेष रूप से निम्न प्रकार से भड़भांड का प्रयोग किया जाता है।

पीत दुग्ध का बाह्य प्रयोग—इसको कुष्ठ, स्फोट, तथा उपदंशिक व्रणादि त्वग्रोगों में लगाते हैं। कहीं कहीं पर नेत्र में भी डालते तथा नेत्रपुटक (Eye lids) पर लगाते हैं। किन्तु नेत्र के सम्पर्क में आने में इससे तीव्र पीड़ा होती है। अतएव इसको व्यवहार करना कठिन ही होता है। आधुनिक विद्वानों ने नेत्र में इसके प्रयोग का निषेध किया है। लाभ की अपेक्षा अधिक हानि एवं कष्ट की सम्भावना के कारण इसका नेत्र में प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

आभ्यन्तरिक प्रयोग—जलोदर, कामला आदि व्याधियों में तथा ज्वर एवं सूजाक आदि में इसके पीत रस को घृत के साथ खिलाते हैं। मूत्रल होने के कारण शोथ में भी इसका प्रयोग करते हैं। रक्तशोधक एवं रसायन (Alterative) होने के कारण उपदंश तथा तज्जन्य विकृतियों में इसका उपयोग किया जाता है। कुष्ठ में इसका अधिक प्रयोग होता है। सम्भव है कि इसमें पाया जाने वाला प्राकृतिक गंधक का सूक्ष्मांश इसके रक्त शोधक एवं कुष्ठघ्न गुण का उत्तरदायी हो ।

कहा जाता है कि धूम्रपत्रा या (Aristolochia bracteata) के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रस के साथ प्रतिदिन भड़भांड का १ तोला स्वरस ४० दिन तक लेने से कुष्ठ में लाभ होता है । विषम ज्वर में भी इसका प्रयोग किसी भी प्रकार करने से लाभ होता है ।

बीज—कास, श्वास में जब वमन आवश्यक होता है, अथवा रेचन कराना अभीष्ट हो तो इसके बीजों का ३-४ माशे की मात्रा में प्रयोग करना चाहिए । बीजों को चिलम में रखकर धूम्रपान करने से दांत का दर्द दूर होता है । आन्त्र के रोगों में भी कहीं कहीं इसका प्रयोग किया जाता है ।

तैल । बाह्यप्रयोग—त्वचा के रोगों तथा शिरःशूल में किया जाता है । कक्षारोग जन्य विस्फोट (Herpatic eruptions) में भी इसका महत्त्वपूर्ण योग होता है ।

आन्तरिकप्रयोग—तीव्र विरेचन के लिए तैल का प्रयोग ३०-४० बिंदु की मात्रा में शर्करा के साथ किया जाता है । इस कार्य के लिए यह एरण्डतैल की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है, क्योंकि इसमें उसकी भांति दुर्गन्ध एवं कुस्वादु का दोष नहीं होता । इसकी मात्रा भी अपेक्षाकृत कम होती है तथा इससे पेट में मरोड़ आदि भी नहीं होता । इसकार्य के लिए ताजे तेल का ही प्रयोग करना चाहिये । इससे विरेचन के साथ ही वमन भी होता है । उपदंश एवं कुष्ठ में यह विशेष हितकारी है ।

मूल—इसके मूल को 'चोक' कहते हैं । पञ्जाब आदि में 'चोक' या 'चोक-गेड़ी' के नाम से जो द्रव्य मिलता है, वह सम्भवतः इससे भिन्न है । चोक का लेप दद्रू , पामा तथा अन्य प्रकार के व्रणों में विशेष हितकारी होता है । यह लेप तीव्र वेदना करता है । अतएव इसे १५ मिनट के बाद उतार देना चाहिए । चोक उत्तम व्रण-लेखन भी होता है । पौर्वात्यव्रण (Oriental sore) में भी लेप रूप में इसका प्रयोग लाभप्रद होता है ।

चोक का प्रयोग महाज्वराङ्कुश नामक विषमज्वर नाशक योग में भावप्रकाश तथा भैषज्यरत्नावलीकार ने किया है । विषमज्वर में इस योग का प्रयोग बहुत लाभकारी होता है । किन्तु इसके साथ ही व्योषयुक्त महाज्वराङ्कुश भी कम लाभकारी नहीं होता । अतएव दोनों के प्रयोग करने में विशेषतारतम्य तो स्थापित नहीं किया जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि महाज्वराङ्कुश जिसमें चोक होता है, किंचित् मलावरोध नाशक होने से उपयोगी सिद्ध हो जाता है ।

000906

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

टिप्पणी—आजकल, बीजों में समानता होने के कारण उन्हें सरसों के साथ मिला देते हैं। इस प्रकार स्वर्णक्षीरी बीज मिश्रित सरसों का तैल भी बाजार में बहुतायत से प्राप्त होता है। इस प्रकार के मिलावट (Adulteration) के कारण सर्षपतैल में होने वाले गुणों से जनता वञ्चित हो जाती है। इसके तैल के रेचनादि गुण भी इस प्रकार के तेल में आ जाते हैं। बहुत से लोगों कहना है कि, इस प्रकार के मिलावटी तेल का प्रयोग ही मरक के रूप में फैलने वाले वातबलासक (बेरी-बेरी Bei-beri) नामक जीवतिक्ति अभावज (Vitamin-deficiency) रोग का उत्तरदायी है। जो भी हो भड़भाड़ के बीजों के तैल से संयुक्त कटु तैल स्वास्थ्य की दृष्टि से निम्न श्रेणी का एवं हानिकारक तो अवश्य ही होता है। अतएव इसका निरोध होना ही चाहिए। सर्षपतैल में एक और प्रकार के बीज भी मिलाये जाते हैं, जिनमें उग्रगन्ध एवं तीक्ष्णता होती है। इसी से आंखों के सामने इनके आने से इस प्रकार के तेल से आंख से पानी आने लगता है। यह बीज पहाड़ी प्रदेशों से अति मात्रा में काशी आदि स्थानों पर आते हैं।

मात्रा—

पीतदुग्ध—१ से १॥ तोला तक।

बीज—१ से ४ माशा तक।

तैल—४० बूंद तक।

मूलचूर्ण—१ माशा तक।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पर्पट अथवा क्षेत्रपर्पट कुल

N. O. Fumariaceae

नाम—(सं०) पर्पट, वरतिक्त, पर्पटक, पांशु, कवच, सुतिक्तक, रज, रेणु, वर्मकण्टक, चरक, तृष्णारि, शीतवल्लभ, पित्तहा, चर्माह्व, सूक्ष्मपत्र, सृष्टीक, त्रियष्टि, यवकण्टक, शीत, कृशशाख, रक्तपुष्पक, चर्मकण्टक, पित्तारि, कटुपत्र, यवनपर्पट आदि; (हिं०) पित्तपापड़ा; (पं०) शाहतरा; (फा०) शाहतरा, शाहतरज, (बं०) वनशुल्फा; (ते०) तुरा (ता०) तुरा; (गु०) पित्तपापड़ो, शाहतरा; (सिंधी) शात्रा; (अरबी) शाहतरज, कुज्ब्रुरतुल हिमार, बकलतुलमलिक; मलिकुलबकूल; (अंग्रे०) कामनफयुमिटरी (Common fumitory), (ले०) फ्युमेरिया ऑफिशिनेलिस (Fumaria officinalis), (यूनानी-शाहतरा;) तथा फ्यूमेरिया पर्वीफ्लोरा (Fumaria Parviflora) (धमगजरा या देशी पर्पट या पित्तपापड़ा) ।

वि० विवरण—यद्यपि निघण्टुओं में प्राप्त वर्णन से पर्पट के वास्तविक निर्णय के सम्बन्ध में कठिनता प्रतीत होती है, तथापि शास्त्रों में दिए हुए नामों के आधार पर इसकी कुछ विशेषताओं का पता अवश्य चलता है। यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि पर्पट शीतकाल में जौ आदि के खेतों में उत्पन्न होता है। इसकी शाखायें-कृश, पत्र-सूक्ष्म तथा पुष्प-रक्तवर्ण के होते हैं। इसके पत्रादि का रस तिक्त होता है। इसमें पित्तनाशन का प्रधान गुण है। आजकल पर्पट के नाम से अनेक औषधियां बाजार में प्राप्त होती हैं। गुजराती निघण्टु आदर्श के लेखक श्री बापालाल जी के ग्रन्थ को देखने से पता चलता है, कि दक्षिण भारत में अनेक स्थानों पर Rostellularia diffusa (रास्टेल्युलेरिया डिफ्यूजा) तथा 'घाटी पित्तपापड़ा' के नाम से Peristrophe bicaliculata, जिसे युक्तप्रान्त में 'काकजंघा' कहते हैं, बेची जाती है। किन्तु इन औषधियों में पर्पटोक्त तथा तत्सदृश कोई मुख्य गुण विशेष रूप से नहीं पाये जाते। कम्पोजिटी (Compositae) जाति के Glossocordia bosvallia ग्लासो कार्डिया बास्वेलिया क्षुप को भी पित्तपापड़ा के स्थान पर व्यवहृत किया जाता है। Caryophylleae जाति के Polvcarpea corymbosa पोलीकार्पी कोरिम्बोसा नामक क्षुप का भी व्यवहार यत्र-तत्र पर्पट के नाम पर हो रहा है। पूज्य-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पाद यादव जी महाराज ने भारत में पर्पट के नाम से विभिन्न प्रान्तों में व्यवहार किये जाने वाले मुख्य निम्न तीन द्रव्यों का उल्लेख किया है:—

(१) शाहतरा—(जिसका वर्णन प्रकृत है)। इसे पञ्जाब, सिन्ध, राजपूताना, युक्तप्रान्त तथा बिहार के अधिकांश वैद्य 'पर्पट' के नाम से व्यवहृत करते हैं।

(२) मंजिष्ठादि—(Rubiaceae) जाति के Oldenlandia herbacea या Corymbosa या biflora जिसे बंगाली में 'क्षेत्रपर्पट', मराठी में 'परिपाठ', गुजराती में 'परपट' कहते हैं। इसका उपयोग बंगाल और महाराष्ट्र में होता है।

(३) आटरूषकादि (Acanthacceae) जाति के Rungia repens नामक बनस्पति (जिसे गुजराती में 'खड़सलियो' कहते हैं) प्रायः पर्पट के स्थान में गुजरात प्रान्त में प्रयुक्त होता है।

अनेक शास्त्रज्ञों के अनुभव को विचारने से पता चलता है कि, मञ्जिष्ठादि वर्ग के Heydiotis burmanniana का व्यवहार भी परिपाठ या पर्पट के लिये किया जाता है। और इसी प्रकार अटरूषक वर्ग की Rungia parviflora एवं Justicia Procumbens एवं repens भी पर्पट के नाम पर चलती हैं। यह भी प्रायः महाराज यादव जी द्वारा वर्णित वनस्पतियों के समान ही होती हैं।

पर्पट के लिए यद्यपि मञ्जिष्ठादि एवं आटरूषकादि वर्ग की तथा अन्य उपर्युक्त ओषधियां, तत्सम किंचित् उपयोगी होने के कारण व्यवहार में लायी जाती हैं, तथापि 'यूनानी शाहतरा' का या उसके देशी प्रतिनिधि 'धमगजरा' या 'पित्तपापड़ा' को वर्णित स्वरूप से अधिकांश में मिलने वाला एवं विशेष गुणयुक्त होने के कारण उपयोग करना अधिक उचित प्रतीत होता है।

उत्पत्तिस्थान—Fumaria officinalis या शाहतरा प्रायः फारस देश में बोये हुए खेतों में पाया जाता है। और वहीं से इसका आयात भारत में होता है। Fumaria Parviflora या Eumaria India (धमगजरा) यह भारत के अनेक भागों—यू० पी, बिहार आदि सभी स्थानों पर, सिन्ध-गंगा के मैदान तथा उत्तर में नैपाल से लेकर दक्षिण में नीलगिरि पर्वत तक गेहूं, चना, जौ आदि के खेतों में जाड़े के दिनों में पाया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिचय—शाहतरा-इसका क्षुप लगभग १ फुट तक ऊंचा होता है। बाजार में इस वनस्पति के टुकड़े मिलते हैं, जिसमें गोलाकार, चिकने, अस्फोटी, बहुसंख्यक फल मिश्रित होते हैं। प्रत्येक फल में एक बीज होता है।

धमगजरा—यह 'शाहतरा' का ही देशी भेद होता है। यह क्षुद्र वनस्पति, अनेक शाखायुक्त, स्वावलम्बी, अथवा प्रसरणशील होता है। इसके पत्र-गाजर या धनिये के समान बहु-विभक्त होते हैं। इसी कारण इसे 'धनगजरा' कहा जाता है। पुष्प श्वेत या गुलाबी रङ्ग के, प्रायः २″–३″ लम्बे होते हैं। बाह्यदल २, आभ्यन्तर दल २ × २ तथा इनमें से भी बाह्य नीचे की ओर चोंचदार भीतरी दोनों ऊपर की ओर बहुधा संयुक्त, पुंकेशर ६, तीन तीन एक साथ मिश्रित होते हैं। फल—शाहतरा के फल के समान क्षुद्र एवं गोल, अग्र (Apex) पर २ खातयुक्त होता है। इसके पञ्चाङ्ग का व्यवहार किया जाता है।

सक्रियतत्त्व—इसमें फ्यूमेरिक एसिड (Fumaric acid जो मेलिक एसिड malic acid के समरूपिक Isomeric होता है) तथा फ्यूमेरीन (Fumarine—एक मणिभीय सेन्द्रिय पीठद्रव्य base)—यह तत्व पाये जाते हैं। इसकी क्रिया इन्हीं तत्त्वों के कारण होती है।

गुणकर्म—

पर्पटः कटुकः पाके रसे तिक्तो हिमो लघुः।
संग्राही वातलः पित्तकफदाहहरः स्मृतः ॥

(कैयदेव निघण्टु से परिवर्तित)

पर्पट—तिक्त रसवाला, विपाक में कटु, वीर्य में शीत, लघु, संग्राही, वातवर्द्धक एवं पित्त-कफ तथा दाहशामक होता है।

सांस्थानिक प्रभाव—पाचक-संस्थान—इस संस्थान पर यह कटुपौष्टिक (Bitter tonic) प्रभाव करता है। शाहतरा और धनगजरा किंचित् भेदनीय होता है। कटुपौष्टिक होने के कारण भी यह किंचित् मल-शोधक हो सकता है। किन्तु स्वतन्त्र रूप से भी इसे भेदन (Aperient) या स्रंसन बतलाया गया है। प्रारम्भ में किंचित् मलशोधन कर, बाद में इसके प्रयोग से क्षुधा-वृद्धि होती है तथा भोजन का परिपाक ठीक होता है। आमदोष का निस्सारण कर यह आन्त्र की कला को बल प्रदान करता है। इस प्रकार इसको शास्त्रकारों के मतानुसार संग्राही मानने में विशेष हानि नहीं प्रतीत होती। पित्तदोष नाशक होने के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कारण किंचित् भेदन होना गुण ही होता है। इसका क्षार यकृत् द्वारा बाहर निकलता है, अतएव इस पर प्रभाव डालता है यकृत की विषनाशक शक्ति बढ़ती है और पित्त का स्राव ठीक होता है।

मूत्रवाहक संस्थान—शाहतरा तथा धमगजरा का प्रभाव मूत्रवाहक संस्थान में विशेषतया वृक्क पर पड़ता है। वृक्क धातु पर उत्तेजक प्रभाव होने से मूत्र की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

त्वचा—त्वचा द्वारा निकलने के कारण यह स्वेदजनन करता है। विद्वानों ने इसे किंचित् कृमिघ्न तथा रसायन (Alterative) भी निर्दिष्ट किया है।

आमयिक प्रयोग—

पर्पटः शीतलस्तिक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः।
रक्तदाहारुचिग्लानिमदभ्रमविनाशनः ॥ (ध० नि०)
संग्राही वातलो हन्ति दाहपित्तकफज्वरान्।
पिपासारोचकच्छर्दि रक्तपित्तमद भ्रमान् ॥ (कै. दै. नि.)

धन्वन्तरि निघण्टुकार पित्तपापड़ा को शीतल, तिक्त, पित्त, श्लेष्मज्वर नाशक रक्तदोष, दाह, अरुचि, ग्लानि, मद और भ्रमनाशक निर्दिष्ट करते हैं। कैयदेवकार ने लिखा है कि पित्तपापड़ा संग्राही, वातल, दाहनाशक, कफपित्तज्वर नाशक, पिपासा अरोचक, वमन, रक्तपित्त, मद एवं भ्रमरोग नाशक है।

ज्वर—आयुर्वेद में पित्तपापड़ा का प्रयोग पित्तज्वर में विशेषरूप से किया जाता है—

एकः पर्पटकः श्रेष्टः पित्तज्वर विनाशनः।
किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोदीच्यनागरैः ॥ (भै० र०)

अकेले पित्तपापड़ा को २ तोला लेकर १॥ पाव पानी में पका लें। चतुर्थांश शेष रहने पर पिलाने से पित्तज्वर शान्त हो जाता है। यदि इसमें लालचन्दन, सुगन्धवाला, और सोंठ मिलाकर दिया जाय तो और भी लाभ होता है।

केवल पर्पट का शीत कषाय भी ज्वर के चढ़े वेग में दिया जाता है। इससे ज्वर शीघ्र उतर जाता है।

पर्पट, गुडूची और आंवला का क्वाथ भी पित्तज्वर में विशेष लाभकारी होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ज्वर के लिए दिये जाने वाले अनेकों कषायों में पर्पट एक मुख्य अङ्ग रहता है।

विश्वादिकाथ—को तृषा, छर्दि, दाहयुक्त ज्वर में देते हैं। उसमें शुंठी, सुगन्धवाला, पित्तपापड़ा, खश, मोथा और लालचन्दन का योग है। इसी प्रकार भैषज्यरत्नावली के चन्दनादि, मुस्तादि, पञ्चभद्र, दार्व्यादि, बृहत्कट्फलादि, मुस्ताद्यष्टादशाङ्ग, भार्ङ्ग्यादि, दास्यादि, मधुकादि, धान्यकादि, शार्ङ्गधर के क्षुद्रादि, गुडूच्यादि, षडङ्गपानीय आदि कषायों में पर्पट मुख्य रूप से सम्मिलित किया गया है। प्रायः उपर्युक्त सभी कषाय ज्वर चिकित्सा में व्यवहृत होते हैं।

यूनानी चिकित्सक इसे जीर्ण ज्वर में प्रयुक्त करते हैं। शार्ङ्गधरकार ने पित्तज छर्दि में पर्पट क्वाथ का प्रयोग निर्दिष्ट किया है तथा रक्तपित्त में धान्यकादि हिम का प्रयोग लिखा है, जिसमें भी पर्पट एक मुख्य अवयव है।

पाण्डु तथा कामलाः—आचार्यों ने पाण्डुरोगाधिकार में पर्पट का विशेष उपयोग किया है। इस सम्बन्ध में मूर्वाद्यघृत, चन्द्रसूर्यात्मक रस, अष्टादशाङ्ग लौह आदि अनेकों योगों में तो पर्पट का योग मिलता ही है किन्तु पर्पटाद्यरिष्ट (भै० र०) को विशेष रूप से ध्यान में रखना उचित प्रतीत होता है। इस योग का प्रयोग कामला, उदराष्ठीला, गुल्म, पाण्डु, हलीमक, प्लीह—यकृत शोथ, रक्तविकार तथा विषमज्वर में लाभकारी होता है। वास्तव में पर्पट यकृद्दोषों में दुग्धफेनी और भृङ्गराज सदृश ही लाभकारी होता है। अतएव यकृद्दोषजन्य व्याधियों में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

रक्तदोषः—रक्तदोष नष्ट करने के लिये पित्तपापड़ा का प्रयोग प्राचीनकाल से चला आ रहा है। शार्ङ्गधरकार के प्रसिद्ध रक्तदोषनाशक बृहन्मञ्जिष्ठादि कषाय का पर्पट एक अङ्ग है। कुष्ठनाशक तिक्तक, महातिक्तक, महाखदिर घृत (चक्रदत्त) आदि योगों में इसको संयुक्त किया गया है।

यूनानी चिकित्सक भी रक्तविकार एवं त्वग्रोगों में-जैसे कण्डू, दाद, फोड़े फुंसी आदि-अकेले या अन्य ओषधियों के साथ इसका क्वाथ, फाण्ट या स्वरस पिलाते हैं। फिरङ्ग में भी इसे व्यवहार करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शाहतरा या धमगजरा २३ तो० वनफ्शा ३ तो०, मरिच तथा सोंठ ३ तो०, काला मुनक्का १ तो०, जल १० छ०; इसको मन्दाग्नि पर उबालें। चतुर्थांश शेष रहने पर ५-५ तो० दिन में चार बार देने से ज्वर में लाभ होता है। यह योग डा० वामन गणेश देसाई का अनुभूत है।

यकृत् तथा आन्त्रदोषजन्य पाचन-विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है। इससे क्षुधा लगती है। यूनानी चिकित्सकों ने श्वेत कुष्ठ में अन्य द्रव्यों के साथ इसके लेप करने का भी निर्देश किया है।

मात्रा—चूर्ण-५ से ७ माशा; क्वाथ-५ तो०।

भूतकेशी

नाम—(सं०) भूतकेशी; (वं०) भूतकेशी; (हिं०) भूतकेशी, भूत्कीस; (अफगान) मामिरान; (ले०) Corydalis govaniana (कोरिडेलिस गोवेनियाना)।

वि० विवरण—धन्वन्तरि निघण्टुकार ने मांसीभेद, शेफाली तथा शुक्लाङ्गी (निर्गुण्डी भेद) को भूतकेशी लिखा है। प्रकृत भूतकेशी का क्षुप होता है। इसको शेफाली और शुक्लाङ्गी कहा नहीं जासकता। गंधमांसी, जटामांसी का ही एक भेद है। ऐसी स्थिति में वर्तमान में इसको स्वतंत्र द्रव्य ही समझना चाहिए। प्रकृत द्रव्य इस शास्त्रीय द्रव्यों से सर्वथा भिन्न है। केवल आधुनिकों ने इसे भूतकेशी कहा है।

परिचय—इसका क्षुप-कुमाऊँ, काश्मीर आदि पश्चिमी हिमालय के प्रदेशों में काफी ऊंचाई पर पाया जाता है। पुष्प-पीत, स्वाद-कटु तथा दुग्ध-पीत होता है। औषध्यर्थ इसका मूल व्यवहृत होता है। काबुली व्यापारी इसके मूल को 'मामीरान' के नाम से बेचते हैं।

गुण-धर्म एवं प्रयोग—नेत्ररोगों में इसका प्रयोग मामीरान सदृश किया जाता है। त्वग्रोग में क्वाथ दिया जाता है। इसे बल्य तथा ज्वरनाशक भी बतलाया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

राजिका–कुल (Cruciferae)

राजिका—

नाम—(सं०) राजिका, राजी, आसुरी, तीक्ष्णगन्धा, कृष्णका, अतितीक्ष्णा, क्षुज्जनिका (भूख पैदा करने वाली), क्षुवक, क्षवक, क्षव, मधुरिका; (हिं०) राई; (वं०) राइ सरिशा; (मल०) कडुक; (तामि०) कडुगु; (कन०) सासिके; (ते०) अवालू ; (कोक०) सासम; (म०) माहेरी राई; (सिन्ध) अहूरी; (पं०) आहुर; (काश्मीर) आसुर; (अ०) खरदल; (फा०) सिपंदाँ, सिपर्द; गिर्द (खुश); इस्पंदाँ, (अं०) Black or true mustard or Indian mustard; (ले०) Brassica juncea (ब्रासिका जन्सिया)।

वि० विवरण—राई की २ जातियाँ होती हैं—एक साधारण राई तथा दूसरी कृष्णराजिका जिसे वैज्ञानिक भाषा में Brassica juncea और दूसरी को Brassica nigra कहते हैं। भावप्रकाशकार ने भी साधारण राई का वर्णन कृष्णसर्षप के नाम से और कृष्णराजिका का इससे स्वतंत्र निर्देश किया है। कृष्ण सर्षप को ही आसुरी कहा है—

राजी तु राजिका तीक्ष्णगन्धा क्षुज्जनिकाऽऽसुरी।
क्षवः क्षुताभिजनकः कृमिकृत् कृष्णसर्षपः॥
अतितीक्ष्णा विशेषेण तद्वत्कृष्णापि राजिका।
सरा हिमा गुरुर्ग्राही तत्पुष्पं प्रदरास्रजित्॥

राजी, राजिका, तीक्ष्णगन्धा, क्षुज्जनिका, आसुरी, क्षव, क्षुताभिजनक, कृमिकृत्-ये कृष्ण सर्षप के नाम हैं।

आगे—इसे गुणों के वर्णन के बाद लिखा है कि कृष्णराजिका विशेषकर अतितीक्ष्ण होती है। और अन्य गुण कृष्णसर्षप के समान होते हैं।

राई के साथ हुरहुर के बीजों की मिलावट की जाती है।

परिचय—राई की खेती जाड़े के दिनों में भारत के अनेकों मैदानी भागों में की जाती है। इसका एकवर्षायु क्षुप होता है। पत्तियाँ अनुपपत्र (Exstipulate) एकान्तर होती हैं। पुष्प पीत वर्ण के चक्रित प्रायः वसन्त ऋतु में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पाये जाते हैं। बीज सरसों से थोड़े कृष्ण होते। इसका बीज और तैल व्यवहृत होता है। किसी प्राचीन निघण्टुकार ने इसके परिचय में कहा है—

'राजिका पीतपुष्पा च तीक्ष्णा स्यान्मूलकच्छदा।'

राजिका पीतपुष्पों वाली तीक्ष्ण तथा मूली के समान पत्तीवाली है। इसके बीजों तथा तैल का प्रयोग विशेष रूपेण होता है।

सक्रियतत्त्व—इसके बीजों में २०-२५ प्रतिशत स्थिर तैल पाया जाता है। इसके अतिरिक्त ग्लूकोसाइड (Glucoside), सिनीग्रिन (Sinigrin) तथा एक इन्जाइम मायरोसिन (Myrosin) भी प्राप्त होता है। जल की उपस्थिति में सिनीग्रिन इन्जाइम के द्वारा विघटित या हाइड्रोलाइज्ड (Hydrolysed) हो जाता है। इस प्रकार एलिल आयसोथियोसाइनेट Isothiocyanate (C_2H_3NCS) बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें एलिल सायनाइड Allyl-cyanide, कार्बनडाइसल्फाइड (Carbon—disulphide) तथा कुछ अंश आयसोमेरिक एलिल थियोसायनेट (Isomeric allyl thiocy-nate) के भी पाये जाते हैं। राई के उत्पत् तैल को जो जल की क्रिया से प्राप्त होता है Oleum sinapis Volatile या Volatile oil of mustard या राई का उत्पत् तैल कहते हैं।

गुण-कर्म—प्राचीनकाल में राजिका के शाक का प्रयोग होता था। चरककार ने इसीलिए राजिका को शाकवर्ग में स्थान दिया है। भावप्रकाश में केवल सर्षप को शाकवर्ग में वर्णन किया गया है, किन्तु राजिका को नहीं। किन्तु कैयदेवनिघण्टु-कार ने इसके शाक का सर्षप शाक के साथ वर्णन कर दिया है। आजकल भी सरसों को ही विशेषकर खाया जाता है। राई का शाक कम खाया जाता है। अतएव इसके शाक का वर्णन सर्वत्र नहीं मिलता।

कैयदेव निघण्टु के आधार पर इसके शाक का गुण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

'सार्षपं कटुकं रूक्षं गुरूष्णं बद्धमूत्रविट्।
सक्षारलवणं स्वादु दोषत्रयकरं परम्।
तद्वच्च राजिका शाकं रक्तपित्तविदाहकृत्।
तीक्ष्णं रूक्षमचक्षुष्यं भृशोष्णं कृमिहद् गुरु॥ (कै० दे०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सरसों का शाक—कटु, रूक्ष, गुरु, उष्ण, मल और मूत्र का विबन्ध करनेवाला, क्षार और लवण युक्त, स्वादु एवं त्रिदोषकारक होता है। इसी प्रकार राई का शाक—तीक्ष्ण, रूक्ष, अत्यंत उष्ण, गुरु, कृमिनाशक एवं रक्तपित्त तथा विदाह को उत्पन्न करने वाला एवं नेत्रों के लिए अहितकारी होता है।

राजिका बीज के गुणधर्म शास्त्रकारों ने निम्नप्रकार वर्णित किए हैं:—

आसुरी कटुतिक्तोष्णा दाहपित्तप्रदा हि सा।
वातार्तिनाशिनी रुच्या दीपनी श्लेष्मनाशिनी॥

(ध० नि० में किंचित् परिवर्तित)

आसुरी—रस में कटुतिक्त, विपाक में कटु, उष्णवीर्य, रुचिकारक, दीपनी (अग्निवर्धक), दाहकारक, पित्तवर्धक, वातदोषनाशक तथा श्लेष्मनाशक होती है। (राजिका तैल के गुणधर्म सार्षप तैल के वर्णन के समय आगे लिखे जाँयगे।)

सांस्थानिक प्रभाव—बाह्य–राई बाह्य त्वचा पर प्रयुक्त होने से तीव्र स्थानिक क्षोभक (Local irritant) लालिमा एवं फफोले पैदा करनेवाली (Rubefacient and Vesicant) होती है। स्थानिक रक्तसंचार में वृद्धि करने एवं सांवेदनिक नाड़ियों पर क्षोभक प्रभाव करने से प्रथम उष्णता का अनुभव होता तथा तदनु दाहयुक्त पीड़ा की प्रतीति होती है। इसके अनन्तर यह क्षोभ संज्ञानाश (Paralysis) के रूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसके परिणाम–स्वरूप पूर्व–स्थित एवं स्वयं राई से उत्पन्न दोनों प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता। राई प्रतिक्षोभक (Counter-irritant) भी है। सांवेदनिक नाड़ियों पर उत्तेजक प्रभाव होने से एवं प्रत्याक्षिप्तरूपेण हृत्केन्द्र एवं श्वसन–केन्द्र (Cardiac and Respiratory Centres) दोनों उत्तेजित होते हैं।

आभ्यन्तरिक—अन्नप्रणाली–मसाले के रूप में थोड़ी मात्रा में सेवन करने से आमाशय में उष्णता की उत्पत्ति होती है तथा आमाशयिक रस का उत्पादन तथा आमाशयिक पुरस्सरण दोनों को उत्तेजना मिलती है। अतएव इसका प्रयोग करने से क्षुधा बढ़ती है। अधिक मात्रा में प्रयुक्त करने से यह तात्कालिक विश्वसनीय वामक (Prompt and efficient emetic) के रूप में कार्य करता है। साथ ही इसका वामक प्रभाव निरापद होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आमयिक प्रयोग—

आसुरी गुल्मकुष्ठघ्नी वातप्लीहार्तिशूलनुत् ।
व्रणानां नाशिनी निद्राकरी शोफहरी मता ॥

(ध० नि० से परिवर्तित)

राई-गुल्म तथा कुष्टनाशक, वातरोग,प्लीहा के रोग एवं विभिन्न प्रकार के शूल को नष्ट करती है। इसके अतिरिक्त यह व्रणनाशक, निद्राकरी एवं शोफ-नाशिनी होती है।

राई के वाह्य प्रयोग—साधारणतया अलसी की पुल्टिस पर ⅙ भाग राई छिड़क कर क्षोभक (Irritant) एवं प्रतिक्षोभक (Counter-irrnitant) के रूप में आमवात (Rheumatism), फुफ्फुसावरण शोथ (Pleurisy) एवं श्वसनक सन्निपात (Pneumonia), सूखी खांसी एवं श्वासनलिका शोथ (Bronchitis) में प्रयुक्त किया जाता है।

राई की पट्टी को आमाशयशूल (Gastralgia), आन्त्रशूल (Colic), वातिक शूल (Neuralgia) तथा कटिशूल (Lumbago) आदि में पीड़ा शान्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। उदर के हृदयाधारिक प्रदेश पर राई की पट्टी बांधनेसे वमन की शान्ति होती है। पैर की पिंडली (Calves) पर राई का प्लास्टर रखने से परावर्तित उत्तेजना के कारण श्वासावरोध (Asphyxia) तथा संन्यास (Coma) के रोगियों में लाभ होता है।

तीव्र शिरःशूल, प्रतिश्याय, तथा अन्यज्वरजन्य अवस्थाओं में—विशेषतः बच्चों के लिए-राई के उष्ण जल में पैर रखने से (Hot-foot-bath) बहुत लाभ होता है। शिश्वाक्षेप (Infantile convul sions) में प्रति गैलन उष्ण जल में १ चम्मच राई डालकर रोगी के सम्पूर्ण शरीर को थोड़े समय तक उसमें रखने से लाभ होता है।

सर्दी आदि के कारण मासिक धर्म का अवरोध होने पर राई के उष्ण जल में रोगिणी को कटिस्नान (Hip-bath) कराने से बहुत लाभ होता है।

यद्यपि फुफ्फुस, यकृत, श्वासनलिका तथा मस्तिष्क आदि के शोथ में तथा ज्वर में मानसिक श्रम कम करने के लिए सिरपर तथा हृदय की अशक्तता और शरीर के किसी भाग में शीत लगने से उत्पन्न दर्द में राई का लेप अद्भुत लाभ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करता है, तथापि लेप को अधिक काल तक रखने से फफोला पड़कर कष्ट होने की सम्भावना रहती है। अतएव सदैव राई को ठण्ढे जल में पीसकर कपड़े पर लगा कर लेप करना चाहिये। लेप लगाने के पूर्व त्वचा पर किञ्चित् घृत लगा देना चाहिए तथा जलन मालूम होने पर लेप को फौरन उतार देना चाहिए।

जिह्वाशोथ तथा दन्तशूल में दर्द शान्त करने के लिए राई को गरम जल में मिलाकर कुल्ले करने से लाभ होता है।

राई तथा सहिजन की छाल के लेप से कर्णमूल-शोथ (Mumps) में अद्भुत लाभ होता है। राई के साथ समान भाग आंटा मिलाकर पुल्टिस बनाना भी अच्छा है।

आजकल राई के लिनिमेंट का व्यवहार किया जाता है, जिसे लिनिमेंट सिनेपिस (Liniment Sinapis) कहते हैं। यह राई का उड़नशील तैल, कर्पूर एवं एरण्ड तैल को मद्यसार (Alcohol) के साथ मिला कर बनाया जाता है।

साधारणतया राई के तैल में कर्पूर मिलाकर लगाने से अनेक प्रकार के वातिक शूल आदि में लाभ होता है।

आन्तरिक प्रयोग—परावर्तितरूप से उत्तेजक होने के कारण निद्राजनक विषों के कारण उत्पन्न विषमयता (Narcotic poisoning) में-वमन कराने के लिए राई का विशेष उपयोग होता है। इसके लिए १ तोला तक राई की मात्रा उष्ण जल के साथ देते हैं। थोड़ी मात्रा में राई के खिलाने में आमाशय को शक्ति मिलती है, और अरुचि नष्ट होती है। अतएव राई भी अनेक खाद्य द्रव्यों के साथ मिश्रित की जाती है। इसका 'थियोसिनामिना Thiosinamina' नामक योग रंगहीन मणिभ (Colourless crystals) के रूप में होता है, जो स्वाद में तिक्त होता तथा इससे किंचित् लहसुन की गन्ध आती है। इसका प्रयोग अधस्त्वग् मार्ग द्वारा (Subcutaneously) त्वचा-रोग विशेष (Lupus) में किया जाता है।

इसके 'इन्जेक्शिओ थियोसिनामिनीएट सोडियाई सेलिसिलेटिस Iniectio Thiosinaminaeet Sodi salicylatis' नामक योग का प्रयोग इन्जेक्शन द्वारा निम्न अनेक अवस्थाओं में किया जाता है। यह व्रणवस्तु (Scar tissue)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

को मृदु करता तथा इसका प्रयोग अन्ननलिका-संकोच (Stricture of Oesophagus), मुद्रिका द्वारा-संकोच (Stenosis of pylorus) तथा आमाशय का समीपवर्ती अंगों के साथ संसक्ति (Perigastric adhesions) हो जाने पर एवं मूत्रमार्ग-संकोच (Stricture of urethra) में बहुत उपयोगी समझा जाता है। मध्यकर्ण-बाधिर्य (Middle-ear deafness) तथा सुषुम्णा-काठिन्य (Sclerotic disease of spinal card) रोग में भी इसका प्रयोग लाभकारी सिद्ध होता है। उक्त अवस्थाओं में यह चिकित्सा क्रम चिरकाल तक चलाना पड़ता है।

आजकल 'नाइट्रोजन मस्टर्ड Nitrogen "mustard" का प्रयोग अनेक अर्बुदोत्पादक रोगों में बहुत किया जाता है। जिससे नवीन विकृत धातु पर एक्स-किरणों की भांति किया हो कर अर्बुद का विलयन हो जाता है। इसी आधार पर इसका उपयोग श्वेतमयता (Leukaemia), हॉजकिन का रोग (Hodgkin's disease) तथा लसीका घातकार्बुद (Lymphosarcoma) में किया जाता है। और अद्भुत लाभ होते देखा गया है। लसीका ग्रंथ्यर्बुद (Lymphadenoma) में जिसमें एक्स-किरण चिकित्सा भी व्यर्थ सिद्ध हो गई हो उक्त प्रयोग लाभकारी होते देखा जाता है। इन अवस्थाओं में उक्त प्रभाव स्थायी नहीं होता अतएव चिकित्सा क्रम की अनेक बार पुनरावृत्ति करनी पड़ती है।

इस इन्जेक्शन चिकित्साक्रम में अनेकानेक स्थानिक तथा सामान्यकायिक कुप्रभाव एवं उपद्रव भी उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है। अतएव इनका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

यतः राई के प्रायः सभी यौगिक स्थानिक प्रयोग से तीव्र क्षोभक (Panerful Irritant) प्रभाव करते हैं, अतएव इसका ध्यान रखना चाहिए। सूचिकाभरण (Injections) द्वारा प्रयुक्त होने पर तात्कालिक स्थानिक कुप्रभाव के स्वरूप में उस स्थान में वेदना की उत्पत्ति होती है तथा जिस सिरा में इन्जेक्शन किया जाता है, उसमें शोथ उत्पन्न होकर रक्त जम जाने की अवस्था (Thrombo Phlebitis) के उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त रक्त में अनेक गम्भीर कुप्रभाव भी होते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप श्वेत कायाणु, कणिककायाणु एवं घनास्र कायाणुओं (Thrombocytes) का

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अत्यधिक विनाश होता है। अतएव चिकित्सा क्रम में रक्त की परीक्षा समय-समय पर करके रक्तचित्रण का ज्ञान करते रहना चाहिये।

मात्रा—राई-१ से ३ माशा।

सर्षप

नाम—(सं०) सर्षप, सिद्धार्थ (गौरसर्षप), कटुक, कटुस्नेह, कुष्ठनाशन, सिद्धप्रयोजन, सिद्धसाधन, सितसर्षप; (हिं०) सरसों, पीली सरसों, सफेद सरसों; (बं०) सरिषा, सर्षे, श्वेत सरिषा; (म०) सिरषी; (गु०) शरशव; (क०) तिलगगुल; (पं०) सरेयां सिंध, सिर्याचिटी; (अ०) हुर्फ अब्यज, खर्दल अब्यज, खर्दल अस्फर; (फा०) सर्सफ, इस्फन्दान सफेद; (ता०) काडुगू (Kadugu); (मल०)-वेल्लाकाडुगू Vella kadugu; तैल०—अवेलू या अल्बा (Avalu or alba); (ले०) Brassica comprestris (ब्रेसिका कम्प्रेस्टिस)।

विशेष विवरण—राई के समान सर्षप की भी दो पृथक् पृथक् जातियाँ होती हैं—(१) रक्तसर्षप तथा (२) श्वेत या पीत सर्षप। कृष्ण सर्षप या राई का वर्णन पीछे किया जा चुका है। राई और सरसों की यह सभी जातियाँ वैज्ञानिक दृष्टि से (Brassica) वर्ण की उपजातियाँ होती हैं। कुछ विद्वानों ने सर्षप को Brassica nigra लिखा है सम्भव है कि कृष्ण सर्षप या राई के नाम में सर्षप होने से ऐसा हो गया है, क्योंकि अधिकांश विद्वानों ने सर्षप को 'Brassica compestirs' ही स्वीकार किया है।

परिचय—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, सरसों की पीली और लाल दो जातियाँ होती हैं। यह दोनों जातियाँ भारतवर्ष में सर्वत्र खेतों में बोई जाती हैं। इसको शरद ऋतु में गेहूं आदि के खेतों में बोते हैं। वसन्त ऋतु में इसके पुष्प पीतवर्ण के बड़े सुहावने लगते हैं। इसकी पत्तियां मूली के ही समान होती हैं। इसका शाक खाया जाता है। फाल्गुन मास के लगभग इसमें फली लगती है। जिससे छोटे छोटे बीजों के दाने निकलते हैं। इन बीजों से तैल निकाला जाता है। जो कि भारतवर्ष के अधिकांश भागों में खाने के प्रयोग में आता है। वाह्य त्वचा पर इसकी मालिश बड़ी उत्तम समझी जाती है। इसके साथ भड़भाड़ के बीज या अन्य तत्सदृश बीज मिलाकर तैल बनाते हैं, जिससे हानि होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सक्रियतत्त्व—इसके बीजों में एक स्थिर तैल २० से २५ प्रतिशत पाया जाता है। एक मणिभीय तत्त्व-जिसे सिनाल्बिन (Sinalbin) कहते हैं-भी पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त Sinapin suphocyanide (सिनापिन सल्फोसाइनाइड), Lecithin (लेसिथिन), Mucilage (केवल टेस्टामें), Myrosin (A-ferment) (माइरोसीन) प्रोटीन तथा ४ प्रतिशत राख (Ash) पाई जाती है, जिसमें पोटासियम, मैग्नेसियम तथा कैलसियम के फास्फेट लवण मिलते हैं।

गुणकर्म—

सर्षप बीज—

सर्षपस्तु रसे पाके कटुः स्निग्धः सतिक्तकः।
तीक्ष्णोष्णः कफवातघ्नो रक्षोघ्नश्चाग्निवर्धनः॥
(भावप्रकाश में किंचित् परिवर्तित)

सर्षप-रस में कटु, तिक्त, पाक में कटु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, रक्षोघ्न, ग्रहादि नाशक, अग्निवर्धक तथा कफवातनाशक होती है।

सार्षपशाक गुण—

कटुकं सार्षपं शाकं बद्धमूत्रमलं गुरु।
अम्लपाकं विदाहि स्यादुष्णं रूक्षं त्रिदोषकृत्।
सक्षारलवणं तीक्ष्णं स्वादु शाकेषु निन्दितम्।

सार्षप शाक-कटु, मल-मूत्र को बांधने वाला (रोकने वाला), गुरु, अम्लपाकी, विदाही, उष्ण, रूक्ष, त्रिदोषकारक, क्षार-लवणयुक्त, तीक्ष्ण, स्वादु तथा शाकों में निन्दित होता है।

सार्षपतैल गुण—सार्षप तैल का प्रयोग कटु तैल के नाम से बहुत प्राचीन काल से किया जाता है।

दीपनं सार्षपं तैलं कटुपाकरसं लघु।
त्वच्यं तीक्ष्णं तथा चोष्णं लेखनं बहुपित्तलम्।
कफमेदोऽनिलार्शोघ्नं शुक्रघ्नं नेत्रदूषकम्॥
तद्वद् राजिकयोस्तैलं विशेषाद् मूत्रकृच्छ्रकृत्।
(भावप्रकाश से किञ्चित् परिवर्तित)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सार्षपतैल–रस तथा विपाक में कटु, वीर्य में उष्ण, दीपन, लघु, त्वच्य, तीक्ष्ण, लेखन, पित्तवर्द्धक, कफ, मेद, वात, अर्श–नाशक, शुक्रनाशक तथा अचक्षुष्य होता है। इसी प्रकार के गुणराई के तैल में होते हैं, विशेषतः वह मूत्रकृच्छ्रकारक होता है।

सांस्थानिक प्रभाव—सार्षप बीजों का बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रभाव राजिकावत् होता है। अतएव राई के स्थानपर सर्षप का प्रयोग किया जा सकता है। सर्षप के बीजों को वाजीकर व मूत्रल भी कहा गया है।

आमयिक प्रयोग—

बीज—सर्षपस्तु जयेत् कण्डूकुष्ठकोष्ठकृमिग्रहान्।
तीक्ष्णोष्णः कफवातघ्नो रक्तपित्ताग्निवर्धनः॥
यथा रक्तस्तथा गौरः किन्तु गौरो वरो मतः।

सर्षप–कण्डू, कुष्ट, कोठ–कृमि तथा ग्रहदोष को नष्ट करता है तथा तीक्ष्ण, उष्ण, कफवातनाशक तथा रक्तपित्त एवं अग्नि को बढ़ाता है। जैसा रक्त सर्षप है वैसा ही गौर सर्षप भी है किन्तु गौर सर्षप श्रेष्ठ माना गया है।

तैल—कटु तैलं मतं तीक्ष्णं सम्यक् पित्तास्रदूषकम्।
कफमेदोऽनिलार्शोघ्नं शिरःकर्णामयापहम्॥
कण्डूकुष्ठकृमिश्वित्रकोठदुष्टकृमिप्रणुत्।
तद्वद्राजिकयोस्तैलं विशेषान्मूत्रकृच्छ्रकृत्॥

कटु तैल–तीक्ष्ण, रक्त तथा पित्तदूषक (इसका अर्थ रक्तपित्त रोग को उत्पन्न करने वाला समझना चाहिए। न कि रक्तदोषवर्द्धक क्यों कि रक्तदुष्टि का लोग सामान्य अर्थ यह भी लेते हैं कि दुष्ट रक्त से त्वचा के रोग होते हैं। वास्तव में कटु तैल को पहिले ही त्वच्य कहा जा चुका है।) कफ मेद, वातदोष एवं अर्शरोग नाशक, शिर एवं कर्ण रोगों में हितकारी, कण्डू, कुष्ट, कृमि, श्वेतकुष्ट, कोठ, दुष्टकृमि इनको नष्ट करता है। इसी भांति राजिका का तैल भी होता है। किन्तु दूसरा विशेष प्रभाव मूत्रकृच्छ्र को उत्पन्न करने का होता है।

प्रयोग—इसके बीजों का बाह्य एवं आन्तरिक प्रयोग राजिकावत् ही किया जाता है। विशेषतः निम्न शास्त्रीय प्रयोग विशेष महत्त्व के हैं। गौर सर्षप कल्क वातरक्तनाशक होता है। श्लीपद में वार्त्ताकपत्र मिश्रित सर्षपबीजों के लेप से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लाभ होता है। ऊरुस्तम्भ में करञ्जफल और सर्षप को गोमूत्र से पीसकर लेप करना चाहिए। सर्षप-कल्क के पिण्ड को पुटपाक विधि से स्विन्न कर प्रयोग करने से विचर्चिका में लाभ होता है। नक्तमाल (करञ्ज) के बीज और सफेद सरसों को बकरे के मूत्र में पीसकर गोली बनाकर छाया में सुखा लेवें। उस गोली को घिसकर अञ्जन करने से उन्माद एवं अपस्मार में लाभ होता है। सरसों का उबटन लगाने से कक्ष आदि त्वग्रोग नष्ट होते।

तैल—आयुर्वेद में जहां भी कुष्ठ आदि रोगों (त्वग्रोग) में तैल के बाह्यप्रयोग का विधान किया जाता है। वहां सरसों का तैल ही लिया जाता है। क्योंकि सर्षप तैल विशेषरूप से त्वचा दोषों को शान्त करता है। चरककार ने चिकित्सा स्थान के अध्याय ७ में सर्षपतैल को विशेषरूप से कुष्ठघ्न[1] निर्देश किया है। सुश्रुत[2] ने श्लीपद रोग को शान्ति के लिए सार्षप तैल पीने का निर्देश किया है। सार्षप तैल और लवण का घर्षण करने से दन्त मजबूत होते हैं। सर्षप-बीजों को पीसकर नमक मिलाकर दांतों पर घर्षण किया जाता है। कटुतैल की आमवात, कटिशूल तथा अन्यान्य वेदनाओं को शमन करने के लिए मालिश करते हैं।

मात्रा—३ से ४ माशा।

चन्द्रशूर

नाम—(सं०) चन्द्रशूर, चन्द्रिका, चर्महन्त्री, पशुमेहनकारिका, नन्दनी, कारवी, भद्रा, वासपुष्पा, सुवासरा, दरकृष्णा, रक्तबीज, कालमेघी, दीर्घबीज, रक्तराजी, सिद्धप्रयोजन, आशालिका; (हिं०) चन्दसुर, चतसुर, हालों, हालिम; (गु०) अशेलियो; (मा०) असालियो, (पं०) हालिया; (सिंध) आहियों, अहेरो; (मराठी) अहालीव, (ता०) अलिविदै; (ते०) आदेली; (कश्मीर) तरिबुद; (ता०) आलिविराई (Alivirai), (कना०) अलीवीज (Allibija), तैलगू—आदित्यालु (Adityaly); (अ०) हब्बुर्रशाद, हुर्फवागली, हुर्फ; (फा०) तुख्म इस्पन्दान, सिपंदान; तुख्म तु (त) रेहतेजफ; (अं०) कामन क्रेस Conmon cress; वाटर या गार्डेन क्रेस Water or garden cress; (ले०)—लेपिडियम् सेटाइवम् Lepidium Sativum।

---

१. सर्षपकरञ्जकोशातकीनां तैलानि।········कुष्ठेषु हितान्याहुः। च० चि० अ० ७।

२. पिवेत्सर्षपतैलं वा श्लीपदावानान्निवृत्तये। सु० चि० अ० १९।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वि० विवरण—सर्वप्रथम चन्द्रशूर का वर्णन भावप्रकाशकार ने किया है। बहुत प्राचीन ग्रंथों में इसका वर्णन नहीं है। चन्द्रसुर का एक नाम चन्द्रिका भी है। चन्द्रिका का वर्णन राजनिघण्टु में आया है। यह नहीं कहा जासकता कि राजनिघण्टुकार की चन्द्रिका (मेथी भेद) चन्द्रशूर ही है या अन्य किन्तु भावप्रकाशकार ने मेथिका, वन्यमेथिका और उसी के भेद चन्द्रशूर का उल्लेख किया है और चतुर्बीजमें चन्द्रशूर[3] को सम्मिलित किया है। इसका प्रयोग भी भारतवर्ष में चिरकाल से होता है, किन्तु प्राचीन ग्रंथों में इसके विशेष आमयिक योगों का उल्लेख नहीं दिखाई देता। वैद्यकशब्दसिंधुकार इसे 'बनमेथिका' कहते हैं, जो इससे भिन्न है। निघण्टुकार शोढल ने इसका वर्णन किया है।

उत्पत्तिस्थान—यह विदेशों से लाया हुआ क्षुप है। भारतवर्ष में यह प्रायः बगीचों में पैदा किया जाता है। शीतकाल में इसकी उत्पत्ति होती है। इसकी खेती भारतके अतिरिक्त एशिया और योरुप के अन्य देशों में भी बगीचों में की जाती है।

परिचय—इसका २–३ फीट ऊँचा क्षुप होता है। चिक्कण एवं रोमयुक्त भी हो सकता है। नीचे के पत्ते एक या द्विपक्षवत् और ऊपर के पत्ते आयताकार या रेखाकार खण्डित (अर्धानुत्तर पक्षवत् खण्डीभाव) होते हैं। पुष्प–श्वेत तथा क्षुद्रफल २ इंच के चपटे अंडाकार तथा अग्र पर किंचित दबे हुए होते हैं। बीज–छोटे लाल या ललाई लिए भूरे या पिलाई लिए सफेद अण्डाकार या लम्बे–गोल होते हैं। जल में भिगोने से इनमें पिच्छिलता (लुआब) उत्पन्न होती है। यह बीज ही हुर्फ या हालिम के नाम से बाजार में प्राप्त होते हैं। इन्हीं भूने हुए बीजों को 'मिकलियासा' कहते हैं।

सक्रियतत्त्व—इसके बीज में एक सुगन्धित उत्पत् तैल (Aromatic Volatile oil) तथा एक अन्य तैल प्राप्त होता है। उत्पत् तैल ही इसका मुख्य सक्रिय तत्त्व है। इसके अतिरिक्त इसमें आयोडीन (Iodine), लौह (Iron), फास्फेटस (Phosphates), पोटाश (Potash) तथा अन्य लवण भी पाये जाते हैं। एक तिक्त सत्व (Bitter extract) जल एवं गन्धक भी इसमें होता है।

---

१. मेथिका चन्द्रशूरश्च कालाजाती यवानिका। एतच्चतुष्टयं युक्तं चतुर्बीजमिति स्मृतम्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणकर्म—

चन्द्रशूरं मतं चोष्णं तिक्तं वातकफापहम् ।
वाजीकरञ्च बल्यञ्च तिक्तं स्तन्यस्य वर्द्धकम् ॥
पीडाहरं सरञ्चैव रक्तदोषविनाशकम् ।
रजःस्रावकरं स्निग्धं मूत्रलं चानुलोमकम् ॥ (स्व०)

चन्द्रशूर–रस में तिक्त, वीर्य में उष्ण, वातकफनाशक, वाजीकर, बल्य, तिक्त, स्तन्यवर्द्धक, पीडानाशक, सर, रक्तदोषनाशक, रजःप्रवर्त्तक, स्निग्ध, मूत्रल तथा वातानुलोमक होता है ।

सांस्थानिक प्रभाव—बाह्य–चन्द्रशूर का बाह्य प्रयोग स्थानिक रक्ताभिसरण को बढ़ा देता है। अतएव शोथनाशक है । इससे स्थानिक नाड्यग्र प्रभावित होते हैं और पीड़ा का नाश होता है ।

आन्तरिक प्रभाव—पाचक संस्थान–पर चन्द्रशूर का विशेष प्रभाव होता है। आन्त्र को इसके सेवन से वल मिलता है। इसके बीजों में पाया जाने वाला लुआब विशेषरूप से आन्त्र के श्लैष्मिक स्तर (Mucous Coat) के संक्षोभ (Irritation) को शमन करता है। इसीलिए इसे स्नेहन कहा गया है। इससे पाचक संस्थान की रूक्षता दूर होकर वात का अनुलोमन हो जाता है और स्निग्धता के कारण वातदोष नष्ट होकर पुरस्सरण तथा पाचक आदि क्रियायें ठीक होती हैं ।

मूत्र एवं प्रजनन संस्थान पर चन्द्रशूर विशेष प्रभावकारी होता है । सम्भवतः इसकी यह क्रिया भी इसके स्निग्ध गुण के कारण होती है। मूत्र की मात्रा बढ़ती है। किन्तु यूनानी चिकित्सक इसे मूत्रल लिखते हुए भी वृक्क के लिए हानिकारक मानते हैं। इसके निवारणार्थ–खीरा, ककड़ी के बीजों के प्रयोग का निर्देश भी करते हैं। यह आर्तव तथा स्तन्यवर्द्धक एवं पौष्टिक और पुंस्त्ववर्धक भी है ।

आमयिक प्रयोग—

चन्द्रशूरं हितं हिक्कावातश्लेष्मातिसारिणाम् ।
असृग्वातगदद्वेषि वलपुष्टिविवर्द्धनम् ॥
अभिघातरुजं लेपात् पानाद् गुल्मविनाशनम् ॥
(भावप्रकाश से किंचित् परिवर्तित)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चन्द्रशूर-हिक्का तथा वात-श्लेष्मातिसार में हितकारी होता है। वातरक्त रोगनाशक तथा बलपुष्टिदायक होता है। इसके सेवन से गुल्मरोग नष्ट हो जाता है। तथा बाह्य लेप से अभिघातज पीडा शान्त होती है।

बाह्य—चन्द्रशूर का लेप त्वग्रोगों में रक्तदुष्टिजन्य रोग (झाईं आदि) तथा तत्सदृश अन्य त्वग्रोगों को नष्ट करने एवं विभिन्न प्रकार के स्थानिक शोथ को मिटाने के लिये किया जाता है। चन्द्रशूर के बीजों को नींबू के रस में पीसकर एक कपड़े पर लगाकर आन्तरिक शोथ तथा आमवात की पीड़ा दूर करने के लिये लेप किया जाता है। इसका भी लेप उन सभी अवस्थाओं में किया जा सकता है। जिनमें राई प्रयुक्त होती है। चन्द्रसुर ५ भाग, चूना ५ भाग, आंवा-हल्दी या साधारण हल्दी ४ भाग, मैदालकड़ी ५ भाग इन सब को जल में पीस कर मोच, चोट, संधि च्युति, अस्थिभंग आदि में लेप करते हैं।

आन्तरिक प्रयोग—इसके पंचाङ्ग एवं बीजों का प्रयोग फोड़ा फुन्सियों के उत्पत्ति होने के समय किया जाता है। मुख्यतया इसकी स्निग्धता के कारण रक्त-दुष्टिजन्य त्वग्रोगों, हिक्का, अतिसार तथा ग्रहणी आदि रोगों में चन्द्रसूर के क्वाथ (१-२० भाग) या शीतकषाय (१-१०) का प्रयोग भी किया जाता है। इसके बीजों के प्रयोग से प्लीहोदर में भी लाभ होता है। हिचकी में इसके क्वाथ को २-२ घण्टे बाद दिया जाता है। चन्द्रसूर के चूर्ण को शर्करा मिश्रित कर अतिसार में देते हैं। इसके बीजों को दूध में उबालकर गर्भस्राव कराने के लिये प्रयुक्त करते हैं। घृत एवं शर्करा के साथ इसके बीज पुष्टि के लिए खाये जाते हैं। प्रसवोपरान्त भी स्त्रियां इसका सेवन करती हैं। शुक्रदौर्बल्य, श्वेतप्रदर (Leucorohoea) तथा कटिशूल एवं अन्य प्रकार के वातिक शूल को तथा आमवात में भी इसी प्रकार प्रयोग किया जाता है। अनेक अन्य दीपन-पाचन द्रव्यों के साथ इसका लड्डू बनाकर खाते हैं। इसके यवागू का भी व्यवहार इन्हीं रोगों में होता है।

यूनानी चिकित्सक इसे श्लेष्मनिस्सारक मानते हैं और श्वास-कास में भी प्रयोग करते हैं। तथा अन्य आमाशयान्त्र रोगों तथा कामावसाद में देते हैं।

मात्रा—२ माशे से ३ माशा तक।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मूलकम्

नाम—(सं०) (१) मूलक, महाकन्द, स्वस्तिक, हस्तिदन्तक, नीलवर्ण, नीलकन्द, रुचिष्णा, हस्तिदन्तक, मिश्रहस्तिका, सारसेवित, नीलकण्ठ, हरिपर्ण, शंखमूल, रुचिसं, दीर्घकन्द, क्षारमूल, भूक्षार, कन्दमूल, मृत्तिकाक्षार।

(२) चाणक्यमूलक, शालेय, मरुसम्भव, शाला, मर्कटक, मिश्र,-विष्णु-गुप्त, स्थूलमूल, महाकन्द, कौटिल्य; (हिं०) मूली, मुरई, मूरो; (बं०) मुला, चणकमूली; (गुज०) मूला, मागरी; (पं०) मूरी, मरा, मुला; (काश्मीर) मुझ, मुजी; (तामिल-तैलगू तथा कनाड़ी) मूलङ्गी (Mullangi); (मल) कनकपाल (Kankapal); (अ०) फ़ुज्ल (जल); (फा०) तुर्व; (यू०) रेफ़ेनस; (अं०) गार्डन रेडिश (Garden Radish)

विशेष विवरण—मूलक या मूली का व्यवहार अतिप्राचीन काल से भारतवर्ष में होता आया है। कच्ची मूलीभोजन के साथ खाई जाती है। इसके मूल (कन्द)-पत्र और फलों का शाक भी बनाया जाता है। चरककार ने इसे हरित-वर्ग (जिसमें भोजन के साथ खाये जाने वाले अन्य द्रव्यों का वर्णन किया है—सूत्रस्थान अ० २७) में निर्देश किया है। सुश्रुतकार ने शाक वर्ग में (सूत्रस्थान अ० ४६) में इसके गुणधर्मों का विस्तार से विचार किया है। सुश्रुतकार ने मूलक के २ भेद स्वीकार किए हैं। मूलकपोतिका या बालमूलक और वृहत् या बड़ी मूलक धन्वन्तरि निघण्टु में भी मूली का विस्तार से वर्णन है। इस ग्रंथ में तथा राजनिघण्टु में भी मूलक के मुख्य रूप से २ ही भेद बतलाये गए हैं। किन्तु उनके नामादि में भिन्नता प्रतीत होती है। ह्रस्व या बालमूलक और बृहन्मूलक को माणाख्य मूलक के नाम से निर्दिष्ट किया गया प्रतीत होता है। किन्तु धन्वन्तरि निघण्टु में गृञ्जन और पिण्डमूल नामक दो अन्य कन्द द्रव्यों का वर्णन किया गया है, जिसको भी मूलकविशेष कहा गया है। वास्तव में यह द्रव्य मूलकसदृश कन्द द्रव्य होने के कारण मूलक विशेष कहे गए प्रतीत होते हैं। बाद के निघण्टुकार कैयदेव एवं भावमिश्र ने भी दो ही प्रकार की मूली का निर्देश किया है। कैयदेव ने प्रायः नाम भी धन्वन्तरि निघण्टुकार के समान ही लिखे हैं किन्तु भावमिश्र मूलक को ही चाणक्यमूलक लिखते हैं और बृहन्मूलक को नैपालमूलक इस विशिष्ट नाम से निर्देश करते हैं। मूलक के निम्न नाम महत्त्व के हैं:—स्वस्तिक (शुभ फल या कन्द); महाकन्द (बड़े कन्द वाला); शंख-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मूल (शंख के समान श्वेत मूलवाला); भूक्षार (क्षारयुक्त होने से ऐसा कहा गया है); इसी प्रकार मरुसम्भव आदि आदि नाम भी महत्त्व के समझने चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—शाकार्थ इसकी खेती सारे भारतवर्ष में की जाती है।

परिचय—इसका २-३ हाथ ऊंचा क्षुप होता है। इसकी फसल वर्ष में कई बार बोई जाती है। विभिन्न प्रकार की मूली गर्मी, बरसात तथा जाड़ा में सदैव प्राप्त हो जाती है। जाड़े में प्राप्त होने वाली मूली अधिक स्वादयुक्त होती है। गर्मी एवं बरसात की मूली में कटुता एवं तीक्ष्णता अधिक होती है। बड़ी मूली प्रायः जाड़े में ही मिलती है। उत्तरप्रदेश के काशी से सन्निकट जौनपुर आदि प्रदेशों में बहुत बड़ी २ मूली पायी जाती है। इसके मूल से प्रथम एक साथ कई पत्र निकलते हैं। पुष्प-श्वेत तथा फलियों में सर्षपवत् क्षुद्र वीज प्राप्त होते हैं। इसके कन्द, पत्र, फली आदि को शाक बनाकर या कच्चा खाते हैं। औषध्यर्थं शुष्क मूलककन्द, स्वरस तथा वीज आदि सभी अवयवों का व्यवहार होता है।

मूलकं द्विविधं प्रोक्तं तथैकं लघु मूलकम्।
शालामर्कटकं विस्रं शालेयं मरुसम्भवम्॥
चाणक्यमूलकं तीक्ष्णं तथा मूलकपोतिका।
नेपालमूलकं चान्यत्तद्भवेद् गजदन्तवत्॥ (भा० प्र०)

मूली दो प्रकार की होती है, एक छोटी और दूसरी बड़ी। छोटी मूली को-शालामर्कटक, विस्र, शालेय, मरुसम्भव, चाणक्यमूलक, तीक्ष्ण, मूलकपोतिका कहते हैं। बड़ी मूली या नेपालमूलक हाथी के दांत सदृश होती है।

सक्रिय तत्त्व—मूली के वीज तथा मूल में एक स्थिर तैल तथा एक उड़नशील तैल (A Sulphuratted Volatile oil) पाया जाता है, जो सरसों के बीज के तैल से मिलता-जुलता होता है। इस तैल में गन्धक (Sulphur) तथा फास्फोरिक एसिड (Phosphoric acid) पाये जाते हैं। आजकल मूली में कई जीवतिक्तियां पाये जाने का संकेत मिला है।

गुणकर्म—

कटुतिक्तरसा हृद्या रोचनी वह्निदीपनी।
सर्वदोषहरा लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका॥
महत्तद् गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णमामं त्रिदोषकृत्।
तदेव स्नेहसिद्धन्तु पित्तनुत् कफवातजित्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त्रिदोषशमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु ।
विष्टम्भि वातलं शाकं शुष्कमन्यत्र मूलकात् ॥
पुष्पञ्च पत्रञ्च फलं तथैव-
यथोत्तरं ते गुरवः प्रदिष्टाः ।
तेषान्तु पुष्पं कफपित्तहन्तृ-
फलं निहन्यात् कफमारुतौ च ॥
(सु० सूत्र ४६ अध्याय।)

मूलकपोतिका (कच्ची छोटी मूली)—कटु और तिक्तरस वाली, हृद्य, रुचिकारक, अग्निदीपक, त्रिदोषनाशक, लघु, कण्ठ के लिये लाभदायक होती है। बड़ी मूली (कच्ची)-भारी, विष्टम्भजनक, तीक्ष्ण और त्रिदोषकारक होती है। यदि उसे अग्नि पर स्नेह (तैल-घृतादि) से सिद्ध कर लिया जाय तो वह पित्तशामक एवं कफवातनाशक होती है। सूखी मूली-त्रिदोषशामक और विषदोषहर तथा लघु होती है। मूली के अतिरिक्त अन्य सभी शुष्क शाक-विष्टम्भी तथा वातवर्धक होते हैं। मूली के पुष्प, पत्र तथा फल उत्तरोत्तर गुरु (भारी) होते हैं तथा पुष्प कफपित्तनाशक और फल कफवातनाशक होते हैं। चरककार ने भी इसी मत का प्रायः समर्थन किया है :—

बालं दोषहरं वृद्धं त्रिदोषं मारुतापहम् ।
स्नेहसिद्धं विशुष्कं तु मूलकं कफवातजित् ॥
(चरक सू० २७ अध्याय।)

बालमूलक त्रिदोषहर, वृद्ध त्रिदोषकर, स्नेहसिद्ध मूलक वातनाशक तथा शुष्कमूलक कफवातनाशक होती है।

सांस्थानिक प्रभाव—मूली का प्रभाव मुख्यतया पाचक-संस्थान और मूत्रवाहक संस्थान पर होता है। इसके सेवन से अग्नि की वृद्धि होती है। भुक्तद्रव्यों का परिपाक शीघ्र होता है। हकीमों का मत है कि स्वयं मूली का परिपाक देर से होता है, किन्तु मूली दूसरी खाद्यवस्तुओं को पचा देती है। उनके मत से मूली में २ प्रकार की शक्ति (वीर्य या जौहर) होती है। एक वीर्य पार्थिव है, जो सान्द्र (ग़ज़ीज़) और चिरपाकी होता है और दूसरी शक्ति उष्ण और प्रवाही (लतीफ़) है। इसी के आधार पर मूलक के मुख्य गुण होते हैं। पाचकसंस्थान पर इसका प्रभाव पाचक और वातानुलोमक होता है। इसके पार्थिव गुण के कारण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ही यह देर में परिपचित होता है। और इसके खाने से देर तक भोजन के पच जाने पर भी डकारें आती रहती हैं। और उनमें मूली की गंध होती है। यह किंचित् सारक (Laxative) भी होती है।

मूत्रवाहकसंस्थान पर इसका प्रभाव विशेष महत्त्व का है। इसके बीज और पत्रस्वरस मूत्रल होते हैं। स्त्रियों में बीज किंचित् आर्तवजनक प्रभाव करते हैं।

आमयिक प्रयोग—

मूलकं रुचिरं हृद्यं मूत्रदोषापहारकम्।
दुर्नामकासगुल्मघ्नं वातघ्नञ्च प्रकीर्तितम्॥ (स्वरचित)
मूलकन्तु मतं स्वर्यं ज्वरश्वासविनाशनम्।
नासिकाकण्ठरोगघ्नं नयनामयनाशनम्॥
(भा० प्र० से किंचित् परिवर्तित)
निहन्याद्दद्रुशूलामकोठोदावर्त्तपीनसान्।
गुल्मकासक्षयश्वासव्रणनेत्रगलामयान्॥
शुष्कं लघु हरेत्शोफं विषं दोषत्रयं तथा। (कैयदेव निघण्टु)

मूलक रुचिर, हृद्य, मूत्रदोषनाशक, अर्श, कास, गुल्म तथा वातरोग नाशक कहा गया है। भावप्रकाशकार ने मूली को स्वर के लिए हितकारी, ज्वर एवं श्वासनाशक, नासिका और कण्ठरोगों को नष्ट करनेवाली तथा नेत्ररोगनाशक बतलाया है।

कैयदेव ने—बालमूलक को दद्रु, शूल, आमदोष, कोठ, उदावर्त, पीनस, गुल्म, कास, क्षय, श्वास, व्रण, नेत्र और गले के रोगों को नष्ट करनेवाली कहा है। उनका यह भी निर्देश है कि शुष्कमूलक शोफ और बिष तथा त्रिदोष नाशक होती है।

यूनानी चिकित्सक—इसे प्लीहा-शोथनाशक तथा अर्शोघ्न कहते हैं। इसके बीजों को वामक कहते हैं।

आमं संग्राहि रुच्यं कफपवनहरं पक्वमेतत् कटूष्णम्
भुक्तेः प्राग् भक्षितं चेत् सपदि वितनुते पित्तदाहास्रकोपम्।
भुक्त्या सार्द्धं तु जग्धं हितकरबलकृद् वेशवारेण तच्चेत्
पक्वं हृद्रोगशूलप्रशमनमुदितं शूलरुग्धारिमूलम् (नि० र०)

आममूलक—संग्राहि, रुचिवर्द्धक, कफवातनाशक, पक्वमूलक—कटु एवं उष्ण, यदि भोजन के पहिले मूलक खाई जाय तो पित्तवृद्धि और रक्तकोप करती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भोजन के साथ सेवन करने से हितकारिणी और बलकारिणी होती है वेशवार के साथ पक्वमूलक—हृद्रोग तथा शूलनाशक होती है, धारिमूलक (अचार आदि में रक्षित) शूलरोग को नष्ट करती है।

विशिष्ट प्रयोग

बाह्य—चरककार[1] ने शुष्कमूलक पिण्ड से शुष्कार्श के स्वेदन का विधान निर्दिष्ट किया है। कफज शोथ में मूलकजल से सेंक का विधान है। ग्रन्थिविसर्प में सुखोष्ण शुष्कमूलक कल्क का लेप करना चाहिए। चक्रदत्त में अपामार्ग के रस से पीसकर मूली के बीजों को सिध्म में लगाने को लाभकारी कहा गया है।

सुश्रुत[2] ने कर्णशूल में मूली के रस को किंचित् उष्णकर पूरण करने को कहा है। हकीम लोग मूली के रस को चतुर्थांश तिल तैल मिलाकर मंदाग्नि पर पकाते हैं। जब केवल तैल रह जाता है, तब उसे छानकर कर्णशूल एवं कर्णक्ष्वेड नष्ट करने के लिए कान में टपकाते हैं। साथ ही व्यङ्गादि रोगों में बीजों को स्वतंत्र या अन्य द्रव्यों के साथ मिलाकर लेप कराते हैं। भैषज्यरत्नावली में शोथाधिकार में शुष्कमूलकाद्य तैल तथा २ प्रकार के बृहच्छुष्कमूलकाद्य तैलों का पाठ किया है, जो कि शोथ को नष्ट करने के लिए उत्तम आयुर्वेदीय प्रयोग माने जाते हैं।

आभ्यन्तर—चरककार अर्श में शुष्कमूलक यूष सेवन को हितकारी कहते हैं। प्रवाहिका में उन्होंने मूलकयूष का प्रयोग निर्दिष्ट किया है। हिक्का—श्वास में शुष्कमूलक यूष हितकारी बताया गया है। वातज कास में मूलक को सेवनीय कहा है। चक्रदत्त वातकफात्मक ज्वर में ह्रस्वमूलकयूष का प्रयोग लिखते हैं। शीतपित्त में मूली का यूष परमहितकारी होता है। भावप्रकाश के मतानुसार विसूचिका में वातमूलक क्वाथ पिप्पली चूर्णयुक्त विसूचिकानाशक तथा जठराग्निवर्धक होता है। निघण्टुकार शोढल ने मूलक को तिल के साथ सर्वशोथहर कहा है। भैषज्यरत्नावली का शुष्कमूलकाद्य घृत उदावर्त और आनाह की एक उत्तम ओषधि है। मूली की जड़ उदरशूल, मूत्र की व्याधियां तथा किंचिदंश में

---

१. शुष्कमूलक पिण्डैर्वा........................।
अभ्यज्य कुष्ठतैलेन स्वेदयेत्पोट्टलीकृतैः॥ (च० चि० १४ अध्याय)

२. मूलकस्वरसः श्रेष्ठः कदुष्णः कर्णपूरणे। (सु० उ० २१ अ०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

औपदंशिक रोगों में भी हितकारी है। इसके प्रयोग से मूत्रकृच्छ्र (Dysuria) एवं मूत्र का कष्ट के साथ बूंद बूंद होकर निकलना आदि कष्ट दूर हो जाते हैं। इसके लिए ताजी मूली के रस का प्रयोग करना चाहिए, कई बार देना चाहिए। मूली को स्कर्वी (Scurvy) रोग के चिकित्सार्थ तथा प्रतिषेधार्थ (Prevention) दोनों दृष्टिकोणों के लिए हितकारी कहा गया है। भोजन के साथ मूलकमूल के सेवन से क्षुधावृद्धि होती तथा पाचन प्रभाव होता है। मूत्रल होने से इसके बीजों का प्रयोग उष्ण वात (Gononrhoea) में हितकारी बताया जाता है। मूलकपत्र स्वरस आध्मान तथा आन्त्रशूल (Intestinal colic) का शमन करता है। बीज का चूर्ण अनार्तव (Amenorrhoea) में दिया जाता है। चिरकालज कोष्ठबद्धता (Chronic constipation) में मूली का शाक नियमित रूप से खाने से बहुत लाभ होता है। यूनानी चिकित्सक प्लीहा शोथ नष्ट करने के लिए मूली को सिरके में डालकर खाने का निर्देश करते हैं।

मात्रा—स्वरस—१ से २॥ तोला, बीज—१ से ४–६ माशा।

खूबकलां

नाम—(हिं०) खाकसीर, खूबकलां; (पं०) नक्त्रस; (मारवाड़) पर्जन, (सिं०) जंगली सरसों; (मराठी) रानतिखी; (अ०) खुब्ब; (फा०) खूबकलां, खाकची, शिब, तुख्मे शहूद, शफ्तरक; (इंग०) हेज मस्टर्ड Hedge mustard; (ले०) सिसिम्ब्रियम् इरियो Sisymbrium irio.

विशेष विवरण—यह द्रव्य यूनानी चिकित्सकों द्वारा विशेषरूप से उपयुक्त होता है। यूनानी चिकित्सकों के प्रभाव से इसका व्यवहार वैद्यों में भी प्रारम्भ हुआ। जयपुर की वैद्यपरम्परा में इस द्रव्य का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। वहां के प्रसिद्ध ग्रंथ 'भैषज्यमणिमाला' में खूबकलां के अनेक प्रयोग मिलते हैं। प्राचीन निघण्टुओं—यहां तक कि भावप्रकाशादि किसी ग्रंथ में इसका वर्णन नहीं है। पञ्जाब आदि प्रदेशों में जहां-जहां यूनानी चिकित्सकों का प्रभाव अधिक हुआ है 'कला' का व्यवहार अधिक होता है।

उत्पत्तिस्थान—उत्तरी भारतवर्ष में रबी की फसल के साथ यह गेहूँ आदि में उत्पन्न होता है। प्रायः अनेकों बगीचे तथा पर्वतीय प्रदेशों में इसके स्वयं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्पन्न पौधे भी मिल जाते हैं। भारतवर्ष के अतिरिक्त फारस तथा यूरोप आदि में भी इसके क्षुप मिलते हैं। सम्प्रति इसके बीजों का आयात ईरान से होता है।

परिचय—ओषध्यर्थ इसके बीज व्यवहृत होते हैं। जो लालिमायुक्त पीत और पोस्ते के दाने से भी छोटे २ होते हैं। इन बीजों को जल में डालने से लुआब निकलता है।

गुणकर्म

तीक्ष्णा चोष्णा कला प्रोक्ता बृंहणी श्लेष्महारिणी।
स्वर्या ज्वरघ्नी स्निग्धा च यूनानीयैः सुपूजिता ॥

खूबकलां तीक्ष्ण, उष्ण, बृंहण, श्लेष्मनिस्सारक, स्वरदोषनाशक और स्निग्ध (तर) होता है।

सांस्थानिक प्रभाव—खूबकलां के बीज विशेषतः श्लेष्मनिस्सारक एवं जननेन्द्रियों को किञ्चित् उत्तेजक होते हैं।

आमयिक प्रयोग

पित्तश्लेष्मज्वरे योज्या विविधस्फोटसंयुते।
विसूचिकायां दौर्बल्ये कासे शोथे कला सदा ॥ (स्व०)

खूबकलां का प्रयोग विभिन्न प्रकार के स्फोटयुक्त पित्तश्लेष्मज्वर में विशेषरूप से हितकारी होता है। विसूचिका, दौर्बल्य, कास एवं शोथ में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

विशिष्ट प्रयोग—विभिन्न प्रकार के ज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे दानेवाले ज्वरों में दाने शीघ्र निकल आते हैं। और शनैः शनैः ज्वर उतरने लगता है। इसके लिए इसके बीजों का क्वाथ बनाकर देते हैं। बीजों को रोगी के विस्तरे पर छिड़कते भी हैं तथा जल के साथ खिलाते हैं।

द्राक्षा कला गुडूची प्रत्येकं तोलकस्तुलिताः ।
गद्याणः कासिन्याः क्वाथः सर्वज्वरं हन्ति ॥
(सिद्धभै० मणिमाला)

द्राक्षा, कला, गुडूची यह १-१ तोला, कासनी ६ माशा। यह क्वाथ सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करता है। वनप्सादि क्वाथ में कला का प्रयोग ज्वरनाशन तथा कफनिस्सारणार्थ किया जाता है। मन्थरक (टाइफाइड) तथा जीर्ण सन्तत ज्वर की यह प्रसिद्ध ओषधि है। कला को हैजे में तृष्णानिवारणार्थ गुलाबजल में या कासनी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

के रस में पकाकर पिलाया जाता है। कास में कफ निस्सारणार्थ कला का अवलेह बनाकर प्रयोग करते हैं। श्वास, स्वरभङ्ग आदि श्वासरंस्थान एवं स्वरयन्त्र के रोगों में कला का प्रयोग किया जाता है। पुष्टयर्थ विभिन्न पाकों में कला के बीजों का योग करते हैं। दुग्ध में पकाकर भी दिया जाता है। प्रलेप के रूप में विभिन्न शोथयुक्त व्याधियों में बाह्यतः प्रयोग करते हैं।

मात्रा—३ माशा तक।

तोदरी

नाम—(फा०) तोदरी; (अ०) बज्रुल् खुमखुम, बज्रुल हुव; कसीम; (अं०) पेपर ग्रास (Pepper grass, पेपरवर्ट Pepper wart; (ले०) लेपिडियम् इबेरिस Lepidium iberis, Liun.

विशेष विवरण—तोदरी एक यूनानी ओषधि है। इसका वर्णन भी प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। भावप्रकाश आदि निघण्टुकारों ने भी इसका वर्णन नहीं किया है। यूनानी चिकित्सकों से प्रभावित वैद्यों द्वारा प्रयोग देखा जाता है। सिद्ध भैषज्यमणिमालाकार ने इसका संग्रह अपने ग्रन्थ में किया है।

उत्पत्ति स्थान—इसकी मुख्य उत्पत्ति ईरान में होती है। दक्षिण योरुप में साइबेरिया तक यह प्राप्त होता है। भारत में हिमालय तथा पञ्जाब आदि क्षेत्रों में इसके पौधे मिलते हैं। किसी किसी भेद के यू० पी० में भी एक आध क्षुप मिल जाते हैं। बीजों का आयात ईरान से ही होता है।

परिचय—इसके बीज बाजार में मिलते हैं। रंग-भेद से ये ३ प्रकार के होते हैं—(१) रक्त (लाल या सुर्ख), (२) पीत (पीला या जर्द) और (३) श्वेत (सुफेद) इसका ही एक भेद जो किंचित् भूरा होता है, कहीं-कहीं तोदरी स्याह या कालीतोदरी नाम से भी बाजार में बिकता है। तोदरी के बीज मसूराकृति होते हैं। किन्तु इनका आकार मसूर से बहुत छोटा होता है। ये बीज किंचित् चपटे होते हैं। सफेद तोदरी सब से बड़ी और विशेष चपटी होती है। तोदरी के बीजों को जल में भिगोने से वह पिच्छिल लुआब से आवृत हो जाते हैं।

रासायनिक संगठन—तोदरी के बीजों में तोदरीन (Lepidin) नामक एक विरूपिक (Amorphous) तिक्तसत्त्व (Bitter substance) पाया जाता है। इसके अतिरिक्त एक उड़नशील तैल भी पाया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणकर्म

करोति रेतःपरिपूरितं जनं निषेविता भञ्जयति प्रभञ्जनम्।
बलासजित्पित्तकरी जराहरी प्रमेहपीडाप्रणुदस्ति तोदरिः।
(सि० भै० म० मा०)

तोदरी—वीर्यवर्द्धक, वात-कफनाशक, पित्तवर्धक और प्रमेहरोगनाशक होती है। इसके अतिरिक्त तोदरी-मूत्रल, स्तन्यवर्धक, उष्णताजनक, दोषतारल्यजनन, श्लेष्मनिष्ठीवनोत्सर्गकर्त्री, शीतल-आमाशय बलदायक, बृंहण एवं बाह्योपयोग से श्वयथुविलयन भी होती है।

आमयिक प्रयोग

कथिता बाह्यलेपेन तोदरिः शोथहारिणी।
मर्दनात् सन्धिवातेऽस्यास्तैलं पीडादिनाशकम्॥
बृंहणाय भृशं देया स्तन्यमूत्रप्रवृत्तये
श्लेष्मनिस्सारणार्थञ्च वैद्यैर्योज्याऽवलेहिका॥ (स्व०)

तोदरी बाह्य-लेप से शोथनाशक होती है। इसके तैल का अभ्यंग सन्धिवात में पीड़ा शमन के लिये करते हैं। तोदरी के बीजों का प्रयोग वाजीकरण तथा बृंहण के लिए होता है। स्तन्य एवं मूत्र जनन के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसका अवलेह श्लेष्म-निस्सारणार्थ देते हैं।

विशिष्ट-प्रयोग—वाजीकरण तथा स्तन्यजनन के लिए इसके चूर्ण का व्यवहार किया जाता है। श्लेष्मनिस्सारण के लिए इसका अवलेह देना चाहिये। शोफ-विलयन के लिए इसका लेप तथा संधिवात में इसके तैल का अभ्यंग करना चाहिए। मूत्रल होने से प्रमेह में भी चूर्णरूप में देते हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बनने वाले 'बादाम पाक' में इसका योग पुष्ट्यर्थ करते हैं।

टिप्पणी—डा० चोपड़ाकृत 'इण्डियन मेडिसिनल प्लान्ट्स' की सारिणी में इसे अंग शोफ (Dropsy) में उपयोगी लिखा है। मूत्रल होने से तोदरी में यह गुण हो सकता है। कुछ ग्रन्थकार सर्वांगशोफ में इसके प्रयोग का उल्लेख नहीं करते। व्रणशोफ में इसका लेप करने से लाभ होता है।

मात्रा—३ माशा से ६ माशा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शलगम या शलजम

नाम—(हिं०) शलगम या शलजम; (अं०) टर्निप Turnip; (ले०) ब्रेसिका कम्पेस्ट्रिस Brassica Compestris।

परिचय—यह कैबेज (Cabbage) जाति का क्षुप है। इसका मोटा भौमिक तना या मूल भोज्य-द्रव्य की भांति व्यवहृत होता है।

सक्रियतत्त्व—इसके हरित भाग में पोटाश (Potash) पाया जाता है।

गुण-कर्म एवं प्रयोग

यह मृदुरेचक एवं मूत्रल होता है। यह भोज्यरूप में प्रयुक्त होता है। कहीं कहीं इसके पुल्टिस का व्यवहार औषध्यर्थ करते हैं।

फूलगोभी तथा उसकी अन्य जातियाँ

नाम—(मराठी तथा हिं०) गोभी, फूलगोभी; (ते० कना०) कासूगुड्डि (Kasuguddae); (तामिल) कोविप्पू (Kovippu); (अं०) कैबेज (Cabbage); (ले०) ब्रेसिका ओलेरेसिया (Brassica olerecea); ब्रेसिका सेटाइवा (Brassica Sativa); ब्रेसिका वोट्रिटिस B. Botrytis या ब्रेसिका प्लोरिडा B. Plorida।

विशेष विवरण—गोभी की कई जातियाँ प्रचलित हैं। इसमें कई एक केवल भोजन में व्यवहृत होती हैं। ब्रासिका क्यूमाना B. Cumana या ब्रासिका रुब्रा B. Rubra (Red Cabbage) को कहीं कहीं औषध्यर्थ भी व्यवहृत किया जाता है। गुजराती के प्रसिद्ध निघण्टुकार श्री बापालाल जी ने Brassica oleracea का संस्कृत पर्याय 'केमुक' या 'दलमालिनी' दिया है। उन्होंने निघण्टुरत्नाकर (जिसका आधार लेकर आपने 'केमुक' का वर्णन किया है) के केमुक सम्बन्धी निम्न शब्दों को उद्धृत किया है:—

"......केम्बु सुपत्रा दलमालिनी। केलूटः स्वल्पविटपः स्वादुकन्दश्च पोलिनी॥" (नि० र०)।

इसके आगे भावप्रकाशकार के निम्न पद्यों का उल्लेख है:—

"केमुकं कटुकं पाके तिक्तं ग्राहि हितं लघु। दीपनं पाचनं हृद्यं कफपित्त-ज्वरापहम्॥ कुष्ठकालप्रमेहार्शो नाशनं वातलं कटु"। (भावप्रकाश)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विचार करने से ज्ञात होता है, कि केमुक और गोभी में बड़ा अन्तर है। निघण्टुरत्नाकर का केलूट स्वादुकन्द जो भी हो, किन्तु केमुक जिसे भावप्रकाशकार कटु रस एवं कटु विपाक वाला द्रव्य लिखते हैं, वह Costus Speciosus कास्टस स्पेसिओसस वैज्ञानिक नामवाली वनस्पति को मानना चाहिये। हिन्दी में इसे 'केऊं' कहा जाता है। तथा इसका मूल तिक्त कटु होता है। भावप्रकाशोक्त गुण इसमें प्रायः पाये जाते हैं। अनेक प्रामाणिक शास्त्रज्ञों ने इसे ही केमुक स्वीकार किया है। इस द्रव्य का वर्णन यथावसर किया जायगा। इस प्रसङ्ग में केवल गोभी और उसकी जातियों का वर्णन प्रकृत है।

परिचय—गोभी की विभिन्न जातियों (जैसे Cabbage कैबेज, काली-फ्लावर Cauliflawer, ब्रोकोली Broccoly तथा Nolecole) को जङ्गली गोभी (Wild Cabbage) या 'Colewort' जो पर्वतों पर स्वयं उत्पन्न होती है, से प्रस्तुत किया गया है। भारत में इसकी मौलिक जाति खण्डाला महाबलेश्वर आदि स्थानों में मिलती है। भारतवर्ष में आज कल बाजारों में भोज्य-द्रव्यों के लिये इसकी अनेक जातियाँ मिलती हैं।

सक्रियतत्त्व—गोभी में गन्धक काफी मात्रा में पाया जाता है। गोभी की सुन्दर गन्ध इसी कारण होती है।

गुणकर्म तथा प्रयोग

गोभी तथा उसकी अन्य जातियों का उपयोग भोज्य द्रव्यों में किया जाता है। इसकी रक्त जातियों से एक पानक प्रस्तुत किया जाता है। सफेद गोभी का स्वरस त्वचा के क्षुद्र रोगों में हितकारी होता है। इसका शाक मधुर, कफ वर्द्धक और किंचित् दुर्जर होता है।

तुवरी

नाम—(सं०) तुवरी; (हिं०) तोरी, तिलरा; (बम्बई) सफेद सरसूं; (अं०) The Rocket; (पञ्जाब) तारामीरी Taramiri; (अ०) जारजीर (Jarjir); (फा०) इहूफान; (ले०) Eruca sativa (इरुका सेटाइवा)।

विशेष विवरण—संस्कृत का तुवरी नाम बहुवाचक है। तुवरी आढकी (अरहर), फिटकरी आदि को भी कहते हैं। किन्तु तुवरी नाम का एक राजिका

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जातीय धान्य भी पृथक् रूप से होता है। प्रस्तुत प्रकरण में यही अपेक्षित है। भावप्रकाशकार ने इसका वर्णन किया है।

परिचय—इसके वार्षिक या द्विवार्षिक क्षुप होते हैं। उत्तर प्रदेश तथा मध्य-भारत में इसकी कहीं कहीं खेती भी होती है तथा जंगली रूप से भी यह प्राप्त होता है। यवनों की प्राचीन किंवदन्ती है कि यदि खट्ट अनार को इसके स्वरस से सींचा जाय तो उसके फल मीठे हो सकते हैं। इसके क्षुप एवं बीज सर्षपवत् होते हैं। बीजों तथा उसमें पाये जाने वाले तैल का प्रयोग औषध्यर्थ होता है।

सक्रियतत्त्व—इसके बीजों में तैल, अल्ब्युमिनाइड्स (Albuminoids), घुलनशील कार्बोहाईड्रेटस (Soluble Carbohydrates), काष्ठमय सूत्र खनिज द्रव्य (Mineral matter) तथा बालू पायी जाती है। इसमें एक उड़नशील तैल भी होता है।

गुणकर्म

तुवरी ग्राहिणी प्रोक्ता लघ्वी कफविषास्रजित्।
तीक्ष्णोष्णा वह्निदा कण्डूकुष्ठकोष्ठक्रमिप्रणुत्॥ (भा॰ प्र॰)

तुवरी संग्राहिणी, लघु, कफदोषनाशक, विषनाशक, रक्तशोधक, तीक्ष्ण, उष्ण, अग्निवर्धक तथा कण्डू, कुष्ठ आदि त्वग्रोग शामक होती है। यह कोष्टगत कृमियों का नाश भी करती है।

सांस्थानिक प्रभाव सर्षपवत् होता है।

आमयिक प्रयोग

तुवरी का गुणकर्म सर्षपवत् होने से इसका व्यवहार उसके साथ या स्वतन्त्र रूप से होता है।

वरुण-कुल

(N. O. Capparidaceae)

वरुण

नाम—(सं॰) वरुण, वरण, सेतु, तिक्तशाक, कुमारक, श्वेतपुष्प, श्वेतद्रुम, गन्धवृक्ष, तमाल, मारुतापह, साधुवृक्ष, सेतुवृक्ष, उरुभाव, चलापह (वातनाशक), अश्मरीघ्न; (हिं॰) वरुना, विलसी, (प॰) वरनः (गु॰) वरणो, वायवरणो, कागडाफेरी, हाड़वरणों; (ता॰) मारलिंगु marlingo (क॰) नारुम्बेले

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

marumbele (म० ल०) नीर्वाल Nirvala (लेपचा) पुर्वाड़ा (मध्यप्रान्त) राजवले (ते) उस किया Uskia उरुमाटी Urumatti (महा) रामाला, करुआन, हरवरना (बं०) वरुणगाछ (अं०) थ्री लीव्ड कैपर Three leaved Caper (लै०) क्रेटिवा रिलीजिओजा Crataeva religiosa.

उत्पत्तिस्थान—मध्यभारत, वंगाल तथा आसाम आदि स्थानों में वरुण को मन्दिरों के पास प्रायः लगा देते हैं। सम्भवतः इसी लिए इसका लेटिन नाम Religiosa पड़ा है। उड़ीसा, मलाबार आदि दक्षिण के प्रदेशों में इसके वृक्ष जलीय स्थलों के समीप मिलते हैं। कनाड़ा आदि में भी यह उत्पन्न होता है। उत्तर प्रदेश में भी इतस्ततः इसके वृक्ष मिलते हैं। जङ्गलों में भी यह पाया जाता है। विहार में इसके लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं।

परिचय[१]—इसका उच्च वृक्ष होता है। पत्र संयुक्त, वेलपत्र की भांति प्रायः तीन पत्रकों से युक्त मिलते हैं। पत्रक लट्वाकार, भालाकार, लम्वाग्र तथा पत्रपृष्ठ ईषद् शुभ्र या फीका हरा होता है। पत्रोदर चिक्कण, गहरे हरे रंग का होता है। कोमल शाखाओं पर शुभ्र रेखाकार चिह्न पाये जाते हैं। पुष्पकाल–फाल्गुन, चैत्र। पुष्प–श्वेत, पीत या गुलाबी आदि विभिन्न रंगों के होते हैं। पृथक् दलपत्र ४, ईषद् विकसित दल का वर्ण हरिद्राभ शुभ्र, विकसितावस्था में शुभ्र और ईषत् परिणतावस्था में किंचित् स्वर्णाभ होता है। फल आकृति में छोटे कैथ के समान, अपकावस्था में हरित और पकावस्था में रक्ताभ होता है, फल–आषाढ, श्रावण में लगते हैं। छाल का रंग श्वेत होता है। पत्रों को मलकर सूंघने से एक प्रकार की गन्ध आती है। औषध्यर्थ इसके मूल एवं काण्ड की डाल एवं पत्र व्यवहृत होते हैं।

सक्रियतत्त्व—इसकी छाल में फेनिल सैपोनिन (Saponin) के समान एक तत्त्व पाया जाता है।

गुणकर्म

वरुणस्तुवरः स्वादू रूक्षस्तिक्तः कटुर्लघुः।
पित्तलः श्लेष्मवातघ्नो भेदी चोष्णोऽग्निदीपनः।
रक्तदोषहरः प्रोक्तो मूत्रलश्चाश्मरीहरः॥ (स्व०)

---

१. वरुणः पादपस्तिक्तस्त्रिपर्णो भ्रमरप्रियः–विल्वपत्रो वृत्तफलो बर्हपुष्पः कषायकः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वरुण स्वाद में कषाय, स्वादु एवं तिक्त तथा कटु, लघु एवं रूक्ष और अग्नि-दीपन, भेदन, रक्तदोषशामक, मूत्रल, अश्मरीनाशक, पित्तवर्द्धक एवं श्लेष्मवात-नाशक होता है।

विभिन्न अवयवों के गुण—वरुणत्वक् एवं मूल–पाचक, वल्य, किञ्चित् सर, अश्मरीघ्न, क्षुधावर्धक, पित्तस्राववर्द्धक एवं मूत्रल होती है। पत्र–पाचक, वल्य एवं ज्वरहर तथा वाह्य प्रयोग से Rubifacient होते हैं। पुष्प–ग्राही, पित्तघ्न, आमवातनाशक एवं शाक–कफनाशक होता है। विशेषतया वरुण को वातनाशक, अनुलोमन और शोथघ्न स्वीकार किया गया है। वरुण के पत्र, पुष्प और कच्चे फल का स्वाद तिक्त, फल पकने पर किञ्चित् मधुर हो जाते हैं।

सांस्थानिक प्रभाव—

पाचकसंस्थान—वरुण अग्निवर्धक है। इसके सेवन से भोज्य-द्रव्यों के परिपाक करने के लिए आवश्यक रसों की उत्पत्ति बढ़ जाती है। पित्त का स्राव अधिक होता है। कोष्ठगत वात का अनुलोमन होता है। आन्त्र की पुरस्सरण क्रिया में सुधार होता है। इस प्रकार वरुण उष्ण, दीपन और वातानुलोमन, कोष्ठवात-प्रशमन तथा दीपन–पाचन होता है। इससे परिपाक की क्रिया भी ठीक होती है।

मूत्रवाहक-संस्थान पर वरुण को विशेष क्रिया होती है। इसके सेवन से मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। अश्मरी-शर्करादि का नाश होता है। आन्तरिक प्रयोग से रक्तसंवाहन की अभिवृद्धि होती है। वाह्यप्रयोग से भी त्वचा का रक्ताभिसरण बढ़ जाता है और त्वचा लाल हो जाती है। अधिक काल तक रहने से छाला पड़ जाता है। इन क्रियाओं के कारण वरुण बाह्य एवं आन्तरिक शोथ का विलयन करता है। वरुण की यह क्रिया वाह्य त्वचा पर राई की भांति होती है।

आमयिक प्रयोग

वरुणः शीतवातघ्नस्तिक्तो विद्रधिजन्तुजित्।
स्निग्धश्च कटुरुष्णश्च रक्तदोषहरः परः॥ (ध० नि०)

वरुण—शीतवातनाशक, तिक्त, विद्रधि एवं जन्तुनाशक, स्निग्ध, कटु, उष्ण तथा परम रक्तदोषहर है।

वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्।
निहन्ति गुल्मवातास्रक्रमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः॥
(भा० प्र०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वरुण—पित्तवर्धक, भेदन, श्लेष्म दोष,, मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी नाशक होता है। इससे गुल्म, वातरक्त, कृमि दोष नष्ट होते हैं। तथा यह उष्ण और अग्नि-दीपन भी है।

विशेष—चरककार ने वरुण का उल्लेख बहुत कम किया है। सुश्रुतकार ने तिक्तवर्ग, वातसंशमन वर्ग, वरुणादिगण तथा वातसंशमन वर्ग (सूत्रस्थान अध्याय ४६) में वरुण का उल्लेख किया है। साथ ही वाताश्मरीनाशक एवं कफाश्मरीनाशक गण में (चि० अ० ७) में बरुण का पाठ करते हैं। 'त्रिफलादि घृत' कुष्ठाधिकार तथा प्रमेहपिड़िका के लिए बरुण का व्यवहार किया गया है। वरुण का अश्मरी में स्वतन्त्र प्रयोग ग्रंथकार श्रीवृन्द ने प्रारम्भ किया, बाद में ग्रंथकार चक्रदत्त आदि ने वृन्द का अनुसरण किया है। ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु अन्य द्रव्यों के साथ इसका अश्मरी में प्रयोग सुश्रुत ने ही किया था। धन्वन्तरि और राजनिघण्टु में इसके अश्मरीघ्न गुण का उल्लेख नहीं है।

विशिष्ट प्रयोग—बाह्य-वरुण पत्रों को शुक्त या सिरका या विनेगर (Vinegar) अथवा निम्बुस्वरस में या उष्णजल में पीसकर कल्क को उप-नाह के रूप में त्वचा पर लगाने से ५ से १५ मिनट में लेपस्थान रक्तिमायुक्त हो जाता है। यदि यह लेप किंचित् काल और रहे तो पिड़िका उत्पन्न हो जाती है। इस गुण के कारण वरुण का प्रयोग उन सभी स्थलों पर हो सकता है जहां राई का निर्देश हो। आमवात में पत्र अथवा छाल को पीसकर एक कपड़े में रखकर उससे सेंक किया जा सकता है। जड़ तथा छाल को तैल में उबाल कर लिनिमेंट (Liniment) या मलहम वनाया जाता है। पादतल शोफ में पत्र कल्क उष्णकर लगाने से लाभ होता है।

"वरुणस्य········पत्राणि। जलेनोत्क्वाथ्य शूलार्तं स्वभ्यक्तमवगाह-येत्॥ (चि० अ० ९)

चरककार ने अर्श की पीड़ा से दुःखी व्यक्ति के लिये वरुण पत्र के क्वाथ में अवगाहन का निर्देश किया है। सुश्रुत (कल्प १-७०) ने पूतनाग्रह-प्रतिषेधार्थ बालकों के परिषेचनार्थ बरुण का उल्लेख किया है। उन्होंने उत्तर तं० अ० ३२ में विषसंसृष्ट व्यक्ति को अंजन करने के लिये वरुणनिर्यास का निर्देश किया है। वृन्द लिखते हैं—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पिबेद्वरुणमूलत्वक् क्वाथं तत्कल्कसंयुतम् ।

वरुणमूल क्वाथ और उसका कल्क अश्मरी में लाभ करता है। उन्होंने मधु मिश्रित कर वरुणमूल क्वाथ को पीना गण्डमाला में हितकारी कहा है। इसका लेप भी गण्डमाला में किया जाता है। विद्रधि में क्वाथ का पीना बहुत लाभकारी बतलाया है। अन्तर्विद्रधियों में इस से विशेष लाभ होता है। चक्रदत्त व्यङ्गय में वरुणत्वचा को बकरी के दूध में पीस कर लगाने का निर्देश करते हैं। अन्य ग्रन्थकार गाय के सूखे गोबर (गोहरी या कण्डा) से खुजलाकर जल में पीसे हुए वरुण के पत्तों के उर्द्वतन से स्त्रियों के किक्किस (खेखसा या Striaegravidarum) नष्ट होते हैं ऐसा वर्णन करते हैं। सहजन और वरुण को धान्याम्ल (कांजी) से पीसकर लगाने से वातज वेदना शान्त होती है। व्रण शोथ और विद्रधि में वरुण के साथ पुनर्नवा का भी योग किया जाता है। आध्मान तथा अजीर्ण में वरुणपत्रफाण्ट लाभ करता है। अश्मरी, शर्करा, वस्तिशूल, मूत्र आदि व्याधियों में वरुन की छाल का स्वतन्त्र या अपामार्ग क्षार, यवक्षार या पुनर्नवा-क्षार के साथ प्रयोग किया जाता है। मूत्रल होने के कारण इसे शोफज व्याधियो (Dropsical diseases) में स्वतन्त्र या गोखरू के साथ देना चाहिए। ताजी मूल तथा पत्तियों को नारिकेल जल के साथ मिलाकर घी के साथ आमवात (Rheumatiom) में दिया जाता है। मेदस्विता दूर करने के लिए खाद्य द्रव्य के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है। नासास्थि का गलन (Caries) होने पर इसके पत्रों का धूम्रपान करते हैं। काण्डत्वक् या मूलत्वक् का कषाय ज्वरघ्न, रेचन, रसायन, रक्तशोधक और अश्मरीघ्न है।

भैषज्यरत्नावली के अश्मर्यधिकार में २ प्रकार के वरुणादि, बृहद्वरुणादि कषाय, वरुण घृत, वरुणादि घृत, वरुणादि तैल, वरुणादि लौह यह योग विशेष उपादेय हैं। इनका प्रयोग अश्मरी के अतिरिक्त उन सभी व्याधियों में जहां मूत्रल द्रव्यों की आवश्यकता होती है (जलोदर, शोथ आदि) में किया जाता है। चक्रदत्त में भी उपर्युक्त योग अश्मर्यधिकार में दिए गए हैं।

सुश्रुतकार ने वरुणादिगण का वर्णन किया है। इस गण में वरुण मुख्य है। किन्तु साथ में अन्य औषधियां भी मिलाई गई हैं। यह कफमेदनाशक शिरःशूल, गुल्म और अभ्यन्तर विद्रधि (Internal and deep Scated inflamations) नाशक होता है। शार्ङ्गधरकार ने भी इस क्वाथ को ऊषकादिगण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

के द्रव्यों के आवाप के साथ अथवा केवल वरुण और पुनर्नवा क्वाथ को अभ्यन्तर विद्रधि में प्रयोग करने का निर्देश किया है। चक्रदत्त ने इसे अश्मरी अधिकार में दिया है। गण्डमाला की प्रसिद्ध आयुर्वेदिक ओषधि 'काञ्चनार गुग्गुलु' में वरुण एक मुख्य घटक है।

मात्रा—क्वाथ के लिए—जड़ या काण्ड की छाल १ से २ तो०।

चूर्ण—२ से ४ माशा।

हुरहुर

नाम—(सं०) अजगन्धा, खरपुष्पा, वस्तगन्धा, विगन्धिका, कारवी, वर्वरा, गन्धा, तुङ्गी, पूतिमयूरिका, सुरपुष्पी, विगन्धिका, उग्रगन्धा, ब्रह्मगर्भा, ब्राह्मी, कर्णस्फोटा, तिलपर्ण, (हिं०) हुरहुर, हुलहुल, (वं०) सदा हुरहुरिया, महा हुलहुल, तिलवण (गु०) तलवमी; (पं०) बुगरा; (मारवाड़) वगरो; (ता०) नायवेला Naivela; वेलाइ Velai; (तैलगू) कुक्कवामिटम् , वेल वामिटम (Vaminta या Velakura) वामिंटा और वेलकुरा भी कुछ लोग कहते हैं), (के०) श्रीकला Shrikala; (मल०) कारवेला Karvela; आर्यवाल; (का०) काड्डसारिवैं; (सिन्ध) किवीवूटी, विघारा Bighara; (बम्बई) कानफुटी Kanphuti; म्होली तिलवनी Mholi tilavani; (कोंकण) श्रीकाल Shrikal; विहार में-कोल इसे चमनी, संथाल-सेतकाटा आरा; (ले०) श्वेतपुष्पा–जाइनेन्ड्राप्सिस पेण्टाफाइला Gynandropsis pentaphylla, पीतपुष्पा क्लिओम विस्कोस्सा Cleome Viscosa।

विशेष विवरण—हुरहुर को २ द्रव्यों के स्थान पर आयुर्वेद में ग्रहण किया जाता है—(१) सुवर्चला और (२) अजगन्ध।

(१) सुवर्चला—एक सन्दिग्ध द्रव्य है। इसके स्थान में सम्प्रति विभिन्न स्थानों में प्रायः निम्न द्रव्य लिए जाते हैं—

(१) हुरहुर (जिसका वर्णन यहां किया जा रहा है)।

(२) सूर्यमुखी Helianthus Annuus (N. O. Camposi-tae)।

(३) सोंचल (काश्मीर)—Malva Sylvestris या M. rotundifolia (N. O. Malvaceae)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(यद्यपि इसका यह नाम काश्मीरी है, किन्तु यह मैदानों में भी पाई जाती है)।

सुवर्चला के निम्न नाम शास्त्रों में दिए गए हैं—सूर्यभक्ता, वरदा, वदरा, सूर्य्यावर्ता, रविप्रीता, आदित्यकान्ता, सुखोद्भवा, मण्डूकी, आदित्यवल्ली, अर्कगन्धा, अर्ककान्ता, सूर्यलता, मण्डूकपर्णी, सुरसम्भवा, सौरि, सुतेजा, रवीष्टा, सत्यानाम्नी, मार्तण्डवल्लभा विक्रान्ता, भास्करेष्टा आदि।

धन्वन्तरिनिघण्टुकार ने सूर्यभक्ता को मण्डूकपर्णी भी कहा है। और उसी के बाद ब्राह्मी और क्षुद्रपत्रा ब्राह्मी का पाठ किया है। इससे प्रतीत होता है कि सूर्यभक्ता ब्राह्मी सदृश क्षुद्रलतासम द्रव्य हो सकता है। इस दृष्टि से 'सोंचल' को सुवर्चला कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। इसे काश्मीर में 'सोंचल' कहते हैं, जो सुवर्चला का अपभ्रंश हो सकता है। इसके पत्र भी अपने अक्ष पर सूर्य की दिशा में घूमते रहते हैं। यह क्षुप अतिक्षुद्र लतावत् एवं आकारादि में ब्राह्मी के समान दिखता भी है। सुवर्चला (जिसका एक पर्याय मण्डूकपर्णी है) और ब्राह्मी तथा क्षुद्रपत्रा ब्राह्मी इनको क्रमशः सोंचल (Malva sylvestris या M. rotundifolia) ब्राह्मी (जो आजकल सामान्यतया ब्राह्मी के नाम पर चल रही है। Hydrocotyle asiatica) और जलनीम या बंगाली ब्राह्मी (Herpestis monniera) कहा जाय तो इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार करके निर्धारित करना होगा कि यह नामकरण ठीक है या नहीं। किन्तु यहां पर अप्रासंगिक होने के कारण उसका वर्णन नहीं किया जायगा।

प्रकृत प्रसंग में सुवर्चला को सोंचल मानने का एक कारण यह भी है कि डल्हण ने सु० सू० अ० १२ में सुवर्चला को 'सुवर्चला सौचलेति लोके' स्वयं कहा है।

मेरी धारणा है कि भावप्रकाशकार की 'सूर्यावर्त'—उपर्युक्त राजनिघण्टुकार की सूर्यावर्ता से पृथक् है। भावमिश्र ने इसके २ भेद माने हैं—सुवर्चला और दूसरा ब्रह्मसुवर्चला। दोनों के गुणों में भी अन्तर किया हुआ प्रतीत होता है:—

सुवर्चला हिमा रूक्षा स्वादुपाका सरा गुरुः।
अपित्तला कटुः क्षारा विष्टम्भकफवातजित्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुवर्चला–हिम, रूक्ष, स्वादुपाकवाली, सर, गुरु, पित्तशामक, कटु, क्षार और विष्टम्भ एवं कफवातनाशक होती है। अन्या सुवर्चला या ब्रह्मसुवर्चला के सम्बन्ध में भावप्रकाशकार लिखते हैं—

> अन्या तिक्ता कषायोष्णा सरा रूक्षा लघुः कटुः
> निहन्ति कफपित्तास्रश्वासकासारुचिज्वरान् ।
> विस्फोटकुष्ठमेहास्रयोनिरुक्कृमिपाण्डुताः ॥

अन्या सुवर्चला तिक्त-कषाय, उष्ण, सर, रूक्ष, लघु, कटु, कफ, रक्तपित्त, श्वास, कास, अरुचि, ज्वर, विस्फोट, कुष्ठ, मेह, रक्तदोष, योनिपीड़ा, कृमिरोग एवं पाण्डुता नाशक होती है।

अर्थात् सुवर्चला शीतवीर्य ओषधि है और ब्रह्मसुवर्चला ठीक इसके विपरीत उष्णवीर्य है। प्राचीन ग्रन्थों से भी ब्रह्मसुवर्चला का कोई ठीक पता नहीं चलता। इस विवाद का पता धन्वन्तरिनिघण्टु और राजनिघण्टु से भी चलता है। धन्वन्तरिनिघण्टुकार ने सुवर्चला के गुण निम्न शब्दों में लिखे हैं—

> आदित्यभक्ता कटुका तथोष्णा स्फोटकापहा ।
> सरस्वती सरा स्वर्या रसायनविधौ हिता ॥

आदित्यभक्ता कटु, उष्ण, स्फोटनाशक, वाक्शक्तिवर्धक, सर, स्वर्य तथा रसायन विधि में हितकारिणी होती है। इसके ही लिये राजनिघण्टुकार लिखते हैं:—

> आदित्यभक्ता शिशिरा सतिक्ताकटुस्तथोग्रा कफहारिणी च ।
> त्वग्दोषकण्डूव्रणकुष्ठभूत ग्रहोग्रशीतज्वरनाशिनी च ॥

आदित्यभक्ता शिशिरा, तिक्ता, कट्वी, उग्रकफ निस्सारिणी, त्वग्दोष, कण्डू, व्रणकुष्ठ भूतदोष, ग्रहदोष और उग्र शीतज्वर नाशिनी भी होती है।

यहां पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों निघण्टुकारों ने स्पष्ट पृथक् २ द्रव्यों के गुण एक ही नाम से लिखे हैं। इसमें एक द्रव्य यह हमारी सुवर्चला हो सकती है। सुवर्चला के कई भेद होते हैं ऐसा डल्हण ने स्वयं सुश्रुत की टीका के सूत्रस्थान २६ वें अध्याय में स्वीकार भी किया है। उन्होंने लिखा है—'सुवर्चला सूर्यावर्तभेदः'। साथ ही सुश्रुत की इसी अध्याय की टीका में डल्हण ने सुवर्चला के बारे में भी स्वीकार किया है कि यह सन्दिग्ध द्रव्य है। वह लिखते हैं:-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'सुवर्चला सूर्यावर्तः केचिन्मारिषसदृशदण्डमार्तगलसदृशपत्रं लघसमाहुः ।' ऐसी स्थिति में मेरी समझ में धन्वन्तरि निघण्टु और भावप्रकाश निघण्टु की सुवर्चला के वर्णन से अन्तर हो सकता है। अर्थात् धन्वन्तरि निघण्टु की सुवर्चला छोटी लता है जो ब्राह्मी सदृश हो सकती है। राजनिघण्टु की सुवर्चला उससे भिन्न है और भावप्रकाश की सुवर्चला इन दोनों को मिलाकर सुवर्चला और ब्रह्मसुवर्चला बन गई है और प्राचीन ब्रह्मसुवर्चला के रूप में उपस्थित है। अस्तु आजकल सुवर्चला से Helianthus annus लिया जाता है। यह द्रव्य भी इसका एक भेद हो सकता है। इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है। चरककार ने शाकवर्ग में सुवर्चला का पाठ किया है। (चरक सू. २७ अध्याय श्लोक ९६) । सुवर्चला, सौवर्चला, सुवर्चिका आदि शब्द भी अनेक स्थलों पर मिलते हैं। आदित्यपर्णी (चि० १-१६८) तथा आदित्यवल्ली (चि० २६-२६५) शब्द भी चरक में प्राप्त होते हैं। इन शब्दों में सुवर्चिका शब्द को सज्जीखार वाचक समझना चाहिए। सुश्रुत ने लवणरस द्रव्यों के उल्लेख में सैन्धवादि लवणों के साथ सुवर्चिका को संग्रहीत किया है जो कि निश्चय ही सज्जीखार प्रतीत होता है।

सुश्रुतकार सुवर्चला को तिक्त वर्ग की ओषधियों में संग्रहीत करते हैं। इसके अतिरिक्त सुवर्चला का उपयोग अर्श एवं श्वास में अन्य द्रव्यों के साथ तथा विषचिकित्सा में करते हैं। व्रणशोधन अध्याय में सुवर्चला को व्रणशोधन कहा गया है। वहां सूत्र ३७-३१ में 'सुवर्चला सूर्यावर्ता अस्यापि मूलं न तु फलं' तस्योष्णवीर्यत्वात् ।' 'तथा शारीरस्थाने १०-११ गर्भसंगे तु·····धारयेत् सुवर्चला विशल्या वा' यह वर्णन मिलता है।

पानात्यय में भी सुवर्चला का वर्णन (सु० उ० ४७-३४) पाया जाता है। वहां लिखा है—'पीत्वा सुखी भवति साधु सुवर्चलां च ।'

सुश्रुत में सूर्यवल्ली शब्द का भी उपयोग है—सूर्यवल्ली को डल्हण ने 'सूर्यवल्ली पटोलसदृशपत्रा, यस्याः पत्ररसेन रक्तं मांसं स्विन्नमभिभवति। अन्ये सूर्यावर्तमाहुः ।' सू० ४६ अ० में आगे एक स्थान पर पुनः "सूर्यवल्ली, अर्धपुष्पी, सुर्यावर्तभेदः' ऐसा उल्लेख किया है।

आदित्यपर्णी को भी सूर्यावर्त्त कहा गया है। ब्रह्मसुवर्चला और आदित्यपर्णी का वर्णन दिव्यौषधियों की श्रेणी में है, किन्तु इस ब्रह्मसुवर्चला का कोई स्पष्टीकरण नहीं है। अर्थात् इसका स्पष्टीकरण प्राचीन ग्रन्थों तथा टीकाओं से नहीं हो पाता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कि इसके स्थान पर क्या ग्रहण करना चाहिये। आगे वीरतर्वादि तथा वातसंशमन वर्ग में आये हुए वसिर द्रव्य को भी डल्हण सूर्यावर्त कहते हैं। अतएव सुवर्चला प्राचीन काल से अब तक सन्दिग्ध द्रव्य रहा है। कुछ लोग सूरजमुखी को विदेशी द्रव्य मानते हैं, इससे यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है। किन्तु सूरजमुखी के गुण बहुत कुछ वर्णित सुवर्चला (उष्णवीर्या) के समान होने के कारण इसे लोग व्यवहार करते हैं। हुरहुर को आदित्यभक्ता मानने का कारण यह है कि इसके पत्र भी अपने पत्रनाल के अक्ष पर सूर्य की दिशा में घूमते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में सभी का मत समान नहीं है। केवल वंगीय वैद्य ही इसे आदित्यभक्ता कहते हैं।

२—अजगन्धा

अजगन्धा चरक सुश्रुतादि में प्राचीनकाल से वर्णित ओषधि है। चरक की मूलिनी ओषधियों में शिरोविरेचन वर्ग में 'शूलप्रशमनदशेमानि' में अजगन्धा का उल्लेख है। हरितवर्ग में भी (च० सू० २७ अ०) इसका वर्णन है। ज्वरागमन काल में (चि० अ० ३) इसके क्वाथ के पीने का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त गुल्म के हिंग्वादि चूर्ण, शस्यादिचूर्ण, हिङ्गुसौवर्चलादि घृत, उदररोगाधिकार के नारायण चूर्ण, विषाधिकार के वचादि अगद में उरुस्तम्भ के कुष्ठादि तैल, क्षतज काल के लिये धूप में अन्य द्रव्यों के साथ अजगन्धा का प्रयोग मिलता है। विरेचन-द्रव्यों में भी इसका उल्लेख है।

सुश्रुत में श्लेष्मशोफ में अजगन्धादि लेप, संशोधनवर्ति के द्रव्यों में (सू० ३७ अ०) तथा विरेचन विकल्पाध्याय में सितादि चूर्ण में अजगन्धा का उल्लेख मिलता है। कफज गलगण्ड में लेपार्थ अजगन्धा उपयुक्त होती है। किन्तु अजगन्धा के अर्थ के सम्बन्ध में भी टीकाओं में घपला हुआ है:—

सुश्रुत सू० अ० ३७ में अजगन्धा के लिए डल्हण 'ने वोथविका लतौषधीत्येके। अन्ये यमानिकामाहुः। चिकित्सा अ० १८ में अजगन्धा को 'वोविका' तथा चि० अ० ४ में 'जवानिका' निर्देश किया है साथ ही 'अजगन्धा क्षेत्रयवानीत्याहुः' इस प्रकार भी लिखा है। अन्य ग्रंथों में भी अजगंधा में 'फोंफनिका वोंवईका' इति देशान्तरे प्रसिद्धा (वृन्द अ० ३०१)। फोफनि वोथपिका इति देशान्तरे प्रसिद्धा। लतौषधीत्येके। अन्ये यवानिकामाहुः (वृ० ४५-७)। शार्ङ्गधर के टीकाकारों ने भी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'वनतुलसी वर्वरिका' ही अजगन्धा का अर्थ लिया गया है। भारत की किसी प्रान्तीय भाषा में यह नाम (फोंफनिका आदि) प्रसिद्ध प्रतीत नहीं होते। शार्ङ्गधर के टीकाकारों की वर्वरिका को अजगन्धा भी कहा गया है। अजमोदा और अजगन्धा शब्द पर्य्यायवाचक हैं। अतएव अजगंधा से अजमोद भी लिया जा सकता है। किन्तु अजगन्धा का एक नाम 'तिलपर्णिका' भी दिया गया है। धन्वन्तरी निघण्टु में कहा गया है 'श्रीखण्डे चाजगन्धे स्याच्छ्रीवेष्टे तिलपर्णिका'। डल्हण ने तिलपर्णिका को एक स्थान पर 'चोरकः' (सु० सू० अ० ४६) तथा सूत्रस्थान अध्याय ३६ एवं उत्तर तन्त्र अध्याय ४६ में 'हुलहुल' इति लोके ऐसा भी कहा है। गुजरात में हुलहुल को 'तलवणी' भी कहते हैं। इसमें उग्रगंध भी होती है। अतएव गुजरात के वैद्य हुरहुर को अजगन्धा मानते हैं। अजगन्धा के राजनिघण्टूक्त गुण भी हुरहुर में पाये जाते हैं।

अजगन्धा कटूष्णा स्यात् वातगुल्मोदरापहा।
कर्णव्रणार्तिशूलघ्नी पीता चेदञ्जने हिता॥

अजगन्धा कटु, उष्ण, वातदोष, गुल्म, उदररोग नाशक, कर्णव्रण की पीड़ा का शमन करने वाली तथा यदि पीत हो तो अंजन के लिए हितकारी है। इस प्रकार के गुण श्वेत हुरहुर में मिलते हैं, अतएव इसे हुरहुर मानना अधिक योग्य प्रतीत होता है। धन्वन्तरि निघण्टु के गुण—

'अजगन्धा तु वातघ्नी चोग्रगन्धोदरापहा।'

अजगन्धा वातनाशक, उग्रगंधयुक्त और उदर रोग नाशक है। यह गुण भी हुरहुर में सम्पूर्ण प्राप्त होते हैं। इसको कर्णशूल नाशक होने से कानफोकी भी कहते हैं जो कर्णस्फोटा का पर्याय प्रतीत है। निघण्टु रत्नाकरकार का मत है:—

कर्णस्फोटा तु कटुका चोष्णा चाग्नि प्रदीपनी।
वातगुल्मोदरप्लीहकर्णव्रणविषापहा॥
कफपित्तज्वरानाहकफशूलविनाशिनी।
सा तु पीता बुधैर्ज्ञेया चाञ्जने च प्रशस्तिका॥ (नि० र०)

कर्णस्फोटा कटुका, उष्ण, अग्निदीपनी, वातगुल्म, उदरप्लीह, कर्णव्रण, विषनाशक, कफ पित्त ज्वरहर, आनाह, कफ शूल नाशक होती है। पीत कर्णस्फोटा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अञ्जन में हितकारी होती है। हुरहुर के श्वेत पीत इस प्रकार दो भेद भी होते हैं। इससे इसके अजगन्धा होने का प्रमाण मिलता है।

उत्पत्तिस्थान—इसका क्षुप प्रायः जोते हुए खेतों तथा अन्य स्थलों पर भारत के उष्णप्रदेशों में सर्वत्र पाया जाता है।

परिचय—हुरहुर की कई जातियाँ होती हैं, जिसमें हुरहुर श्वेत, तथा हुरहुर पीत और उसी का भेद Cleome monophylla प्रसिद्ध हैं। इसका २, ३ फुट ऊंचा क्षुप होता है। पत्र संयुक्त, पाणिवत्, प्रायः पांच पत्रक वाले होते हैं। पत्रक प्रायः अभिलट्वाकार, ग्रन्थिल, रोमयुक्त होते हैं। पुष्प श्वेत अथवा किंचित् बैंगनी, फलियाँ लम्बी होती हैं। काण्ड पर भी रोम पाये जाते हैं। पत्र मसलने पर उग्र गन्ध आती है। यह क्षुप प्रायः वर्षाकाल में उगते हैं। पीत जाति के हुरहुर में पुष्प पीत होते हैं। इसमें पत्र नीचे ५ दल युक्त और ऊपर तीन दल वाले संयुक्त होते हैं। तीसरी जाति के हुरहुर के पत्तों में पत्रक नहीं होते। तथा पुष्प बैंगनी रङ्ग के होते हैं। इसे भी अन्य हुरहुर चमनीहुरहुर या केदार झाग कहते हैं। बिहार के जंगली तथा संथाल लोग इसके पत्तों का शाक खाते हैं। संथाली नाम में झड़ा शाक को ही कहते हैं। इसीलिए इसे सेत काटा झड़ा कहा जाता है।

सक्रियतत्त्व—इस क्षुप में एक स्थायी तैल तथा एक राल (Resin) पाया जाता है। बीजों को पेरने से एक उत्पत् तैल मिलता है जो लशुन एवं सार्षप तैल की भांति होता है।

गुणकर्म

स्वेदलञ्च कृमिघ्नञ्च मतमाक्षेपनाशकम्।
दीपनं पाचनञ्चैव प्रोक्तं हुर्हुरकं सदा॥
प्रलेपनेन कल्कस्य शोथस्फोटश्च जायते॥ (स्व०)

हुरहुर स्वेदल, कृमिघ्न, आक्षेपनाशक, दीपन, पाचन होता है। इसके पत्र-कल्क के प्रलेप से त्वचा पर शोथ, रक्तिमा तथा छाला पड़ता है। यह उत्तेजक, कोष्ठगत, वातानुलोमक, दाहकारक तथा रक्तोत्क्लेशकारक भी होता है। इसकी पत्तियों में एक प्रकार की तीक्ष्ण गन्ध होती है जो पकाने पर नष्ट हो जाती है। इसकी गन्ध हिंगु की भांति किन्तु उससे हल्की होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आमयिक प्रयोग

ज्वरेषु कृमिरोगेषु वाह्यदेशे व्रणादिषु।
हुर्हुरस्य सदा योगः राजिकेव प्रशस्यते ॥ स्व. ॥

ज्वर, कृमिदोष तथा वाह्यदेश में व्रणादिकों पर हुरहुर का प्रयोग राजिका के समान होता है।

बाह्य—हुरहुर की पत्तियों को सिरका, नींबू तथा उष्ण जल में पीस कर पुल्टिस बनाकर रक्तिमा या शोथ या छाला उत्पन्न करने के लिए राई की भांति प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार इससे सुखपूर्वक स्राव निकल कर व्याधि शान्ति होती है। वास्तव में हुरहुर के बीज राई के समान ही कार्य करते हैं। पत्तियों का वाह्यप्रयोग भी राई के प्लास्टर की भांति ही किया जाता है। बीजों का फाण्ट बनाकर गन्दे व्रण (Unhealthy sores) में कीड़ों को मारने के लिए लगाते हैं। छोटी विद्रधियों पर उनमें पूयन पड़ने देने के लिए लेप किया जाता है। इसके पत्तों को घी में पकाकर व्रण एवं ताजे घावों पर लगाते हैं। उष्ण पत्रस्वरस को कर्णशूल में प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु इससे किंचिद्दाह भी हो सकता है।

आन्तरिक—आन्तरिक प्रयोगों में इसकी क्रिया राईवत् होती है। इसका क्वाथ ज्वरों में पसीना लाने से ज्वरों में होने वाले आक्षेपों के निवारण के लिए किया जाता है इसके बीजों का प्रयोग केंचुआ (Round worm) के मारने के लिए किया जाता है। इसके लिए बीज चूर्ण १॥–२ माशा की मात्रा में १, २ दिन तक दिन में २ वार देना चाहिए। तीसरे दिन एरण्ड तैल से विरेचन करा दें। इस प्रकार प्रायः कृमि निकल जाते हैं।

करीर

नाम—(सं०) करीर, क्रकर, अपत्र, गूढ़पत्र, शाकपुष्प, मृदुफल, हुताशन, तीक्ष्णसार, चक्रक, तीक्ष्णकण्टक, मरुभूरुह, गूढ़पत्र, निष्पत्रक, करीर-ग्रन्थिल, करक, करट, सुफल, शाकपुष्प, कटुतिक्तक आदि; (हिं०) करील, कर्वीलु, डेहा, करींह, कचरा (Kachra); (व्रजभाषा) टेंट, टेंढी; (पं०) करीं, (फल) डेले; (गु०) केर, केरड़ां; (मार०) केर, फांसड़ी, (म०) नेवती या नेपटी (Nepti); (सिन्ध) किरीड़; (कच्छ) डवरा; (का०) निष्पीड; (केन) निरुपटिगे (Nispatigay), (तेल०) इनुगेदान्त (Inugadanta, ममूदातु (Mamudatu); (फा०) कुराका (Kuraka), केबीर (Ke-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

bir): कियाबार (Kiabara); (अं०) कैपर प्लाण्ट (Kepar plant), कैपर बेरी (Caper Berry; (ले०) कैपेरिस अफायला (Capparis aphylla).

नोट—कुछ विद्वानों ने (Capparis spinosa) को करीर लिखा है; किन्तु, वह एक अन्य द्रव्य है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

विशेष विवरण—करीर के पर्य्यायवाचक शब्दों में करीर (शाखामय पत्ररहित होने के कारण); अपत्र गूढ़पत्र (पत्र न होने अथवा अस्पष्ट होने के कारण); मृदुफल (फल की कोमलता के कारण); द्रुताशन (गुठली न होने से शीघ्र भोज्य होने के कारण); ग्रन्थिल (ग्रन्थि युक्त होने के कारण); तीक्ष्णसार (रस के तीक्ष्ण होने के कारण); क्रकर (आरावत् धारदार होने से); मरुभूरुह (रेगिस्तानी प्रदेशों में होने के कारण), कटुतिक्तक (रस के कारण) आदि पर्य्याय विशेष महत्त्व के हैं। इनसे इस द्रव्य की प्रकृति का पर्याप्त परिचय मिलता है।

उत्पत्ति-स्थान—यह रेगिस्तानी प्रदेशों में विशेष उत्पन्न होता है। प्रायः ऊसर में, जहां की मृत्तिका क्षारमय होती है, इसकी झाड़ियां पायी जाती हैं।

भारतवर्ष के राजपूताना, सिन्ध, पञ्जाब (विशेषतः मुल्तान जिला में), गुजरात के कुछ प्रदेशों तथा उत्तरप्रदेश के मथुरा आदि जिले के यमुना के तटवर्ती प्रान्तों तथा दक्षिण के उत्तरी जङ्गलों में इसकी उत्पत्ति होती है। सुश्रुत के टीकाकार आचार्य डल्हण ने करीर के विषय में लिखा है—'करीरो मरुद्रुमः स्वनामख्यातः।'

परिचय—करीर में पत्र नहीं होते यह बात सर्वप्रसिद्ध है—कहा भी है—'पत्रं नैव यदा करीलविटपे दोषो वसन्तस्य किम्' । इसकी ६–७ फुट ऊंची झाड़ियां होती हैं। शाखायें सुन्दर, गहरे रंग की तथा कोमल होती हैं। पत्र प्रायः नहीं होते अथवा यतस्ततः ½ इञ्च लम्बाई के छोटे छोटे पाये भी जा सकते हैं। दूर से देखने से इसकी झाड़ियां बड़ी सुन्दर प्रतीत होती हैं। वसन्त ऋतु में इसमें पुष्प लगते हैं, जो प्रायः गुलाबी रंग के होते हैं। तदनन्तर छोटे-छोटे गोल फल लगते हैं, जो पकने पर लाल होते हैं। करील के फलों को 'टेंट' कहते हैं। इसकी कलियों तथा कच्चे फलों का अचार बनाते हैं और पक्व फल सुस्वादु एवं उत्तम खाद्य होता है। फलों के अन्दर छोटे २ बीज पाये जाते हैं। राजपूताने में इसके पञ्चाङ्ग का व्यवहार ऊंट के चारा के लिए करते हैं। इसका पंचांग, जड़, जड़ की छाल, पुष्प तथा फल एवं बीज सभी का व्यवहार किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सक्रियतत्त्व—करील की छाल में सेनेजेन (Senegen) के सदृश एक न्यूट्रल बिटर प्रिन्सिपुल (Neutral-Bitter principle) या क्लीव तिक्त द्रव्य पाया जाता है। पुष्प-कलिकाओं में कैप्रिक एसिड (Capric acid) तथा एक मधुमेयसत्त्व (Glucoside) पाया जाता है। जिसको उबालने पर सल्फ्यूरिक एसिड (Sulphuric acid), आइसोडलसाइट (Iso-dulsite) तथा क्वर्सटिन (Querstin) के सदृश एक रंजक द्रव्य (Colouring matter) भी पाया जाता है।

गुण-कर्म

मूल-त्वक्—

वल्कलानि करीरस्य मूलोद्धृतानि साम्प्रतम्।
रसायनानि प्रोच्यन्ते ग्राहीणि च भिषग्वरैः॥

आजकल के विद्वान् करीर के मूल की छाल का व्यवहार करते हैं। उनका कहना है कि करीर के मूलत्वक् में रसायन (Alterative) तथा ग्राही (Astringent) धर्म विशेष रूप से पाये जाते हैं।

पुष्प—

करीरकुसुमं पाके रसे चैव मतं कटु।
सृष्टमूत्रपुरीषञ्च समीरणसमृद्धिकृत्॥

सुश्रुत के मतानुसार करीर के पुष्प रस और पाक में कटु होते हैं। यह मल-मूत्र निस्सारक तथा वातवृद्धिकर होते हैं। कैयदेवकार के अनुसार—

'तस्य पुष्पन्तु तुवरं वातकृत् कफपित्तजित्।' करीर पुष्प, कषाय, वातकारक तथा कफपित्त शामक होते हैं।

फल—

करीराक्षिकपीलूनि तृणशून्यफलानि च।
स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि च॥

(सु० सू० ४६ अ० ।)

करीर, आक्षिक, पीलु एवं तृणशून्य-इनके फल स्वादु, तिक्त, कटु, उष्ण एवं कफवातहर होते हैं। कैयदेवकार के अनुसारः—

फलं तिक्तं कषायोष्णं कटुकं रसपाकयोः।
विकासि मधुरं रूक्षं संग्राहि कफपित्तजित्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करीर के फल कषाय, उष्ण, रस और पाक में कटु; विकासी, मधुर, रूक्ष, संग्राही एवं कफपित्त शामक होते हैं।

सामान्यतः करीर के गुण—

वातश्लेष्महरं रुच्यं कटूष्णं स्वादुतिक्तकम्।
करीरमाध्मानकरं कषायं भेदनं लघु।
स्वेदनञ्चापि दोषज्ञैर्वैद्यैस्सुपरिकल्पितम्॥ (स्व०)

करीर वातश्लेष्मनाशक, रुचिवर्द्धक, कटु, उष्ण, स्वादु, तिक्त, आध्मानकर, कषाय, भेदक, लघु तथा स्वेदन होता है। इसके अतिरिक्त इसे आधुनिक वैद्य उत्तेजक (Stimulant) एवं क्षोभक (Acrid) मानते हैं।

विशेष—सुश्रुतकार ने करीर के फल के गुणों का वर्णन सूत्रस्थान ४६ वें अध्याय में किया है। इसको ऊपर उद्धृत किया गया है। इस वर्णन में भले ही आक्षिक फल तथा तृण शून्यफल के सम्बन्ध में मतवैभिन्न्य हो (जो प्रस्तुत वर्णन का विषय नहीं है)। डल्हण ने 'करीरो मरुजद्रुमः स्वनामख्यातः' इस वचन को लिखकर करीर को स्पष्ट कर दिया है और इसी की पुष्टि टीकाकार चक्रपाणि ने अपने 'करीरो मरुजो द्रुमः, तत्फलम् करीरम्' इस पाठ द्वारा कर दी है। दोनों टीकाकारों का करीर के विषय में स्पष्ट एक ही आशय है कि करीर मरुप्रदेश में होने वाला एक वृक्ष है और उसके फलों का वर्णन आचार्य को अभीष्ट है। करीर के वर्णन में धन्वन्तरि निघण्टुकार ने भी सुश्रुत के इसी वचन का उद्धरण दिया है। किन्तु करीर फल के कैयदेवोक्त वर्णन में कुछ विशेषता है। अतएव उसे यहीं पर संग्रह कर दिया गया है। अर्थात् उपर्युक्त दोनों वर्णनों के परीक्षण से ज्ञात हो जायगा कि सुश्रुतकार करीरफल को वातनाशक बतलाते हैं; और कैयदेवकार इसे रूक्ष एवं कफपित्त नाशक बतलाते हैं।

पुष्पों के गुणों के सम्बन्ध में भी सुश्रुतकार ने करीर को निम्नपङ्क्तियों में लिखा है—'करीरमधुशिग्रुकुसुमानि कटुविपाकानि वातहराणि सृष्टमूत्रपुरीषाणि' अर्थात् करीर मधुशिग्रु के पुष्प प्रायः कटुविपाकयुक्त और वातहर एवं मूत्रपुरीष-निस्सारक होते हैं। इसके सन्वन्ध में कैयदेव ने करीर पुष्प को वातवर्द्धक, कषाय और कफपित्तनाशक लिखा है। करीर के पुष्प और फलों के सम्बन्ध में मदनपाल का मत निम्नप्रकार है:—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करीरः कटुको भेदी तीक्ष्णोष्णः कफवातजित्।
व्रणशोथविषार्शोघ्नं तत्पुष्पं कफपित्तजित्।
फलं ग्राहि कषायोष्णं मधुरं श्लेष्मपित्तहृत्॥

इस प्रकार देखने से पता चलता है कि मदनपाल ने कैयदेवकार का समर्थन किया है। सम्भवतः फल की आमावस्था और पक्वावस्था के भेद के कारण उपर्युक्त भेद शास्त्रकारों में प्रतीत होता है। प्राचीनतम शास्त्रकारों में चरककार ने

गांगेरुकी करीरञ्च……………………।
मधुरं स कषायञ्च शीतं पित्तकफापहम्॥

अर्थात् करीर का शाक मधुर, सकषाय, शीत, पित्तकफनाशक होता है। ऐसा सूत्रस्थान २७ वें अध्याय में वर्णन किया है। तथा-अन्यत्र योनिधावन के लिये भी अन्य द्रव्यों के साथ करीर का प्रयोग किया है।

सुश्रुतकार ने अध्याय ४६ में कूष्माण्डादिकों के अनुपान में करीरासव का प्रयोग बतलाया है। किन्तु चरक के आसव योनिद्रव्यों की सूची में करील नहीं है। इसके अतिरिक्त सुश्रुतकार मदात्यय में पानकरूप से करील के पुष्प का प्रयोग निर्दिष्ट करते तथा अरोचक के प्रतिषेध में करील बीज का उल्लेख करते हैं। इसके अतिरिक्त इसके स्वतन्त्र प्रयोग प्रायः बृहत्त्रयी में नहीं मिलते है।

सांस्थानिक प्रभाव:—

बाह्य—बाह्यत्वचा पर लगाने से करीर शोफनाशक प्रभाव करता है।

आन्तरिक-पाचकसंस्थान—कच्चे टेंट के फलों का ग्राही प्रभाव होता है। इससे पाचक संस्थान की श्लैष्मिक कला का संकोच होता है। अधिक मात्रा में सेवन करने से कब्ज़ होता है। पक्वफल भेदन होता है तथा साधारण मात्रा में रुचिवर्द्धक भी होता है। पुष्प मलसंशोधक (Laxative) होते हैं।

त्वचा—करीर की छाल स्वेदल होती है। इसके अतिरिक्त करीर का रसरक्तादि धातुओं पर प्रभाव होकर उनमें परिवर्तत होता है जिससे इसका रसायन प्रभाव स्पष्ट होता है।

आमयिक प्रयोग:—

करीरमाध्मानकरं कषायं कटूष्णमेतत् कफहारिभूरि।
श्वासानिलारोचकसर्वशूलविच्छर्दिखर्जूव्रणदोषहारि॥
(रा० नि०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करीर आध्मानकारक, कषाय, कटु, उष्ण, प्रभूत, कफनाशक तथा श्वास, वातदोष, अरोचक, सर्वशूल, छर्दि, खुजली एवं व्रणदोष नाशक है।

भावप्रकाशकार ने इसे—

दुर्नामकफवातामगरशोथव्रणप्रणुत्। (भा. प्र.)

अर्थात् करीर अर्श, कफ तथा वातदोष एवं आम, विष, शोथ और व्रणनाशक होता है ऐसा निर्दिष्ट किया है।

कैयदेवकार ने उपर्युक्त पाठ में किंचित् परिवर्तन कर,

दुर्नामरक्तवातामगरशोथकृमिव्रणान्।

अर्थात् करील को कृमिनाशक भी माना है। करीर के अङ्कुरों का प्रयोग दन्तशूल को नष्ट करने के लिए किया जाता है। एतदर्थ मुंह में रखकर चबाया जाता है। घृतसिद्ध करीर शाक को सुश्रुतकार ने नेत्रों के लिए हितकारी निर्दिष्ट किया जाता है। इसकी छाल का चूर्ण एवं क्वाथ आमवात (Rheumatism), वातरक्त (Gout), कास (Cough) तथा शोथ (Dropsy) आदि विभिन्न वातव्याधि में बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। करीर का प्रयोग विभिन्न विषों में प्रतिविष के रूप में भी किया जाता है। इसका प्रयोग क्षय, हृद्रोग, शूल, क्षुधानाश तथा विटामिन के अभाव से होने वाले स्कर्वी (Scurvy) आदि रोगों में भी वैद्यों द्वारा किया जाता है। अतिसार में इसके फलों का प्रयोग बहुत उपयोगी, सिद्ध होता है। इसके लिए कच्चे फलों का प्रयोग विशेष हितकारी होता है।

गदनिग्रहकार ने करीर का प्रयोग अर्श में निम्नप्रकार निर्दिष्ट किया है—

लवणं ह्यर्कपत्राणि करीरतरुजान्यपि।
मधुराम्लैश्च युक्तानि युक्त्या क्षारं दहेत् पुटे।
सुखोदकेन मद्यैर्वा रसैरम्लैश्च पाययेत्।
पीतः क्षारो ह्ययं हन्यात् वातार्शांस्यचिरेण तु॥

सैन्धवलवण, अर्कपत्र तथा करीर पत्र को मधुर और अम्ल द्रव्यों के साथ पुट में रखकर जला लें। फिर इसके क्षार को विप्लुत कर उष्णजल मद्य अथवा खट्टे रस के साथ पिलावें तो इस योग से वातार्श शीघ्र ठीक हो जाते हैं।

बाह्यप्रयोग—ताजे वृक्ष के स्वरस को कृमिनाशक प्रभाव के लिए कान में डालते हैं। इसके चूर्ण को पुराने व्रणों पर छिड़कते हैं। इसके क्वाथ का प्रयोग

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्रणों के धावन के लिए किया जाता है। इसके पत्रों का लेप पुराने व्रणों तथा संधि शोथ पर किया जाता है। शोथविलयन के लिए व्रणशोथ अथवा उग्रशोफ (Acute inflammation) पर इसके कोमल पत्रों को बांधते हैं अथवा एतदर्थ इसके छाल का भी व्यवहार किया जाता है।

कवर

नाम—(सं०) काकादनी ? (हि०) कवर, कब्र, वेर, कब्रा, (सिं०) कलवरि (इराण), कवार, कारक; (अ०) कवर, कब्र; (फा०) कवर; (पं०) कवार; (वम्बई) कवर; (यू०) केपरिस (Caparis), (कुमायूँ) उलट-कंट, सिरिश्रा कवार; (तुर्की) कवारिश; (अं०) कैपर प्लान्ट (Caper Plant); (ले०) कैपरिस स्पाइनोसा (Capparis Spinosa)।

विशेष—इसके भी करीर के सदृश शाखामय गुल्म (झाड़ी) होते हैं। इसे एक प्रकार का श्वेत पुष्प का करीर कह सकते हैं। किन्हीं शास्त्रकारों ने इसे काकादनी नाम लिखा है—जो सन्दिग्ध है। वास्तव में संस्कृत ग्रन्थों में इसका स्पष्ट वर्णन किस नाम से आया है यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता।

उत्पत्तिस्थान—यह ऊसर या कंकरीली जमीन में होने वाला गुल्म है। भारतवर्ष में पश्चिम हिमालय से लेकर पूर्व की ओर नेपाल तक हिमालय की उष्णप्रधान घाटियों में सिन्ध में एवं विहार के वेतिया आदि प्रदेशों की कंकरीली भूमि में भी कहीं-कहीं विरल रूप से पाया जाता है।

परिचय—इसकी बहुशाखामय झाड़ी होती है। यह शाखायें श्वेताभ तथा रोमावृत होती हैं। पत्तियाँ वृत्ताकार अथवा चौड़ाई लिए लट्वाकार तथा परिणाह में १ से २ इञ्च की होती हैं। पुष्प पत्र-कोणों में निकलते हैं जो रङ्ग में श्वेतवर्ण के होते हैं। पुंकेशरसूत्र नीलाभरङ्ग (बैंजनी रङ्ग) के होते हैं।

सक्रियतत्त्व—करीर के समान इसकी छाल में भी सेनेगींन के सदृश एक न्युट्रल तिक्त तत्त्व (Neutral Bitter Principle) पाया जाता है। कलिकाओं में केप्रिकाम्ल (Capric Acid) तथा रुटिन (Rutin) नामक एक मधुमेय सत्त्व (Glucoside) मिलता है। इसके उबालने से वही तत्त्व मिलते हैं जो करील में मिलते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणधर्म

कत्वरं गूढ़पत्रस्य भेदञ्च मरुभूरुहम्।
यूनानीयैर्विशेषेण प्रयोगोऽस्य विधीयते॥
स्रोतसां रोधहरणं लेखनं छेदनञ्च तत्।
वातश्लेष्महरं चैव मूत्रार्तवप्रवृत्तिकृत्॥
वेदनानां कृमीणाञ्च हरणं शोथनाशनम्।
रसे पाके च प्रायेण करीरसदृशं मतम्॥ (स्व०)

कत्वर को क्कर भेद कहते हैं। यह भी मरुभूमि तथा कंकरीली भूमि में पैदा होता है। इसका प्रयोग यूनानी चिकित्सकों द्वारा किया जाता है। यह स्रोतसों के अवरोध को नष्ट करने वाला, लेखन, छेदन तथा वातश्लेष्म नाशक है। इसके प्रयोग से मूत्र और आर्तव की प्रवृत्ति होती है। यह पीडा शामक, कृमिनाशक तथा व्रणशोथ नाशक होता है। रस तथा विपाक में इसे करीर के सदृश समझना चाहिए।

सांस्थानिक-प्रभाव—इसकी मुख्य क्रिया इसमें पाये जाने वाले सेनेजिन (Senegin), सदृश तत्त्व के कारण होती है। सेनेजिन की क्रिया सेपोटॉक्सिन (Sapotoxin) की भांति होती है। यह सेपोनिन्स (Saponins) जब जल के साथ हिलाये जाते हैं तो फेन की उत्पत्ति होती है। इनका विशेष उपयोग तैल एवं रालयुक्त-द्रव्यों के इमल्शन (Emulsion) बनाने में किया जाता है। आमाशय तथा आंन्त्र में यह क्षोभक प्रभाव करते हैं, जिससे लाला प्रजनन, हृल्लास, वमन तथा कभी कभी अतिसार भी उत्पन्न हो जाता है। अधस्त्वग् मार्ग द्वारा प्रयुक्त होने पर भी यह स्थानिक क्षोभक (Local irritant) प्रभाव करते हैं। आन्त्र के स्वस्थ आवरकधातु (Epithelium) द्वारा प्रायः इनका शोषण नहीं होता। अतिमात्रा में सीधे रक्त में प्रविष्ट करने पर आक्षेप होने लगता तथा श्वासावरोध उत्पन्न होकर मृत्यु भी हो सकती है। अल्पमात्रा में प्रयुक्त होने पर आन्त्र मार्ग में क्षोभ होकर प्रवाहिकावत् लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनके द्वारा रुधिर के लालकणों का विशेष रूप से विनाश होकर रक्तरस में हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) स्वतन्त्ररूप से स्थित हो जाती है।

श्वासपथ द्वारा प्रयुक्त होने पर छींके आने लगती हैं तथा खांसी उत्पन्न हो

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जाती है। मुख मार्ग से प्रयुक्त होने पर इसकी क्रिया कफ-निस्सारक (Expectorant) की भांति होने लगती है।

इसका निस्सरण श्वासमार्ग की श्लैष्मिककला से होता है, अतएव निस्सरण होते समय उसके स्राव में अभिवृद्धि हो जाती है। श्वासपथ के अतिरिक्त इसका उत्सर्ग त्वचा तथा वृक्कों द्वारा भी होता है और उस समय इससे द्वारा इन अवयवों की क्रिया पर भी किञ्चित् उत्तेजक प्रभाव पड़ता है।

हृदय पर इसकी क्रिया डिजिटेलिस (Digitalis) की भांति होती है, किन्तु इस क्रिया के लिए इसका व्यवहार नहीं किया जाता।

आमयिक प्रयोग।

नानावातामयश्लेष्मशोथश्वासगदादिषु।
सामे समीरणे कासे वातरक्ते च सुप्तिसु॥
पीडासु चापि वह्वीषु मूत्रार्त्तवप्रवृत्तये।
कृमिरोगे च बिबुधैः कवरं साधु युज्यते॥ (स्व०)

विभिन्न प्रकार के वातरोग जैसे पक्षाघात, गृध्रसी आदि, कफज व्याधियां, शोथ, श्वासरोग, आमवात, कास, वातरक्त, सुप्ति, विभिन्न प्रकार की वेदनाओं के शमन एवं मूत्रार्तव की प्रवृत्ति कराने के हेतु यथा कृमिरोग में कवर का प्रयोग किया जाता है। कवरमूल त्वक् सिरका में क्वथित कर, उक्त क्वाथ का दन्तशूल-शमन के लिए कुल्ला कराते हैं। इसके पत्र स्वरस को करील के समान कर्ण-कृमिनाश के लिए कान में टपकाते हैं। यकृत्प्लीहोत्तेजक होने के कारण उक्त अङ्गों की क्रिया मन्दता (Torpid Condition) में इसका प्रयोग करते हैं। यकृत्प्लीहोदर में भी उक्त अङ्गों का शोथ दूर करने के लिए इसका प्रयोग उपादेय सिद्ध होता है। एतदर्थ इसे सिरके के साथ खिलाते हैं। अनार्तव में भी इसका प्रयोग किया जाता है। विशेषः इसका प्रयोग कफ-निस्सारक प्रभाव के लिए श्वास, कास तथा अन्य फुफ्फुस-व्याधियों में बहुत किया जाता है।

वाह्यप्रयोग—शोफघ्न होने के कारण गण्डमाला आदि व्याधियों में इसकी जड़ आदि का लेप बहुत उपयोगी होता है। अन्य व्रणों पर भी इसका लेप किया जाता है। इसके अतिरिक्त दद्रु (Ringworm) आदि अनेकानेक त्वग्रोगों में भी इसका प्रयोग बहुत किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हिंस्रा

नाम—[१]कंथारी, कंथरी, कंथा, दुर्धषा, तीक्ष्णकण्टका, तीक्ष्णगन्धा, क्रूरगन्धा, दुःप्रवेशा, [२]हिंस्रा, [३]अहिंस्रा, गृध्रनखी, जालिः, काकादनी ? क्रूरकर्मा, चक्रवल्ली; (हिं०) हंइसा; (गु०) कंथार (पोरवन्दर) कालोकन्थारो; (मराठी) कन्थार, कन्थारवेल; (वं०) कांटागुड़, कामाई; (ले०) कैपेरिस सेपिएरिया Capparis Sepiaria.

विशेष—प्राचीन ग्रन्थकारों ने हिंस्रा या काकादनी या गृध्रनखी या कन्थारी नाम से इस द्रव्य का वर्णन किया है। इसका कन्थार नाम आज भी प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित है। इसमें नखवत् कण्टक होने के कारण 'गृध्रनखी' और तीक्ष्णकण्टक होने के कारण 'दुःस्पर्शा' यह नाम भी अनुरूप ही प्रतीत होते हैं। 'काकादनी' यह नाम परम सन्दिग्ध है। वास्तव में विद्वानों ने इसे काकादनी इसलिए कहा है, कि इसके फल जब पक जाते हैं तो उन्हें पक्षीगण खाते हैं। काकादनी शब्द का व्यवहार सुश्रुतसंहिता में अनेक स्थलों पर किया गया है। आचार्य डल्हण ने उसकी व्याख्या विभिन्न स्थलों पर भिन्न २ प्रकार से की है। जैसे—सुश्रुत सूत्रस्थान उनतालीसवें अध्याय में—

कालेयागुरु········प्रकीर्योदकीर्येङ्गुदी।

सुमनः काकादनी लाङ्गलकी·········इति समासेन श्लेष्मसंशमनो वर्गः। अत्र 'काकादनी हिंस्रा'। इति डल्हणः

सु० चिकित्सास्थान उदरचिकित्सिताध्याय (चौदहवें अध्याय) में—

शुद्धकोष्ठन्तु मद्येनाश्वमारकमुञ्जा काकादनी मूलकल्कं पाययेत्

इस प्रकरण में डल्हण ने काकादनी को वायसतिन्दुका लिखा है। चिकित्सास्थान में ग्रन्थ्यादि चिकित्सिताध्याय (१८ वें अध्याय) में—

विकङ्कतारग्वधकाकनन्ती, काकादनीतापसवृक्षमूलैः।

यहां के प्रकरण में भी काकनन्ती गुञ्जा तथा काकादनी वायसतिन्दुका ही टीकाकार द्वारा अभिनिर्दिष्ट है।

---

१. कन्थारी—देखो राजनिघण्टु—कन्थारी, कन्थरी, कन्धा, दुर्धषा, तीक्ष्णकण्टका, तीक्ष्णगन्धा, क्रूरगन्धा दुष्प्रवेशाऽष्टकाभिधा। इति राजनिघण्टु।

२. 'हिंस्रा रोहिण्यमृताऽथ भार्गी' सु. चि. १९।

३. अहिंस्रायां च कन्थारी जालिः गृध्रनखी परा। गदनि.।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कल्पस्थान के मूषिककल्प (अध्याय ७) में

काकादनीकाकमाच्योः स्वरसेष्वथवा कृतम्।

यहां पर काकादनी—कृष्ण श्री फलिका कृतं संस्कृतम्–घृतमिति शेषः। अर्थात् काकादनी कृष्ण श्री फलिका का नाम है—यह डल्हणकार का आशय है।

उत्तर तन्त्र के ३२ वें, एवं ४४ वें अध्यायों में भी काकादनी शब्द आया है और उन दोनों स्थानों पर काकादनी को काकतिन्दुकः कहा गया है।

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि काकादनी के पर्य्याय–हिंस्रा, कृष्णश्रीफलिका और वायसतिन्दुक या काकतिन्दुक दिए गए हैं। कुछ शास्त्रकारों ने काकादनी का नाम (Ardisia solanacea) दिया है। कुछ लोग इसे गुञ्जा भी कहते हैं। किन्तु सुश्रुत उत्तरतन्त्र अध्याय ३२ में—

काकादनीं चित्रफलां बिम्बीं गुञ्जाञ्च धारयेत्।

यहां गुञ्जा और काकादनी के एकत्र योग से दूसरे विद्वान् काकादनी को गुञ्जा मानने में सहमत नहीं हैं। वायसतिन्दुक तथा काकतिन्दुक का स्पष्टीकरण भी नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार काकादनी के स्पष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती।

किन्तु डल्हण ने श्लेष्म–संशमन वर्ग में काकादनी से हिंस्रा का भी ग्रहण किया है तथा इसके फलों को कौवे आदि पक्षी पकने पर खाते भी हैं। इन विभिन्न आधारों पर कन्थारी को काकादनी भी अनेक विद्वानों ने मान लिया है।

वैद्यकसिंधुकार ने कन्थारी को फणिमंसा (बंगाली नाम) लिखा है। फणिमंसा नागफनी को कहते हैं, जिसे सप्तला भी कहा जाता है। बंगाल जैसे आनूप देश में इसकी उत्पत्ति भी कम होती है। अतएव भ्रम भी हो सकता है। गुजराती निघण्टुकार श्री बापालाल जी ने इस सम्बन्ध में विचार किया है। इस विषय पर अन्य विद्वानों द्वारा भी प्रकाश डाला जाना चाहिए। कैयदेवकार सम्भवतः इसका एक भेद और मानते हैं—जिसे 'अन्यः कपालकुलिकोऽम्लफलागुच्छगुल्मिका' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह गुल्मजाति की वनस्पति होती है। इसकी उत्पत्ति प्रायः शुष्क भूमि में भारत के उत्तरी मैदानी भागों तथा अन्य प्रदेशों में भी पायी जाती है। विहार, युक्तप्रान्त के तराई के हिस्सों तथा देहरादून आदि प्रदेशों में यह लता प्राप्त होती है। दक्षिण में तथा गुजरात, सिन्ध, पञ्जाब आदि प्रान्तों में भी होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिचय—इसकी शाखायें पतली तथा किंचित् प्रसरणशील होती हैं। प्रत्येक ग्रन्थि पर दो कांटे पाये जाते हैं, जो बहुत ही मजबूत तथा कुछ टेढ़े होते हैं। इसलिए इसे खेतों की बाढ़ पर रक्षा के हेतु लगाया जाता है। पत्तियाँ एकान्तर लम्बगोल ½ से १ या १॥ इंच लम्बी होती हैं। पुष्प श्वेत होते हैं। यह प्रायः एक स्थान से निकलकर गुच्छे के समान दिखाई पड़ते हैं। इसके गुल्म कभी कभी छोटे वृक्षवत् भी हो जाते हैं।

गुण-धर्म

कन्थारी कटुतिक्तोष्णा कफवातनिकृन्तिनी।
शोफघ्नी दीपनी रुच्या रक्तग्रन्थिरुजापहा ॥ (स्व.)

कन्थारी कटु, तिक्त, उष्ण, कफवातनाशक, शोफनाशक, दीपनी, रुचिवर्धक तथा रक्तजग्रन्थि को नष्ट करती है। कैयदेव के मत से यह त्रिदोषघ्न है।

सांस्थानिक प्रभाव—हिंस्रा का प्रभाव पाचक संस्थान पर पड़ता है। सेवन से अन्न में रुचि बढ़ती है। यह क्षुधावर्धक प्रभाव सम्भवतः तिक्तता के कारण होता है। इसकी जड़ परम तिक्त होती है। इसका प्रभाव अन्य तिक्तबल्य द्रव्यों (Bitter Tonics) की भांति ही होता है। पाचक संस्थान पर प्रभाव करने के अतिरिक्त किंचित्कफनिस्सारक कार्य भी करती है। बाह्य प्रभाव से शोफविलयन (Antiphlogistic) करती है।

आमयिक प्रयोग

कन्थारी कटुका सोष्णा श्वासकासत्रिदोषहा। (कै० दे०)

कन्थारी कटु, उष्णवीर्य, श्वास-कासनाशक और त्रिदोषनाशक होती है।

कंथारी दीपनी रुच्या कटूष्णा तिक्तका मता।
रक्तदोषं कफं वातं ग्रन्थिरोगञ्च नाशयेत् ॥
स्नायुरोगञ्च शोफञ्च नाशयेदिति कीर्तिता। (निघण्टुरत्नाकर)

कन्थारी दीपन, रुचिवर्धक, कटु, उष्ण तथा तिक्त होती है। यह रक्तदोष, कफ, वात, ग्रन्थि रोग, स्नायुरोग, (नेहरुआ) तथा शोफ को नष्ट करती है।

बाह्य—कन्थारी या हिंस्रा का बाह्य प्रयोग सुश्रुतकार ने वातजग्रंथि में प्रलेपार्थ किया है। विभिन्न प्रकार के व्रणशोथ को बैठाने के लिए इसका प्रयोग आज भी प्रचुर मात्रा में किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यद्यपि सभी प्रकार के शोफ में कन्थारी का प्रयोग तो सर्वत्र स्पष्ट ही है, तथापि स्नायुरोग या नेहरुवा (Guinea-worm) नामक कृमिरोग में हिंस्रा का प्रयोग बहुत लाभकारी माना गया है:—

भैषज्यरत्नावलीकार ने लिखा है:—

अहिंस्रमूलकल्केन तोयपिष्टेन यत्नतः।
लेपसम्बन्धनात्तन्तुर्निस्सरेन्नैव संशयः॥

अर्थात् हिंस्रामूल को जल में पीस कर लेप करने से स्नायुकरोग वा तन्तु अवश्य बाहर निकल जाता है। नाड़ीव्रण की चिकित्सा में हिंस्रादि तैल का प्रयोग भावप्रकाशकार की प्रसिद्ध औषधि है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से हिंस्रा के वाह्य प्रयोगों की उपयोगिता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है।

आन्तरिक प्रयोग—हिंस्रा का प्रयोग अल्पमात्रा में तिक्तवल्य द्रव्यों के समान करना विशेष लाभकारी हो सकता है। भैषज्यरत्नावलीकार ने हिंस्रादि घृत को श्वासकासाधिकार में वर्णन किया है। श्वास-कास तथा अर्श, अरुचि, गुल्म आदि पाचकसंस्थान की व्याधियों में इसका प्रयोग विशेषतः उपयोगी होता है। रक्तशोधक होने के कारण अनेक त्वग्रोगों में भी इसका आन्तरिक प्रयोग कराया जाता है। विशेषतः वातपित्तज त्वग्विकारों में इसके प्रयोग का निर्देश विद्वानों ने किया है।

हिंस्रा भेद

नाम—(सं०) हिंस्राभेद—कपालकुलिक, अम्लफला, गुच्छगुल्मिका, व्याघ्रनखी; (हिं०) हिंस्रा, कालहिंस, हिंस्राभेद, बधनई, गोविन्दफल, वनकांटा, करेरुआ, अरडण्डा; (गु०) केरड़ा; (वं०) कालुकेर; (ते०) पालिकि; (ता०) अंभूदिकापि; (मराठी) गोविन्दफल, वागेटी; (ले०) कैपेरिस होराइडा Capparis horrida।

विवरण—यह भी हिंस्रा का ही एक भेद है। अतएव इसके गुणधर्म भी उसी के समान ही समझना चाहिए। कैयदेवकार ने 'अन्यः'[1] से सम्भवतः इसी

१. कन्थारिका क्रूरकर्मा त्वहिंस्रा चक्रवल्लरी।
अन्यः कपालकुलिकोऽम्लफला गुच्छगुल्मिका॥ (कैयदेव निघण्टु)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ओर निर्देश किया है । इसी जाति का एक और द्रव्य है जिसका लेटिन नाम कैपेरिसजीलेनिका Capparis zeylanica है । अनेक शास्त्रकारों ने इसे भी व्याघ्रनखी लिखा है । यद्यपि यह दोनों एक ही जाति के गुल्म हैं, तथापि गुणों में किंचित् अन्तर की सम्भावना भी है । दोनों के स्थानिक नामों में यत्र-तत्र समानता सी पाई जाती है ।

परिचय—उपर्युक्त दोनों औषधियों की लता होती है । दृढ़कण्टकयुक्त होने से ही इसे व्याघ्रनखी कहा गया है । बघनई आदि स्थानिक पर्य्याय भी इसी के अपभ्रंश हैं । पत्तियाँ लट्वाकार २″–३″ लम्बी तथा शाखाओं के अग्र मृदुरोमावृत होते हैं । पुष्पश्वेत तथा गुलाबी रंग के होते हैं । फल व्यास में १–५ इंच के स्वरूपतः बेरसदृश और पकने पर लाल होते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—हिंसावत् ।

गुण-धर्म

हिंस्राभेदास्तु शोथघ्नाः श्लेष्मसंशमना मताः ।
मूत्रलाश्शमनाश्चैव कोपनाश्चाप्युदीरिताः ॥ (स्व०)

सभी हिंस्राभेद शोथघ्न, श्लेष्मनिस्सारक एवं शामक होते हैं । इनके कोई भेद मूत्रल और शमन और कोई कोपन लिखे गए हैं । सारांश यह है कि व्याघ्रनखी या हिंस्रा के सभी भेद प्रतिक्षोभक (Counter-Irritant) और इस प्रकार शोथनाशक होते हैं । हिंस्रा-भेदविशेष-Capparis zeylanica को अनेक आचार्यों ने शामक और मूत्रल वर्णन किया है । अर्थात् आन्तरिक प्रयोग से यह शामक और बाह्य प्रयोग से उत्तेजक होता है ।

आमयिक प्रयोग

व्रणेषु व्रणशोथेषु ग्रन्थ्यपच्यर्बुदेषु च ।
सूतिकाविषदोषेषु हिंस्राभेदः प्रयुज्यते ।
लेपप्रयोगात्कल्कस्य प्लीहवृद्धिर्प्रणश्यति ॥ (स्व०)

विभिन्न प्रकार के व्रण, शोथ, ग्रंथि, अपची, अर्बुद आदि में इसके प्रयोग से लाभ होता है । सूतिका दोष एवं विष दोष में हिंस्राभेद हितकारी होते हैं । इसके कल्क के बाह्यलेप से प्लीहावृद्धि नष्ट होती है ।

बाह्यप्रयोग—इस वर्ग की प्रायः सभी औषधियों का मूलकल्क शोथहर,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दाहक तथा स्फोटजनक होता है। अतएव इसका प्रयोग विभिन्न प्रकार के शोथों के नाश के लिए बाह्यरूप से किया जाता है। विभिन्न प्रकार के ग्रंथिशोथ को नष्ट करने तथा अपची, अर्बुद आदि को शान्त करने के लिए भी इसके कल्क का प्रयोग करते हैं। इसके मूल-कल्क से सिद्ध तिलतैल की वत्ती नाड़ीव्रण (Sinus) में रखी जाती है। प्लीहवृद्धि में, प्लीहास्थल में उदर पर इसके कल्क का लेप किया जाता है।

आन्तरिक प्रयोग—मूत्रल गुण के लिए इसके Zeylanica जाति का प्रयोग करते हैं। एतदर्थ इसके चूर्ण को २ माशा की मात्रा तक प्रयुक्त करना चाहिए। ग्रामीण इसके कच्चेफल खाते हैं और विश्वास करते हैं कि इसके खाने के अनन्तर वर्षपर्यन्त सर्पदंश से सुरक्षित रहेंगे। सूतिका ज्वर में इसका क्वाथ प्रयुक्त किया जाता है। इसका शेष वर्णन भी हिंस्रावत् ही समझना चाहिए।

N. O. Violaceae (वनफ्शा कुल)

वनफ्शा

नाम—(सं०) वनप्सा, वनप्सिका, कामपुष्प, आरामपुष्पराज; (हिं०) वनफशा; (फा०) वनफ्शह; (अ०) वनफ़्सज, फ़रफ़ीर; (ता०) वायीलेथी Vayilethe; (बं०) वनोशा; (मल०) वायोलेट्टु Voyilettu; (अं०) स्वीट वायोलेट Sweet violet; (ले०) वायोला ओडोरेटा Viola odorata.

विवरण—इसकी २ और जातियों का व्यवहार किया जाता है, जिन्हें वायोला सर्पेन्स Viola Serpens तथा वायोला सिनेरिया Viola cinerea कहते हैं। इस द्रव्य का व्यवहार यूनानी चिकित्सक अधिक करते हैं। काश्मीर आदि शीतप्रधान पर्वतीय स्थलों पर इसका प्रयोग चिरकाल से किया जाता रहा है। सदियों से इसे वनफ्शा नाम से ही वैद्य भी व्यवहार करते आ रहे हैं। जयपुर की परम्परा के ग्रन्थों (जैसे सिद्धभैषज्यमणिमाला आदि) में इसका संग्रह किया गया है। कुछ लोग प्राचीन त्रायमाण के स्थान पर इसे स्वीकार करते हैं, किन्तु वह भ्रम प्रतीत होता है। (मणिमाला) के टीकाकार वनप्सा के सम्बन्ध में लिखते हैं—'यवनभाषानुसारेण सुप्रसिद्धतरमिदं नाम द्वीपान्तरीय घासविशेष इति' 'कराबादीन सफाई' केचित्तु काश्मीरदेशोत्थ घासविशेष इत्याहुः। अन्ये पुनस्त्रायमाणाभेदमाहुः।' इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि वनफ्शा का

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रयोग यूनानी द्रव्य के रूप में यवनचिकित्सकों के सम्पर्क में आनेवाले प्रदेशों में अधिकतर हुआ। किन्तु इसका प्रयोग इसके पूर्व से भी होता था। इसका आयात यवनदेशों से ही अधिक होता था और यूनानीय चिकित्सक इसे विशेष बरतते थे। अतएव लोगों ने यूनानी द्रव्य ही मान लिया। वास्तव में इस द्रव्य का व्यवहार भारत के कोने-कोने में एवं घर-घर में साधारण उपयोगी द्रव्यों की भांति किया जा रहा है।

उत्पत्तिस्थान—शीतप्रधान पर्वतीय प्रदेशों में ४००० फीट की ऊँचाई के बाद वनफ्शा के क्षुप मिलते हैं। इसकी V. Odorata जाति काश्मीर में तथा V. Serpens जाति कुमायूँ की पहाड़ियों पर अधिक प्राप्त होती है। प्रायः वनफशा की जातियाँ हिमालय के सभी शीतप्रदेशों में पाई जाती हैं। कुछ जातियों को अल्पमात्रा में प्रयत्नपूर्वक गमलों में ५००० फीट के अधिक नीचे के मैदानी प्रदेशों में भी उपजाया गया है।

परिचय—इसका सर्पणशील आधे फुट तक का क्षुप होता है। शाखायें लम्बी और पतली होती हैं। पत्र गोल ताम्बूलाकार या लट्वाकार होते हैं। जिनके तटों (Margin) पर गोल या नोकीले दन्त पाये जाते हैं। इसके पत्र आकार में ब्राह्मी (मण्डूकपर्णी) के पत्रों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। ये पत्तियाँ ४-६ सेन्टीमीटर लम्बी तथा २ से ३॥ सेन्टीमीटर चौड़ी होती हैं। पुष्प हल्के नीले या गुलाबीपन लिए नीले या बैंगनी रंग के तथा सुगन्धयुक्त होते हैं। पुराना हो जाने पर पुष्पों का रंग परिवर्तित होकर भूरा या कुछ पीताभ श्वेत हो जाता है। औषध्यर्थ वनफ्शा का पंचाङ्ग व्यवहृत होता है। इसके पुष्प बाजार में 'गुलवनफशा' के नाम से प्राप्त होते हैं। औषधि में इनका अलग से भी व्यवहार होता है। वनफशा की जड़ ५-६ क्षुद्र शाखाओंयुक्त होती है। इसे 'बीखे बनफ्शह'[1] कहते हैं। वनफशा का आयात प्रायः ईरान से होता है। किन्तु काश्मीरी वनफशा भी उत्तम माना जाता है। इसे 'काश्मीरी वनफशा' या 'बाग़ वनफशा' भी कहते हैं। उत्तर भारत में इसकी अन्य उपर्युक्त दोनों जातियों (सिनेरिया और सरपेंस) का व्यवहार अधिक होता है। यूनानी दृष्टिकोण से उत्तम वनफशा में नीले या नीललोहित जामुनी या बैंगनी रंग के पुष्प होने चाहिये।

---

१. किन्तु बाजार में इस नाम से ईरसा नामक द्रव्य की मूल प्राप्त होतो है। (श्री दलजीत सिंह जी)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सक्रियतत्त्व—इसके नील पुष्पों एवं मूल में वामकतत्त्व जिसे वायोलिन (Violin) कहते हैं, पाया जाता है। यह इपेकाक्वाना (Ipecacuanha) के अल्कलॉयड इमेटीन (Emetine) की भांति होता है। अम्ल द्रव्यों के संसर्ग से इससे लवणों का निर्माण होता है। यह सुरा में सुविलेय किन्तु जल में कठिनता से विलेय होता है। पुष्पों में उपर्युक्त वायोलिन नामक तत्त्व के अतिरिक्त किंचित् उत्पत् तैल (Volatile oil), कई एक रञ्जक तत्त्व (Colouring matters) तथा एक पीतद्रव्य वायोलाक्र्सिट्रिन (Viola quercitrin) एवं शर्करा के अंश पाये जाते हैं।

गुण-कर्म

वनप्सिका सरा स्निग्धा हिमा पित्तप्रणाशनी।
श्लेष्मनिस्सारिणी मृद्वी प्रोक्ता रक्तप्रसादनी।
मूत्रला स्वेदजननी मात्राधिक्ये तु वामनी ॥ (स्व०)

वनफशा सर, स्निग्ध, हिम, पित्तनाशक, श्लेष्मनिस्सारक स्वादु, मृदु तथा रक्तप्रसादन होती है। इसके अतिरिक्त मूत्रल, स्वेदल तथा अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने पर वामक प्रभाव भी करती है।

सांस्थानिकप्रभाव—वनफ्शा का सांस्थानिक प्रभाव विचार करने के लिए उसके सक्रियतत्त्वों पर विचार करना चाहिए। वनफशा में पाया जानेवाला इमेटीन सदृश तत्त्व वायोलिन विशेषरूप से इसकी क्रिया का उत्तरदायी होता है। किन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रहे कि वनफशा की क्रिया का सम्पादन केवल वायोलिन से ही नहीं होता परन्तु इसमें पाये जाने वाले अन्यघटक यथा उत्पत् तैल, रंजकद्रव्य एवं शर्करा आदि भी यथासम्भव उत्तरदायी होते हैं। यदि ऐसा न होता तो वनफशा भी इपेकाक्वाना तथा इमेटीन की भाँति विषाक्त द्रव्य बन जाता तथा रऊसा के आजाऽए रईसा पर (उत्तमाङ्गों पर) इसका जो सुन्दर प्रभाव होता है, उससे यह वञ्चित हो जाता। व्यवहार से देखा गया है कि वनफशा में इमेटीन के कतिपय गुणकर्म तो पाये जाते हैं, किन्तु उसके दोष नहीं पाये जाते। इसकी मुख्य-मुख्य सांस्थानिक क्रियायें निम्न प्रकार से होती हैं—

बाह्य—बाह्यप्रयोग से यह परममृदु प्रतिक्षोभक होता है। इस प्रकार नाड्यग्रों के पैत्तिक शोथों में यह परमोपयोगी होता है। इसके वायोलिन नामक तत्त्व में इमेटीन सदृश प्रवाहिका-कीटाणुनाशक क्रिया भले ही हो, किन्तु जिस

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रूप में वनफशा प्रयुक्त होता है, उस रूप में (Entamoeba histolytica) पर इसकी कुछ विशेष क्रिया नहीं प्रतीत होती। अब तक के प्रयोगों द्वारा Anthrax bacillus के ऊपर भी इसकी क्रिया पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। इसके विपरीत श्री ओ० शॉफनेशी O' Shaughnessy नामक शास्त्रज्ञ का मत है कि यह द्रव्य प्रवाहिका पर प्रभावशाली नहीं है।

आन्तरिक प्रभाव—मात्राधिक्य में आन्तरिक प्रयोग से आमाशय पर क्षोभक प्रभाव पड़ने के कारण वमन होती है। किन्तु प्रयोगों द्वारा पता चला है कि वनफशा का उक्त वामक प्रभाव केवल आमाशयस्थ प्रभाव के द्वारा ही नहीं, अपितु वमन-केन्द्र (Vomiting centre) पर भी इसकी क्रिया होने के कारण होता है। क्योंकि यदि वनफशे के तत्त्व को सूचिकाभरण द्वारा सीधे रक्त में प्रविष्ट किया जाय तो औषधि के आमाशय में पहुंचने के पूर्व ही इसका वामक प्रभाव प्रगट होने लगता है। प्रायः इसके प्रयोग में हृल्लास (Nausea) नहीं होता।

आमाशय की भांति अंत्र पर भी यह क्षोभक प्रभाव करता है, जिसके परिणामस्वरूप यह किंचित् सर एवं स्रंसनगुणयुक्त है और मलावरोध को दूर करता है। यकृत् पर इसका विशेष उत्तेजक प्रभाव होने के कारण याकृतपित्त का उद्रेचन पर्याप्त मात्रा में होता है। स्निग्ध एवं शीत गुण के कारण यह तृषाशामक भी होता है। पाचनसंस्थान में वनफशा स्नेहन करता है। इसी से यूनानी चिकित्सक इसे उदरमार्दवकर कहते हैं।

रक्तवाहकसंस्थान—इमेटीन के सदृश वनफशागत वायोलिन नामक तत्त्व भले ही सिरागत इन्जेक्शन द्वारा प्रक्षिप्त होने पर तीव्र हृदयावसादक हो तथा उससे रक्तभार भले ही कम होता हो, किन्तु वनफशा के प्रयोग में यह दोष नहीं होता। साधारणतया चिकित्सकों का अनुभव है कि यह परम रक्तप्रसादन है और हृदय एवं रक्तवाहकसंस्थान पर वनफशा के सेवन से किसी भी प्रकार का विषाक्त प्रभाव नहीं होता। विभिन्न अवयवों पर वाहिनी संकोचक (Astringent) गुण होने के कारण वनफशा रक्तस्रावावरोधक प्रभाव भी करता है।

श्वास-संस्थान—औषधीय मात्राओं में वनफशा का कार्य इस संस्थान पर मुख्यरूप से होता है। आमाशय में क्षोभ की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वमनकेन्द्र पर प्राणदानाड़ी (Vagus) के द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह एक उत्तम परावर्तित-कफनिस्सारक (Reflex expectorant) है। वनप्शा की उपर्युक्त क्रिया वायोलिन (Violin) की उपस्थिति के कारण होती है। किन्तु इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें पाये जाने वाले सुगन्धित उत्पत् तैलों के कार्य से इसके श्वास-संस्थानिक प्रभाव में विशेषता हो जाती है। श्वास-प्रणालिकाओं की श्लैष्मिककला में स्थित सांवेदनिक प्राणदानाड्यग्रों पर उत्तेजक प्रभाव होने के कारण स्राव में वृद्धि हो जाती है।

त्वचा—त्वचा पर भी वनप्शा उत्तेजक प्रभाव करता है, जिससे स्वेदजनन होता है।

मूत्रवाहक संस्थान—इस संस्थान पर भी इसकी किंचित् क्रिया होती है। मूत्र की मात्रा अधिक होती तथा वृक्कशोथ का शमन होता है।

नाड़ी-संस्थान—मस्तिष्क पर कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु स्मरणशक्ति में अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार वनप्शा किञ्चित् मेध्य भी है।

आमयिक प्रयोग

बाह्यप्रयोग—पैत्तिक शोथों में वनप्शा का लेप हितकारी होता है। पित्तज शिरःशूल में वनप्शा के कल्क के लेप से शान्ति मिलती है। वनप्शा के ताजे फूलों के साथ तिल या मग्ज बादाम पीसकर तैल निकाला जाता है जिसे मस्तिष्क की तरावट करने (स्निग्ध रखने) तथा नींद लाने के लिए लगाते हैं। अधुना—दुष्ट व्रण या दुष्टार्बुद (कैन्सर Cancer) में वनप्शा का लेप किया जाता है। कैन्सर के व्रणधावन के लिए भी वनप्शा एवं पतङ्ग का क्वाथ प्रयुक्त होता है। इससे स्राव की कमी होती तथा वेदना का शमन होता है। शिरःशूल में ताजा वनप्शा या इसके फूल सूंघने से लाभ होता है। सिद्धभैषज्यमणिमालाकार ने वनप्सा के प्रयोग में लिखा है—

'अथवा यष्टिसहायः श्वयथुं लेपाद्विलोपयति'। मुलहठी के साथ वनप्शा का लेप शोथनाशक होता है।

आन्तरिक प्रयोग—

ज्वर तथा फुफ्फुसरोग—ज्वराधिकार में सिद्धभैषज्यमणिमालाकार ने वनप्शा के निम्न महत्त्वपूर्ण उपयोगों का वर्णन किया है—

स्निग्धा हिमा वनप्शा तत्क्वाथो ज्वरमपस्मृतिं जयति।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वनप्सा-स्निग्ध और शीतल होता है और उसका क्वाथ ज्वर तथा अपस्मार को नष्ट करता है।

वहीं पर निम्न अन्य प्रयोग भी ध्यान देने योग्य हैं—

ज्वरार्दिता या कटुकान्कषायान्—न चेत्पिबेत् किं वद वैद्यदेयम्।
निबोध हंसीमधुरप्रचारे 'वहां वनफशा शर्बत पिलादे' ॥

यदि ज्वर पीड़ित स्त्री कटु रस के क्वाथों को लेने में असमर्थ हो तो बुद्धिमान् वैद्य उसे वनप्शा शर्बत पिलावे।

वनप्शा शर्बत की निर्माण विधि—

वनप्सिकामष्टगुणे निशायां नीरे निधायाथ विपाच्य चुल्ल्याम्।
अष्टावशेषं शृतमाकलय्य संगालयेद् गाढपटेन युक्त्या ॥
चतुर्गुणान्तत्र पचेत्सिताख्यान्तन्तूद्गमो राजति यावदस्याम्।
वनप्सिका शार्करमेतदाहुः पित्तज्वरे देयमतीव सौम्यम् ॥

(सिद्धभै० म० मा० ज्वरा०)

रात्रि में वनप्सा को जौकुट कर (यहां वनप्सा का पञ्चाङ्ग या केवल पुष्प भी ग्रहण किया जाता है) आठगुने जल में भिगोकर रहने दें। प्रातः काल इसे उठा कर चूल्हे पर चढ़ा दें मन्द अग्नि से अष्टमांशावशेष क्वाथ करलें। फिर क्वाथ को नीचे उतार गाढ़े वस्त्र से छान लें। तदनन्तर चतुर्गुण खांड मिलाकर पकावें, तथा एकतार की चाशनी होने पर उतार लें। इस प्रकार वनप्शा शर्बत तैयार हो जाता है। इसका प्रयोग पित्तज्वर में विशेष लाभकारी होता है।

श्लेष्मज्वर तथा श्वाससंस्थान के कासादि रोगों के लिए निम्न योग परमोपादेय है—

वनप्सिका-प्रसूनं च गोजिह्वां मधुकं तथा।
खतमी चापि प्रत्येकं माषकत्रयसम्मितम् ॥
श्लेष्मातकस्य बीजानि दिक्संख्यानि तथैव च।
उन्नाबकस्य बीजानि तदर्द्धान्यखिलानि च।
एकत्रैतानि संकुट्य क्वाथयेत्कुडवेऽम्भसि ॥
अर्धावशिष्टं विज्ञाय वस्त्रपूतं विधाय च।
शर्करान्तत्र प्रक्षिप्य सुखमुष्णञ्च तं पिबेत् ॥
वनप्सिकादिको नाम कषायक इतीरितः।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रतिश्यायप्रशमने प्रयोगोऽयमनुत्तमः॥
शास्त्रिराजेश्वरैः प्रायो बहुधैव परीक्षितः॥

गुलबनफ्शा, गावजुवां, मुलेठी, खतमी, प्रत्येक ३ माशे। लिसोड़े के बीज १० दाने, उन्नाव के बीज ५ दाने लेकर सबों को यवकुट कर एक पाव जल में अर्धावशेष क्वाथ बनाकर छान कर २ तो० मिश्री मिलाकर मन्दोष्ण अवस्था में पान करने से प्रतिश्याय (जुकाम) में विशेष लाभ होता है। यह वनप्सादि कषाय अत्युत्तम प्रतिश्याय हर योग है। इसमें विविध प्रकार का परिवर्तन कर अनेकों चिकित्सक इसका व्यवहार करते हैं। भारत के प्रत्येक प्रान्त में परिवार के वृद्धलोग भी यत्र कुत्रचित् स्वयं इसका प्रयोग करते हैं। अकेला वनप्शा भी प्रतिश्याय के लिए क्वाथ बनाकर प्रयुक्त किया जाता है। यह प्रयोग हिन्दूविश्वविद्यालय में वर्ता जाता है। आदरणीय श्रीमान् पं० राजेश्वरदत्तजी शास्त्री इसके भूरि भूरि प्रशंसक है। चौखम्बा से प्रकाशित भैषज्यरत्नावली में उपर्युक्त शास्त्रीजी ने इस योग को संकलित करवाया है।

पूज्यपाद आचार्य यादवजी महाराज ने इसी योग को गोजिह्वादि कषाय के नाम से 'सिद्धयोगसंग्रह' में संग्रहीत किया है। किन्तु इस योग में उपर्युक्त योग की अपेक्षा द्रव्य अधिक हैं। गावजवान, मुलैठी, सौंफ, मुनक्का, अंजीर, उन्नाव, अडूसा, जूफा, सपिस्ताँ (सूखालिसोढ़ा), खूबकलाँ (खाकसीर), हंसराज, गुलवनप्शा और भटकटैया प्रत्येक समभाग तथा कालीमिर्च आधाभाग लें। उसको अधकचरा करके रख छोड़ें। इनमें से एक तोला लें। उसको १० तोला जल में पका ४ तोला बाकी रहने पर कपड़े से छान उसमें ३ माशा मिश्री या मधु मिलाकर दिन में २-३ वार देवें।

महाराज यादवजी ने इस योग का उपयोग निम्न भाँति किया है—

प्रतिश्याय (जुकाम, सर्दी में), श्लेष्मज्वर तथा कफ, खांसी और श्वास जिसमें कफ जमा हुआ गाढ़ा हो और सरलता से न निकलता हो, ऐसी अवस्था में इस क्वाथ से बहुत लाभ होता है। इस क्वाथ को केवल या इसमें ५ रत्ती नौसादर, ५ रत्ती यवक्षार और द्राक्षारिष्ट १-२ तोला मिलाकर उपयोग करें। कफज्वर में इसे अनुपानरूप में भी व्यवहार कर सकते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों से वनप्सा के वैद्यों द्वारा विशेषरूप से व्यवहृत किए जाने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का अनुमान सहज में किया जासकता है। तथा इस द्रव्य का प्रयोग किस प्रकार और किस रोग में किया जाता है, यह भी प्रतीत होता है।

अर्थात् इसका मुख्य प्रयोग—प्रतिश्याय, फुफ्फुसशोथ, कास, फुफ्फुसावरणशोथ आदि श्वाससंस्थान की व्याधियों में कफनिस्सारक होने के कारण सरलता से लाभप्रद होता है। एतदर्थ उपर्युक्त योग व्यवहार में लाए जाते हैं। श्लेष्मज्वर (Influenza) तथा पित्तज्वर में इसका प्रयोग करना हितकारी होता है। ज्वरावस्था में प्रयुक्त होने पर इसके स्वेदल गुण का भी लाभ प्राप्त होता है। प्रतिश्याय आदि में नरसार के साथ इसका प्रयोग उत्तम होता है। इस क्रिया के लिये उपर्युक्त योगों के अतिरिक्त वनप्सा का ख़मीरा भी देते हैं।

पाचक-संस्थान की विकृतियों में भी वनप्शा का प्रयोग किया जाता है। मलबिवन्ध (Constipation) में वनफशा का गुलकन्द खिलाया जाता है। आमाशय तथा यकृत् शोथ में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इस हेतु इसके फाण्ट, क्वाथ या हिम का प्रयोग करते हैं। तृष्णा की शान्ति के लिए भी वनप्सा का प्रयोग हितकारी होता है। रोग़नबादाम और सनाय के शर्बत के साथ वनप्शा का मिश्रण कर मल-शोधनार्थ देते हैं। कफज रोगों में सैन्धव, पिप्पली सदृश द्रव्यों के साथ वनप्शा को मधुमिश्रित कर चटाते हैं।

कुछ आचार्यों ने वनप्सा को नवीन प्रवाहिका में हितकारी लिखा है। किन्तु इस रोग में मुख्य रूप से प्रयोग करने की परम्परा कम प्रतीत होती है।

वनफशा के अन्य प्रयोग—

नेत्राभिष्यन्द में वनप्शा का क्वाथ हितकारी है। रक्त की उष्णता को नष्ट करने के लिए इसका उपयोग चिकित्सकों द्वारा किया जाता है। अत्यार्तव तथा रक्तार्श आदि रक्तस्रावी व्याधियों में वनप्शा देने से रक्तस्राव बन्द होता है। एतदर्थ इसके पञ्चाङ्ग के क्वाथ को द्राक्षासव के साथ देते हैं। गर्भाशयापभ्रंश एवं गुद के रोगियों में वनप्शा देने से लाभ होता है। कैन्सर आदि अर्बुदों में बाह्य प्रयोग के अतिरिक्त इसका आन्तरिक प्रयोग भी कराया जाता है। अन्य किसी प्रकार से भी पूयोत्पत्ति (Suppuration) की स्थिति में इसका आन्तरिक सेवन पूय की अभिवृद्धि में कमी करने में सहायक होता है।

मात्रा—स्वेदल तथा कफनाशक प्रभाव के लिए-½ से 1½ माशा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रक्तस्तम्भन के हेतु–२–४ माशा तक। वनप्शा के सत्व की १½ रत्ती की मात्रा से वमन होता है। अधिक मात्रा में मूल से भी वमन होता है।

रतनपुरुष

नाम—(सं०) पुरुषरत्न, स्थलपद्म ?; (हिं०) रतनपुरुष; (बं०) नुनवोर (संथा०) टण्डीसोल, वीरसूरजमुखी; (ते०) सूर्यकान्तिः (ता०) ओरिलै Orilai, हेमारै Hamarai; (क०, को०) पुरुषरत्न; (म०) रतनवास; (ले०) आयोनिडियम सफ्रुटिकोजम् Ionidium Suffruticosum, आयोनिडियम् हेटेरोफाइलम् Ionidium Heterophyllum.

विशेष वि०—अनेक विद्वानों ने रतनपुरुष को शास्त्रों का 'स्थलपद्म' मानकर वर्णन किया है। किन्तु अन्य विशेषज्ञों ने रतनपुरुष का वर्णन करते समय स्थलपद्म का कोई निर्देश नहीं किया है। अतएव यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि स्थलपद्म और रतनपुरुष दोनों एक ही हैं। यदि स्थलपद्म के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा जाय तो स्थलपद्म के निम्न नाम इसके भी माने जाने चाहिए।

पद्मचरित्री, अतिचरा, पद्मा, पद्मवती, चारटी, गन्धमूला, लक्ष्मी, सुपुष्करा, सुगन्धमूला, अम्बुरुहा, पद्मवती, स्थूलरुहा, पुष्करिणी, पर्णिका, स्थलपद्मिनी, पद्मपत्री, पुष्करपर्णी, पद्मनाडिका। इन नामों में पद्मचारिणी (पद्मानुकारिणी), पद्मवती (पद्मतुल्या), पुष्करपर्णी (पद्मपत्री), पद्मपत्री (कमल के समान पत्र हैं जिसके), पद्मनाडिका (पद्म के समान नाल है जिसका), अम्बुरुहा (जल में होनेवाली) आदि नाम इसके स्थलपद्म होने के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न करते हैं। स्वर्गीय श्री कन्हैयालालदे ने इसका संस्कृत नाम 'चारटी' लिखा है, जो कि स्थलपद्म का नाम है। अतएव अनेक शास्त्रज्ञों ने इसे भी स्थलपद्म मान लिया है। वास्तव में स्थलपद्म के सम्बन्ध में भी संशय ही है। क्योंकि श्रीकण्ठ ने 'स्थलपद्मं माणकम्' ऐसा परिचय दिया है। किन्तु 'माणकम्' के लिए सुश्रुत ने सूत्र स्थान अ० ४६ में जहां—'माणकं स्वादुशीतं गुरु चापि प्रकीर्तितम्' लिखा है, वहां टीकाकार डल्हण ने इसका परिचय देते हुए 'माणकं महापत्रं यथापूर्वमधःपत्र परित्यागि' ऐसा लिखा है। यद्यपि कमल की कोई जाति ऐसी हो भी सकती है जिसमें यथापूर्व अधःपत्र का परित्याग होता हो, तथापि आजकल विशेष रूप से 'माणकम्' को बंगाल में विशेष रूप से पाया जानेवाला द्रव्य मानकच्चू ही ग्रहण किया जाता है। विशेषज्ञ इसे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ही 'माणकम्' मानते हैं। इसका पत्र घुइया (अरबी) के समान होता है और इसमें नीचे कन्द होता है। अस्तु—इस प्रकार 'रतनपुरुष' को एकान्ततः प्राचीनों का 'स्थलपद्म' ही नहीं कहा जा सकता। विद्वानों के विचार करने से इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है। इसके आनूप देश में होने के कारण इसको 'स्थल-पद्म' सहसा नहीं कह देने का साहस भी ठीक नहीं है।

उत्पत्ति स्थान—यह क्षुप मैदानी (विशेषतः आनूपदेशीय विहार आदि) प्रान्तों की खुली हुई तर जमीन में सर्वत्र उत्पन्न होता है। दक्षिण के कोंकण आदि प्रदेशों में भी बहुतायत से होता है। गंगा आदि नदियों के समीप यह क्षुप पाया जाता है। काशी में भी यह यत्र कुत्रचित् प्राप्त होता है।

परिचय—इसका कुछ इन्चों से १॥ फुट तक का क्षुप होता है। यह बहुवर्षायु होता है। इसकी शाखायें काष्ठमय होती हैं। पत्र–वृन्तरहित तथा प्रायः कुन्तल क्रम में रहते हैं। पत्तियाँ १½ से २ इञ्च लम्बी और भालाकार होती हैं। पुष्प–रक्तवर्ण के तथा व्यास में लगभग १ इञ्च के होते हैं। दलपत्र ५ होते हैं। एक दल लम्बे दलदण्ड (Claw) और प्रायः वृत्ताकार दलोत्तर (Limb) से युक्त होता है। मूल के ३, ४ इञ्च के टुकड़े संग्रह किए जाते हैं। औषध में यही मूल तथा इसका पञ्चाङ्ग भी व्यवहृत होता है।

गुण-कर्म

यदि रतनपुरुष को स्थलपद्म मान लिया जाय तो इसके गुण कर्म निम्न प्रकार समझने चाहिए:—

स्थलादि पद्मिनी गौल्या तिक्ता शीता च वान्तिनुत्।
रक्तपित्तहरा मेहमूत्रातीसारनाशिनी।

× × × ×

पद्मा सुगन्धा तिक्ता च मोहापस्मारनाशिनी।

(ध० नि०, राज नि०)

स्थलादिपद्मिनी, गौल्या, तिक्त–शीतल, छर्दिनाशक, रक्तपित्तनाशक प्रमेह मूत्रातीसार नाशक होती है। यहां धन्वन्तरि निघण्टु के गौल्या का भाव स्पष्ट नहीं होता है।

× × × ×

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पद्माऽनुष्णा कटुस्तिक्ता कषाया कफवातजित्।
मूत्रकृच्छ्राश्मशूलघ्नी कासश्वासविषापहा ॥ (भा० प्र०)

स्थलपद्म–शीत (अनुष्ण), कटु, तिक्त, कषाय, कफवातनाशक, मूत्र कृच्छ्र, अश्मरी, नाशक, शूलनाशक तथा कास–श्वास एवं विष का नाशक होता है।

पद्मा हिमा लघुः श्लेष्मकृच्छ्रजित् स्तनदार्ढ्यकृत्। (म० नि०)

स्थलपद्म–हिम, लघु, श्लेष्मकारक तथा मूत्रकृच्छ्रनाशक होता है।

प्रस्तुत क्षुप में निम्न गुण मिश्रित रूप से पाये जाते हैं:—

रत्नादिपुरुषं प्राज्ञैः स्नेहसञ्जननं मतम्।
मेहदाहशिरःशूलनाशनं शीतलं परम्। (स्व)

रतनपुरुष–स्नेहकारक, मेह, दाह, शिरःशूलनाशक तथा परम शीतल होता है।

सांस्थानिक प्रभाव—यह मुख्यतया शरीर की बढ़ी हुई उष्मा को कम करता है। यह शीतवीर्य ओषधि है और मूत्रवाहक संस्थान पर संशामक प्रभाव करती है।

आमयिक प्रयोग

ऊपर स्थलपद्म के कुछ आमयिक प्रयोगों का वर्णन उसके गुण–कर्मों के साथ ही शास्त्रोक्त उद्धरणों द्वारा प्रदर्शित कर दिया गया है इसके अतिरिक्त वृन्द ने अपने सिद्धयोग में—

स्थलपद्ममयं कल्कं पयसाऽलोड्य पाययेत्।
प्लीहामयहरं चैव सर्वाङ्गैकाङ्गशोथजित् ॥

स्थलपद्म का कल्क दूध के साथ आलोडन कर पिलाने से प्लीहा दोष शान्त होता है तथा सर्वांगज अथवा एकाङ्गज शोथ भी नष्ट होता है।

इसका प्रयोग उष्णता को शान्त करने के लिए विशेषरूप से किया जाता है। उष्णताजन्य शिरःशूल में इसका लेप करते हैं। जङ्गली लोग बच्चों के उदर रोगों में इसके मूल का प्रयोग करते हैं। मूत्रकृच्छ्र में इसका व्यवहार किया जाता है। मधुमेह में उसे लाभकारी कहते हैं। इसका व्यवहार श्लीपद में भी होता है ऐसा अनेक शास्त्रज्ञों का मत है। इसके पत्र और कोमल शाखाओं का क्वाथ या शर्बत के रूप में व्यवहार स्निग्धता उत्पन्न करने के लिए करते हैं। मस्तक पर लगाने के लिए इससे सिद्ध तैल का व्यवहार करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रा क्वाथार्थ—१ तोला से २ तोला ग्रहण करें तथा चूर्ण २ माशा से ४ माशा तक।

N. O. Bixineae (पीतकार्पास कुल)

पीतकार्पास

नाम—(सं०) पीतकार्पास, सुवर्णकार्पास, सुवर्णपुष्प; (हिं०) पीलीकपास, गजराकुम्बो, कतीरागोंद, गलगल; (बं०) गलगल; (उड़िया) कारोपलास, (कोल) हूयू संकाल, होयो; (ता०) तनकुपरुत्ति, तनाकुमारम Tanakumaram; (ते०) कोड गोगुपत्ति, कोण्डुगोगु पिसुनू Kondugogu pisunu; (मलवार) शिगपंगिपरुत्ति, शिमीपुञ्जी Shimaepunji; (कनाड़ी) बरुगाडमारा Barugadamara; (मराठी) गढ़वी, गलगल, गलेरी गुंग्लै; (फा०) कतीराए हिन्दी; (अं०) एलो कॉटन ट्री Yellow Cotton-tree, Golden Silk Cotton, Yellow flowered Cotton; (ले०) काक्लोस्पर्मम् गॉसिपिअम् Cochlospermum gossypium इसे Bombax gossypium भी कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह वृक्ष उत्तरी भारत के शुष्क प्रदेशों में प्रायः पाया जाता है। अराकान के पहाड़ी इलाके, बुन्देलखण्ड, हरिद्वार, विहार, गढ़वाल, खानदेश, सतपुड़ा आदि पर्वतीय प्रदेशों में बहुतायत से मिलता है। दक्षिण में यह पर्याप्त रूप से पाया जाता है।

परिचय—इसका छोटा प्रायः सीधा वृक्ष होता है। इसका काण्ड अत्यन्त कोमल होता है। स्वरूपतः यह सेमरसदृश प्रतीत होता है। इसकी छाल भी अत्यन्त मुलायम प्रतीत होती है। पत्र ३–५ खण्डित अंशों में होते हैं। इनका व्यास ३″–८″ का होता है। पुष्प व्यास में ४″-५′ तथा पीले रङ्ग के होते हैं। मार्च-अप्रैल में पुष्पों के अनन्तर अण्डाकार फल प्राप्त होते हैं। इन्हीं के अन्दर बीज पाये जाते हैं जो वृक्काकार होते हैं। इन बीजों के ऊपर पीतवर्ण की मुलायम रेशमसदृश कपास या रूई मिलती है। इसी हेतु इसको पीतकपास कहा जाता है। इस वृक्ष से एक गोंद प्राप्त होता है जिसे हिन्दी में कतीराए कहते हैं। अंग्रेजी में इसे (Hog-gum) कहते हैं। इसका व्यवहार अंग्रेजी ट्रॅागाकान्थ (Tragacanth) यानी असली कतीरा के स्थान पर व्यवहार किया जाता है। गोंद के अतिरिक्त मूलत्वक् का व्यवहार भी चिकित्सा में किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सक्रियतत्त्व—पीतकार्पास के बीजों में एक तैल तथा कुछ शर्करा का अंश पाया जाता है।

गुण-कर्म

पीतकार्पासनिर्यासः संग्राही स्नेहनस्तथा।
मूत्रला गदिता चास्य मूलत्वक् चाश्मरीहरा॥
यत्र कट्टीरनिर्यासः सततं युज्यते बुधैः।
तत्र योज्यं सदाऽभावे पीतकार्पासगुन्द्रकम्॥ (स्व०)

पीतकार्पास का निर्यास (गोंद)-संग्राही तथा स्नेहन होता है। इसके मूल की छाल मूत्रल तथा अश्मरीघ्न होती है। असली कतीरा गोंद का जहाँ प्रयोग किया जाता है वहाँ उसके अभाव में पीली कपास का गोंद व्यवहार में लाया जासकता है।

सांस्थानिक प्रभाव—इसके गोंद का मुख्य प्रभाव पाचक संस्थान पर होता है। स्नेहन होने के कारण यह मल साफ लाता है और शीत संग्राही होने के कारण मल बाँधता है।

मूत्रसंस्थान पर इसके गोंद के अतिरिक्त मूलत्वक् का प्रभाव भी होता है। इससे मूत्र की मात्रा अधिक होती है इसका यह प्रभाव भी शीतवीर्य होने से होता है।

आमयिक प्रयोग।

कण्ठदोषेषु कासेषु प्रदरादिविपत्तिषु।
अत्यार्तवप्रसङ्गेषु मूत्राभावेऽतिसारके।
पीतकार्पासनिर्यासो योज्यो वैद्यैः सुशीतलः।

कण्ठदोष, कास, प्रदर (श्वेत तथा रक्त दोनों), अत्यार्तव, मूत्राभाव तथा अतिसार आदि व्याधियों में पीतकार्पास-निर्यास, जो कि शीतवीर्य होता है, वैद्यों द्वारा प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके गोंद की टिकिया या गोली बनाकर खिलाई जाती है। दही या दूध के फाड़े हुए जल के साथ इसको अतिसार एवं प्रवाहिका में देते हैं। गर्भाशय के रोगों में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—३ से ६ माशा। **अनुपान**—दुग्ध।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिन्दूरी

नाम—(हिं०) सिंदूरी, लटकन, सिन्दूरिया, गावपुरगी Gowpurgee; (म०) केसरी, केसरबोंड़ी, (बां०) शेन्द्री (बं०) लटकन, नटकनेर (मूल को नटकनेर कहते हैं) विक्सा, उरुकुत्रार, वालकाना Walkana; (आसाम) जोलन्धर Jolondhar; (उडिया) गुलबाँस Gulbas; (चटगांव) सोवासी Sowasi; (ते०) जफ्राचेट्टु Jaffrachettu (तामिल) जफ्रामारम Jaffra-maram; (कना०) कप्पूमानकला Kappumankala, रंगमाली Rang-mali; (मल०) कोरङ्गुमुंक्का Korangumunka; (फ्रेंच) रोकाउ Rocou (जर्मन) अचूटर ऑरबानबाम Achter; orbanbam (अं०) आरनोटा The ornotta plant or the Arnnatto (The orange red dye) नारंगी रंग का वृक्ष'; (ले०) बिक्सा ऑरलैना Bixa orellana, या बिक्सा क्रेलैना Bixa crallana

विशेष विवरण—यह पीतकार्पास Bixineae कुल का एक छोटा सुन्दर वृक्ष होता है। इसे उद्यानों में लगाते हैं। अथवा इसमें पाये जाने वाले रंग के लिए इसकी खेती की जाती है। शास्त्रज्ञों का मत है कि यह वृक्ष मूलरूप में अमेरिका से भारत में आया है।

उत्पत्तिस्थान—इसको भारत के विभिन्न प्रान्तों में बागों में लगाते हैं।

परिचय—इसका छोटा सुन्दर वृक्ष होता है। पत्र हृदयाकृति तथा प्रायः ४"५" लम्बे होते हैं। पुष्पों का रंग श्वेत या गुलाबी होता है। फल धतूरा की भाँति कण्टकावृत होते हैं। बीज सिंदूर वर्ण के एक स्तर से आवृत होते हैं। इनकी मात्रा काफी होती है। इन्हीं बीजों से एक रंग प्राप्त किया जाता है।

इसके पंचाङ्ग का व्यवहार औषधि में होता है। मुख्यतया बीज एवं बीजों का छिलका या स्तर तथा मूलत्वक्। बीजों एवं बीजस्तर का चूर्ण एवं क्वाथ के रूप में प्रयोग किया जाता है।

सक्रियतत्त्व—इसके बीजों में Bixin नामक एक रञ्जकतत्व Colouring matter) पाया जाता है।

गुणकर्म—

फलस्य मज्जा सिन्दूर्याः ग्राहिणी स्वल्पमात्रया।
मात्राधिक्ये तु विद्वद्भिः प्रोक्ता सैवं सुस्रंसिनी॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बीजञ्चबीजावरणं हृद्यं संग्रहणं परम्।
रोचकञ्च ज्वरघ्नञ्च मूलत्वक् चापि तद्गुणा ॥ (स्व)

सिन्दूरी के फल की मज्जा थोड़ी मात्रा में संग्राहक तथा विशेष मात्रा में स्रंसन होती है। बीज एवं बीजावरण, हृद्य, संग्राहक, रुचिकर तथा ज्वरघ्न होते हैं मूलत्वक् के गुण भी इसी के सदृश हैं।

आमयिक प्रयोग

मूलत्वक् चाथ सिन्दूरी बीजं वाते भृशोष्णके।
योज्यं ज्वरामये बीज त्वक् प्रोक्ताचातिसारके ॥

सिन्दूरी के बीज और मूलत्वक् का व्यवहार विभिन्न ज्वरों में, भृशोष्ण वात (सूजाक) में तथा बीजावरण का प्रयोग अतिसार में किया जाता है।

विभिन्न प्रकार के अवरोही, अर्द्धावरोही तथा सन्ततज्वरों (Remittent, intermittent, & continuous fevers) में ज्वररहने या न रहने की अवस्था में यदि कोई उपद्रव न हो तो सिन्दूरी के बीजों या मूलत्वक् का क्वाथ दिया जा सकता है। विसर्गी (Intermittent) ज्वर में ज्वर रहने या न रहने वाली दोनों अवस्थाओं में इसका प्रयोग सम्भव है।

बीजों तथा मूलत्वक् का उपयोग सूजाक (Gonorrhoea) में भी विशेष लाभप्रद होता है। इसके बीजों का आवरण भाग अमेरिका के आदि निवासियों द्वारा मशकदंश से बचने के लिए शरीर पर मलने के लिए प्रयुक्त होता है। अतिसार और प्रवाहिका में भी इसका प्रयोग किया जाता है। बीजावरण को जल में घुलाकर पुनः सुखाकर उसकी टिकिया बनाकर संग्रह करते हैं। इससे प्राप्त पीत रञ्जकद्रव्य (Yellow colouring matter) रंगने के काम में लाया जाता है।

मात्रा—बीज या मूलत्वक्—१ से ३ माशा।

तुवरक (चालमोगरा)

नाम—(सं०) तुवरक, कुष्ठवैरी, कटुकपित्थ (का०) गरुड़फल (सिङ्गा) सुकुलु Mukulu, रटाकाकुना Ratakakuna; (को०) गर्डफल, कौटी खष्ट; (मला०) मरोटि; (तु०) सूटटे, गोपा, कोष्टो (दक्षिण में स्थानिक नाम) जंगली बादाम (बीज), (बम्बई) कोवटी Kowati, कावा; (म०) कौटी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटुकवटा, कडुकवीठ, कडुकवठी; (ता०) येट्टि Yetti, मारावेट्टि Maravetti, मावत्तापि, निरदिमट्टु (Niradimuttu); (मल०) कोडि मरवेट्टि, नीरवेट्टि, नीरदीमुट्टु Niradimuttu; (तै०) निरेदिविट्टुलु Niradivittulu, अड्विवादामु (बीज) (अंगरेजी) जंगली आमण्ड Jangali almond; (ले०) हिडनोकार्पस विटियाना Hydnocarpus wightiana.

विशेष विवरण—वर्तमान काल में प्राप्त होने वाले चिकित्सा शास्त्र के प्राचीनतम ग्रंथ सुश्रुत संहिता में तुवरक का वर्णन तथा उसके विशिष्ट प्रयोगों का निर्देश विस्तार से किया गया है। चरक में भी यद्यपि तौवरक शब्द चि० अ० ३० में आया है तथापि उसका प्रकरण एवं अर्थ स्पष्ट भिन्न प्रतीत होता है। सम्भवतः सुश्रुत केटीकाकार डल्हण के द्वारा तुवरक का जो अस्पष्ट अर्थ किया गया है, उसके कारण चिरकाल से वैद्य समुदाय इस परमोपयोगी रसायन के प्रयोग से वंचित रहा।

मूल सुश्रुत के अन्दर वर्णित तुवरक की व्याख्या के निम्नस्थलों से तुवरक के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न होना अनिवार्य था। सुश्रुत सूत्र अ० ४५ में तैलवर्णन में डल्हण ने तुवरक की टीका करते हुए 'पत्रैस्तु केशराकारैः कलायसदृशैः फलैः। वृक्षस्तुवरको नाम पश्चिमार्णवभूमिषु' तथा सु० चि० अ० ९ कुष्ठ रोग वर्णन में तुवरक की व्याख्या में—'तुवरकः पश्चिमसमुद्रभूमिषु प्रसिद्ध एव' और रसायन वर्णन चि० ३१ अ० में—'तुवरकः पश्चिमसमुद्रभूमिषु पलाशानुकारिवृक्षः' इस प्रकार लिखा है।

वास्तव में प्रकृत तुवरक वृक्ष न तो कलायसदृश फल वाला ही होता है, और न तो पलाश के सदृश स्वरूप वाला ही। न इसके पत्र केशर के आकार के होते हैं। इससे अनेक शास्त्रज्ञों ने इसके सम्बन्ध में यह मत प्रगट किया है, कि सम्प्रति प्राचीनों का तुवरक वर्तमान काल के Hydnocarpus wightiana से भिन्न कोई अन्य वस्तु है। परन्तु इसके विपरीत सुश्रुतोक्त वर्णन तथा इस द्रव्य के प्रयोगों को समझने से प्रतीत होता है कि तुवरक अन्य वस्तु नहीं है। तुवरक में वर्णित गुणदोष स्पष्ट इसी द्रव्य के हैं। साथ ही अनेक विद्वान शास्त्रज्ञों ने स्थिररूप से निर्णय कर दिया है कि सुश्रुतोक्त तुवरक इससे भिन्न नहीं है। सुश्रुतकार ने तुवरक के तैल व फल के गुणों को लिखा है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर विशेषरूप से कुष्ठ, यक्ष्मा आदि व्याधियों में तुवरक के प्रयोग का निर्देश किया है। इन प्रयोगों पर सूक्ष्मरूप से विचार करने पर भ्रम का कोई स्थल नहीं रह जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुश्रुतकाल के अनन्तर दश शतक अथवा उसके पूर्व के बौद्ध साहित्य के पर्यालोचन से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है, बौद्ध आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि तुवरक या चालमोगराबीजों के सेवन से कुष्ठ रोगियों की स्थिति में सुधार हुआ। इस विषय में पर्याप्त प्रामाणिक आधार उपस्थित है कि लगभग १५९५ ई० के आसपास चालमोगरा के बीजों का तैल निकाला जाता था, और बीजगत तैल कुष्ठ एवं अन्य अनेक त्वग्रोगों की चिकित्सा में घरेलूतौर पर व्यवहृत होता था। यूनानी चिकित्सा में प्राचीन द्रव्यगुण विषयक ग्रंथ 'मख़ज़नुल् अद्विया' में इन बीजों का उल्लेख 'चालमूग्री' नाम से किया है। ब्रिटिश शासन के भारत में प्रसारित होने के प्रारम्भिक काल में ही इस महत्त्वपूर्ण द्रव्य के विषय में अंग्रेज विद्वानों ने विचार प्रारम्भ कर दिया। १८५४ ई० में माउएट ने कुष्ठ के एक रोगी में इसके बाह्य एवं आन्तरिक प्रयोगों से हुए सुधार का वर्णन किया। अन्ततः परिणाम यह हुआ कि यह द्रव्य १८६८ ई० में फार्माकोपिआ के अन्दर एक अधिकृत औषधि के रूप में संग्रह कर लिया गया। प्रारम्भ में इसका बाह्य प्रयोग मलहम के रूप में किया जाता रहा। १९०४ में फ्रेड्रिक बी पावर Fredrick B. Power तथा उनके सहयोगियों द्वारा चालमोगरा तैल का रासायनिक संगठन प्रकाशित करने के अनन्तर इस महत्त्वपूर्ण द्रव्य की ओर विश्व के वैज्ञानिकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ।

उत्पत्तिस्थान—भारवतर्ष में जिन वृक्षों से चालमोगरा तैल निकाला जाता है वह निम्न हैं:—

(1) Hydnocarpus wightiana. हिडनोकार्पस विटियाना
(2) Taractogenos Kurzii टेरेक्टोजेनस कुर्जिआई।

Hydnocarpus wightiana

यह वृक्ष दक्षिणी भारत में पश्चिमी घाट के पर्वतों, दक्षिण कोंकण के समुद्री किनारे पर तथा ट्रावन्कोर मालाबार आदि में विशेष रूप से पाये जाते हैं। वहां इनको कौटी (Kowti) कहते हैं। लङ्का (सिलोन) में भी यह मिलता है।

Taraktogenos¦kurzii

यह वृक्ष पूर्व बंगाल, वर्मा के ऊपरी प्रदेश, पेगू, वोमा, मर्तवान की पर्वतमालाओं के पूर्वी एवं दक्षिणी ढलवा प्रदेशों एव सिलहट, चटगांव आदि जंगलों में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बहुतायत से होता है। इसके अतिरिक्त Hydnocarpus anthelmintica इसी वर्ग का एक और वृक्ष है, जो स्याम, उत्तरी कोचीन तथा गैम्बोज में पाया जाता है। सियाम से इसके बीज चीन भेजे जाते हैं। इसे वहां डेक्रोबो (Dakro-bo) कहते हैं। चीन में भी अब यह वृक्ष पहचाना जा चुका है। पहले जिसे चीनी भाषा में (टाफेङ्गटजू) Ta-feng-tazu कहते थे वही वास्तव में Hydnocarpus anthelmintica सिद्ध हुआ है। यह वृक्ष चीन में बहुतायत से पाया जाता है। और चीन वाले अब इसी वृक्ष के बीज से चालमोगरा तैल निकालते हैं।

यहां पर यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि लगभग १५ वीं शताब्दी में लिखी गई चीनी भाषा की प्राचीन पुस्तक पेनटीसास Penti sas में इन बीजों को टाफेङ्गटजू के बीजों को कुष्ठ, खुजली आदि अनेक त्वग्रोगों तथा अन्य आतशक आदि व्याधियों में परमोपयोगी लिखा गया है। जब कि इस वृक्ष के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी बीसवीं शताब्दी में हुई है।

उक्त वृक्षों के अतिरिक्त इस वर्ग में लगभग १०-११ वृक्ष हैं, जिनसे यह तैल निकाला जाता है, जिनकी सूची विस्तार भय से यहां नहीं दी गई है। यह वृक्ष विभिन्न देशों में तथा उनमें कुछ दक्षिण में पाये जाते हैं।

Gynocardia Odorata
गायनोकार्डिया ओडोरेटा—

यह वृक्ष चिरकाल से चालमोगरा नाम से ही विख्यात चला आ रहा है। इसका स्वरूप, फल-बीजादि उपर्युक्त वृक्षों से मिलते-जुलते हैं। किन्तु वास्तव में इनके तैल में कुष्ठनाशक तत्त्व नहीं पाये जाते। अतएव इनका प्रयोग बन्द कर दिया गया है। १९०० ई० के आसपास तक इनका प्रयोग भी चालमोगरा के रूप में होता था। आयुर्वेद के कई निघण्टुकारों ने अब भी इसे चालमोगरा या तुवरक के नाम से वर्णित किया है जो वास्तव में भ्रमवश हुआ प्रतीत होता है। यह भ्रम-प्राचीन काल में अवश्य था, किन्तु अब इसका निराकरण अवश्य हो जाना चाहिए। यह वृक्ष सीकम, आसाम तथा पूर्वी बंगाल में पाया जाता है। स्वरूप में समानता होने के कारण स्थानिक लोग अब भी इसके तैल को निकालकर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रयोग करते हैं। बाजार में उपलब्ध होने वाले चालमोगरा तैल में इसके तैल की मिलावट भी कर देते हैं।

परिचय—Hydnocarpus wightiana—यह एक ऊँचा वृक्ष होता है। पत्र १२½ से २३ सेंटीमीटर लम्बे और ४-७॥ सेंटीमीटर चौड़े, लट्वाकार आयताकार या भालाकार तथा लम्बी नोक वाले होते हैं। पत्र देखने में वैसे तो सीताफल के पत्तों की भांति होते हैं, किन्तु चिकने और चमकदार होते हैं। पुष्प श्वेत रङ्ग के तथा गुच्छों में पाये जाते हैं। फल का परिमाण सेबवत् होता है। ये आकार में गोल होते हैं। फलों का बाह्य आवरण खुरदरा, भूरा और कड़ा होता है। इसके अन्दर १०-२० तक बीज पाये जाते हैं जो लगभग ¾ इञ्च के होते हैं। यह बीज देखने में छोटे बादाम के सदृश लगते हैं।

Taraktogenos Kurzii

इसके सदा हरित वृक्ष प्रायः ४०-५० फुट ऊंचे पाये जाते हैं। इसके पत्र सरलधार वाले १८-२५ सेंटीमीटर या ७-१० इञ्च लम्बे भालाकार या आयताकार-भालाकार (Lanceolate or oblong-lenceolate) होते हैं। पत्रों के अधः पृष्ठ की शिरायें बहुत स्पष्ट होती हैं। फल जो कि मुख्य तने पर तथा शाखाओं पर पाये जाते हैं, नारङ्गी के आकार के होते हैं। इनके गूदे में बहुत से बीज पाये जाते हैं। बीज मखमली होते हैं। इन्हीं से तैल निकाला जाता है। सीकम के पहाड़ी लोग इसके गूदे को मछलियां मारने के लिए विष के रूप में प्रयुक्त करते हैं। गूदे को जल में उबालकर अन्न के रूप में कभी-कभी खाते भी हैं। इस गूदे में टैनिन की काफी मात्रा पाई जाती है और इसके क्वाथ में कड़वे बादाम के उड़नशील गंध जैसी गन्ध पाई जाती है।

विशेष विवरण—भारतवर्ष में चालमोगरा तैल की प्राप्ति के साधन उपर्युक्त ही दोनों वृक्ष हैं। इसमें Hydnocarpus wightiana दक्षिण भारतमें बगीचों तथा प्रायः ऐसे स्थानों में उगता है, जिससे इसके बीज ताजे तथा बहुतायत से और सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु इसके विपरीत T. Kurzii ऐसे स्थानों में उत्पन्न होता है, जो कि साधारण पहुंच के परे होते हैं। जब वर्षा ऋतु में इन वृक्षों के फलों से बीज ग्रहण करने का समय होता है तो इनके

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पास पहुंचना भी साधारणतया कठिन होता है। अतएव ताजे फलों से बीजों को प्राप्त कर तैल निकालना सम्भव नहीं हो पाता। अतएव विशेषतः हिडनोकार्पस तैल ही ग्रहण किया जाता है। साथ ही रासायनिक दृष्टि से भी हिडनोकार्पस तैल ही उत्तम माना जाता है—

"Hydnocarpus oil is further considered to be superior on account of its higher rotation value (5·5 degree higher than Chaulmoogra oil)"—Chopra.

Gynocardia odorata

इसके वृक्ष तथा बीज भी T. Kurzii के वृक्षों एवं बीजों के भांति ही दिखलाई पड़ते हैं। इस समानता के कारण ही इसका व्यवहार होने लगा था। इन दोनों के पहिचान के लिए शास्त्रज्ञों की निम्न सम्मति है—The seeds of Taraktogenos Kurzii may, however, be distinguished by the fact that the radicle of the seed is terminal, while in Gynocardia-seed it is lateral. अर्थात् सूक्ष्म परीक्षण में T. Kurzi के बीजों का रेडिकल (मूलभ्रूण) टरमिनल या अग्रय तथा गायनो कार्डिया में मूलभ्रूण पार्श्वस्थ या लेटरल होता है।

सक्रियतत्त्व—(१) चालमोग्रिक अम्ल के ग्लिसिराइड्स (Glycerides of chaulmoogric acid) ($C_{18} H_{32} O_2$); (२) पामिटिक अम्ल के ग्लिसिराइड्स (Glycerides of Palmitic acid) तथा मेदसाम्ल (Fatty acids); (३) हिडनोकार्पिक एसिड (Hydnocarpic acid ($C_{16} H_{28} O_2$))।

Gynocardia odorata के बीजों से पाये जाने वाले तैल साधारण भौतिक स्वरूप में तथा रासायनिक संगठन दोनों दृष्टि से भिन्न होता है। उसमें उपर्युक्त आम्लिक तत्त्व जो कि इस ओषधि में मुख्य रूप से प्राप्त होते हैं और इस ओषधि की क्रिया के उत्तरदायी होते हैं, नहीं पाये जाते।

हिडनोकार्पस।विटियाना के ताजे पके बीजों से प्राप्त तैल को हिडनोकार्पस आयल (Hydnocarpus oil) और T. Kurzii एवं इसी जाति के अन्य वृक्षों के ताजे पके बीजों से प्राप्त तैल को चालमुगरा आयल Chaulmoogra oil कहते हैं। इन दोनों के रासायनिक संगठन में कोई भेद नहीं है। हिडनो-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कार्पस तैल पीत या भूरे रंग का तैल हल्के वसा के रूप में होता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की गन्ध पाई जाती है। इसका स्वाद तीक्ष्ण एवं कटु (Acrid or burning pungent) होता है। साधारण तापक्रम पर ९०% अल्कोहल में यह अविलेय या अंशतः विलेय होता है, किन्तु उष्ण अल्कोहल में विलेय होता है। ईथर, क्लोरोफॉर्म और सालवेंट ईथर के साथ यह मिश्रित हो जाता है।

चालमोगरा तैल भी पीत या पीलाई लिए भूरा तैल होता है। २५° सेंटीग्रेड के नीचे यह श्वेत घनरूप में होता है। इसमें भी विशिष्ट गन्ध पाई जाती है। इसका स्वाद भी लगभग उपर्युक्त तैल के समान ही होता है। अल्कोहल (९०%), बेंजीन (Benzene), क्लोरोफार्म तथा सालवेंट ईथर (Solvent ether) के साथ यह घुल जाता है।

मात्रा—हिडनोकार्पस तैल–५ से १५ बूंद उत्तरोत्तर ६० बूंद तक। चालमूगरा तैल की भी यही मात्रा है।

अधस्त्वक् सूचिकाभरण द्वारा ३० बूंद उत्तरोत्तर ७५ बूंद तक।

आजकल हिडनोकार्पस तैल के एथिल ईस्टर्स (Ethyl esters) का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। इसे ओलियम् हिडनोकार्पाई एथिलिकम् (Oleum Hydnocarpii Aethylicum (ol. Hydnocarp. Aeth.) कहते हैं। हिडनोकार्पस तैल के इथाइल ईस्टर्स में मुख्यतः हिडनोकार्पिक एवं चालमूगरिक अम्ल (Hydnocarpic and Chaulmoogric acid) ही पाये जाते हैं। इन्हें हिडनोकार्पस तैल को वसाम्ल (Fatty acid) के ईस्टरीकरण (Esterifying) द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह क्रिया एथिल अलकोहल (Ethyl alcohol) या इन्डस्ट्रियल मेथिलेटेड स्पिरिट के साथ की जाती है।

यह रंगहीन या किंचित् पीताभ पारदर्शक तैल के रूप में होते हैं। इसमें विशिष्ट प्रकार को गन्ध पाई जाती है तथा स्वाद हिडनोकार्पस तैल की भांति तीक्ष्ण कटु होता है। यह आयतन से कम से कम ६ गुने अल्कोहल (९०%) में विलेय होता है। सालवेंट ईथर, क्लोरोफॉर्म तथा कार्बन–डाई–सल्फाइड के साथ भी मिश्रित हो सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रा—५ से १५ बूंद उत्तरोत्तर बढ़ाकर ६० बूंद तक।

अधिकृत योग।

(१) इन्जेक्शिओ ओलियाई हिडनोकार्पाई (Injectio olei Hydnocarpi) यह अधस्त्वक् सूचिकाभरण द्वारा प्रयुक्त होता है।

मात्रा—३० बूंद उत्तरोत्तर बढ़ाकर ७५ बूंद तक।

(२) इन्जेक्शिओ ओलियाई हिडनोकार्पाइ एथिलिसाई (Injectio olei Hydnocarpi Aethylici)—यह अधस्त्वक् अथवा पेश्यन्तरिक सूचिकाभरण द्वारा प्रयुक्त होता है।

मात्रा—३० बूंद उत्तरोत्तर बढ़ाकर ७५ बूंद तक।

अनधिकृत योग।

१—सोडियाई हिडनोकार्पस बी० पी० सी० Sodii Hydnocarpus, B. P. C.

पर्य्याय—एलिपोल Alepol। यह हिडनोकार्पस तैल के मेदसाम्लों का सोडियम लवण होता है। हल्के भूरे रंग का चूर्ण होता है जिसमें हिडनोकार्पस तैल की गंध आती है। इसके २ प्रतिशत विलयन का प्रयोग अधस्त्वचीय पेश्यन्तरिक या सिरागत मार्ग द्वारा करते हैं।

मात्रा—१ से ३ ग्रेन।

गुण—कर्म

तुवरक के फल के गुण—

आरुष्करं तौवरकं कषायं कटुपाकि च।
उष्णं कृमिज्वरानाहमेहोदावर्तनाशनम्।
कुष्ठगुल्मोदरार्शोघ्नं कटुपाकि तथैव च॥ (सु० सू० अ० ४६)

भल्लातक व तुवरक के फल कषायरसवाले विपाक में कटु वीर्य में उष्ण, कृमि, ज्वर, आनाह, मेह, उदावर्त नष्ट करने वाले तथा कुष्ठ, गुल्म, उदर एवं अर्श नाशक तथा कटुपाकी होते हैं।

सुश्रुतकार ने तुवरक के तैल के गुण निम्न शब्दों में वर्णन किए हैं—'तुवरकभल्लातकतैले उष्णे मधुरकषाये तिक्तानुरसे, वातकफकुष्ठमेदोमेहकृमिप्रशमने उभयतोभागदोषहरे च।' (सु० सू० अ० ४५)।

तुवरक और भल्लातक का तैल मधुर कषाय रसवाला, तिक्त अनुरस और

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उष्णवीर्य वाला, वात' कफ' कुष्ठ' मेदोदोष' प्रमेह' कृमि प्रशमन करने वाला तथा उभयतोभागदोषहर (वामक व रेचक) होता है।

निघण्टुरत्नाकरकार तुवरक का वर्णन निम्न शब्दों में करते हैं—

तुवरस्तुवरश्चोष्णो रसे पाके च तिक्तकः।
कफव्रणक्रिमिमेहकुष्ठज्वरविनाशनः। ?
आनाहमर्शं शोफञ्च नाशयेदिति ते जगुः॥ (नि. र.)

तुवरक कषाय तथा तिक्त, पाक में तिक्त, उष्ण, कफनाशक, व्रण, कृमि, मेह कुष्ठ, ज्वर, आनाह, अर्श, शोफ नाशक होता है, ऐसा कहा गया है—'तुवरक तैल कृमिघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, कण्डूघ्न, वेदनास्थापन, त्वग्दोषहर और रक्त-शोधक है।'

सांस्थानिक प्रभाव

बाह्य—चालमुगरा का तैल त्वचा पर लगाने से स्थानिक रक्तसंचार तथा नाड़ियों को उत्तेजित करता है। यदि अधिक काल या कुछ काल तक प्रत्येक दिन इसकी मालिश की जाय तो त्वचा को रक्तवर्ण का (Rubefacient) कर देता है।

आभ्यन्तर—हिडनोकार्पस या चालमुगरा तैल और इनके एथिल ईस्टर्स (Ethyl esters) कुष्ठ को एक सर्वमान्य अधिकृत औषधि है। अभी तक इसकी क्रिया कैसे होती है, यह सिद्धान्त नहीं स्थिर हो सका है। इस सम्बन्ध में विश्वास किया जाता है कि यह एक प्रकार की प्रतिक्रिया ज्वर के साथ (Reaction with fever) उत्पन्न करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप कुष्ठ की कोशायें (Lepra cells) फट जाती हैं और दण्डाणु (Bacilli) स्वतंत्र होकर निकल पड़ते हैं तथा यही निकले हुए स्वतंत्र जन्तु शरीर में प्रतिक्षिप्त होकर शारीरिकशक्ति (क्षमता)को बढ़ा देते हैं (act as antigen & increase the immunity response)।

इसके विपरीत अन्य शास्त्रज्ञों का मत है, कि यह द्रव्य शरीरस्थ रक्त में वसाद्योतक या नाशक तत्त्व (Blood lipase) को बढ़ा देते हैं जो कीटाणुओं के मोम–सम या वसामय आवरण (Waxy or fatty coat) को नष्ट कर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

देते हैं। इस प्रकार तैल को इन जन्तुओं पर क्रिया करने के लिए अवकाश प्राप्त हो जाता है। यह भी कहा जाता है कि रक्त के वृहत् श्वेताणु (Large mononuclear leucocyte) जो कि औषधि के सूचिकाभरण करने के अनन्तर बढ़ जाते हैं—औषधि की क्रिया में सहायक हो जाते हैं अर्थात् वे औषधि को सारे शरीर में पहुंचाने की सहायता करते हैं।

कुछ अन्य शास्त्रज्ञ (Walter and Swimmer) का मत है कि यह तैल असंतृप्तवसाम्लों (Unsaturated fatty acids) की उपस्थिति के कारण अम्लसाही (Acid fast) जीवाणुओं पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव डालते हैं। इन तैलों के विशिष्ट प्रभाव का यही कारण होता है। चालमोगरा तैल में दण्डाणुओं (Bacteria) के कोषावरण में प्रविष्ट होने में अक्षम होने के कारण दण्डाणुनाशक गुण (Bactericide property) अत्यल्प होता है। किन्तु इसे दण्डाणुस्तम्भक (Bacteriostatic) कर्म करने की क्षमता अवश्य होती है। इसका प्रमाण इसी से प्राप्त होता है कि २ प्रतिशत तैल के संवर्धन द्रव्य (Culture media) में मिश्रित करने से अम्लसाही दण्डाणुओं (जैसे राजयक्ष्मा का दण्डाणु (T. Bacilli) की वृद्धि रुक जाती है। तैल के वसाम्लों के सेन्द्रियक लवणों में १ में १ प्रतिशत बल के घोल में भी यक्ष्मा के दण्डाणुओं के स्तम्भक तथा नाशक (Bacteriostatic & Bactericidal) गुण देखे गए हैं। इससे पता चलता है कि इन लवणों में दोनों प्रकार की अधिक शक्ति पाई जाती है। इस तैल का यह एक विशिष्ट प्रभाव होता है जो इसी सदृश अन्य तैलों में नहीं पाया जाता।

यह तैल तथा इसके इस्टर्स एवं वसाम्ल सभी परमक्षोभक होते हैं। धीरे धीरे इनकी अधिक मात्रा का अभ्यास किया जा सकता है। सूचिकाभरण द्वारा प्रवेश स्थल पर यह पीड़ाजनक होते हैं तथा विद्रधि बनने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विशिष्ट सांस्थानिक प्रभाव इसमें नहीं होता।

रीड़ नामक शास्त्रज्ञ ने हिडनोकार्पस आयल के मात्राधिक्य में प्रयुक्त होनेपर प्रगट होने वाले इन लक्षणों का वर्णन किया है—रक्त में शोणितांशन (Haemolysis), वृक्कक्षोभ, शोणितमेह (Haemoglobinuria) क्षुधानाश (Anorexia), हृल्लास (Nausea) तथा वमन आदि। औषधीय मात्रा में ये लक्षण नहीं प्रगट होते हैं। इसके अतिरिक्त निम्न लक्षण भी होते हैं—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तात्कालिक लक्षण—शिरोभ्रम (Dizziness), छाती में पीडा तथा दमघुटना (Chocking sensation), कभी कभी क्षणिक दृष्टिनाश तथा शून्यता (Dimness or temporary loss of vision)। इन लक्षणों के कारण का पता नहीं लगता कि ये क्यों होते हैं।

स्थानिक लक्षण—अवयवों या धातुओं का कठोर हो जाना (Induration), पीडा एवं विद्रधियों का उत्पन्न होना (Abscess formation)। प्रायः यह लक्षण पेश्यन्तरिक सूचिकाभरण की अपेक्षा अधस्त्वचीय सूचिकाभरण में अधिक होते हैं। प्रान्तिक लसीका ग्रंथियाँ (Regional lymph gland) कभी कभी बढ़ जाती हैं तथा उनमें व्रणता भी हो जाती है।

साधारण लक्षण (General symptoms)—शिरःशूल दुःस्वास्थ्य (Malaise), ज्वर, निद्रानाश (Insomnia) क्षुधानाश, उदरशूल (Abdominal pain) तथा उष्णता की अनुभूति, वृक्करोग तथा उसके कारण मूत्र में शुक्ति (Albumin) एवं निर्मोक (Cast) की उपस्थिति आदि। तथा कथित कुष्ठप्रतिक्रिया (So-called leprous reaction) में ज्वर, त्वचा पर विस्फोट (Eruptions) का निकलना, नाडीशूल (Neuritis), संधिशोथ (Athritis) तथा तारामण्डलशोथ (Iritis or iridocyclitis)।

आमयिक प्रयोग—इस द्रव्य का प्रयोग कुष्ठ तथा अन्य इसी प्रकार की महान् कष्टकारक व्याधियों में चिरकाल से होता आया है। सुश्रुतकार ने लिखा है :—

पञ्चकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं जिजीविषुम् ।
योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम् ॥
वृक्षास्तुवरका ये स्युः पश्चिमार्णवभूमिषु ।
वीचीतरङ्गविक्षेपमारुतोद्धूतपल्लवाः ॥
तेषां फलानि गृह्णीयात् सुपक्वान्यम्बुदागमे ।
मज्जां तेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च ॥
तिलवत् पीडयेद् द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुम्भवत् ।
तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदातोयसंक्षयात् ॥
अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत् ।
स्निग्धः स्विन्नो हृतमलः पक्षादूर्ध्वं प्रयत्नवान् ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चतुर्थभक्तान्तरितः शुक्लादौ दिवसे शुभे ।
मन्त्रपूतस्य तैलस्य [1]पिबेन्मात्रां यथाबलम् ॥
तत्र मन्त्रं प्रवक्ष्यामि येनेदमभिमन्त्र्यते ।
'मज्जसार महावीर्य सर्वान् धातून् विशोधय ॥
शङ्खचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः' ।
तेनास्योर्ध्वमधश्चापि दोषायान्त्यसकृत्ततः ।
अस्नेहलवणां सायं यवागूं शीतलां पिबेत् ॥
पञ्चाहं प्रपिबेत्तैलमनेन विधिना नरः ।
पक्षं परिहरेच्चापि मुद्गयूषौदनाशनः ॥
पञ्चभिर्दिवसैरेवं सर्वकुष्ठैर्विमुच्यते ।
तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम् ॥
निहितं पूर्ववत्पक्षात् पिबेन्मासमतन्द्रितः ।
तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम् ॥
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम् ।
अनेनाशुप्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम् ॥
सर्पिर्मधुयुतं पीतं तदेव खदिराम्बुना ।
पक्षिमांसरसाहारं करोति द्विशतायुषम् ॥
तदेव नस्ये पञ्चाशद्दिवसानुपयोजितम् ।
वपुष्मन्तं श्रुतिधरं करोति त्रिशतायुषम् ॥
शोधयन्ति नरं पीता मज्जानस्तस्य मात्रया ।
महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः ॥

सान्तर्धूमस्तस्य मज्जा तु दग्धः क्षिप्तस्तैले सैन्धवं चाञ्जनं च ।
पैल्ल्यं हन्यादर्मनक्तान्ध्यकाचान् नीलीरोगं तैमिरं चाञ्जनेन ॥

(सुश्रुत संहिता चि० स्थान १३, १९–३५)

पञ्चकर्म गुणातीत, श्रद्धावान्, जीने की इच्छा रखने वाले कुष्ठरोगी को बुद्धिमान् वैद्य इस योग द्वारा चिकित्सा करे । पश्चिमी समुद्र की भूमि पर जो तुवरक के वृक्ष

---

१ प्रातः पाणितलं पिबेत्—इति अष्टाङ्गहृदये पाठान्तरम् ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पाये जाते हैं, समुद्र की तरङ्गों की परम्परा के विक्षेप से उठी हुई वायु द्वारा जिनके पत्र हिलते हैं। उन वृक्षों के भली भांति पके हुए फलों को वर्षा ऋतु में संग्रह करें। उनकी मज्जा निकाल लें और सुखाकर चूर्ण कर लें। उस चूर्ण से तिल के समान कोल्हू में पेर कर अथवा कुसुम्भ तैल निकालने की विधि से जल में पका कर ऊपर आये हुए तैल को निकाल लें। इस प्रकार जल में पकाकर निकाले हुए तैल को पुनः आग पर पकाकर उसके जल को सुखा लें। तदनन्तर उतार कर उस तैल को कण्डों के चूर्ण में एक पक्ष (पन्द्रह दिन) रखें। स्नेहन-स्वेदन करने के बाद वमन और विरेचन द्वारा मल शोधन कराने के एक पक्ष के अनन्तर (पेयादि-संसर्जन क्रम से पूर्ण बल प्राप्त होने के बाद) चतुर्थ भक्तान्तरित (अर्थात् पक्ष भर के बाद प्रथम दिन सुबह तक प्राकृतिक भोजन ले दूसरे दिन प्रातः भोजन करे और सायं भोजन न करे अथवा भोजन के स्थान पर फलों या उष्णोदक को लें पुनः तीसरे दिन प्रातः काल लघु कोष्ठ वाले रोगी को) स्नेह (तुवरक स्नेह) शुभ दिवस में बलानुसार मात्रापूर्वक पिलावें। इसकी मात्रा १ तो० बतलाई गई है (किन्तु आधुनिक समय में मात्रा का निर्धारण रोगी के बलाबल को देखकर करना चाहिए। १ तो० की मात्रा साधारणतया अधिक है।) इस स्नेह को ग्रहण करने के पूर्व तैल को उपर्युक्त मूल ग्रंथ निर्दिष्ट मन्त्र से अभिमन्त्रित कर ले—'हे मज्जसार' महावीर्य सम्पूर्ण धातुओं का शोधन करो। तुम्हें शंख-चक्र-गदा हाथ में धारण करने वाले अच्युत आज्ञा देते हैं। इसके बाद उस रोगी के दोषों का ऊर्ध्व तथा अधो भाग से शीघ्र निर्हरण होता है। इसके अनन्तर बिना स्नेह और लवण के सिद्ध की गई ठण्डी यवागू को सायंकाल रोगी को पिलावे। फिर एक पक्ष तक मुद्गयूष और भात खिलाकर रखें तथा ओषधि न दे। इस प्रकार पांच दिन में रोगी सर्व कुष्ठों से विमुक्त होता है। यदि तैल को त्रिगुण खदिर क्वाथ में सिद्ध करके ग्रहण करे तो और विशेष लाभ होता है। इस प्रकार पकाये हुए तैल को मास भर पीना चाहिए तथा इसी का अभ्यंग भी करना चाहिए। इस प्रयोग से भिन्न-स्वर, रक्तनेत्र, विशीर्ण, कृमि भक्षित कुष्ठी की चिकित्सा करनी चाहिए। खदिर के क्वाथ के यही प्रयोग घी और मधु से लेने पर तथा साथ ही पक्षियों के मांस का आहार करने पर आयु बहुत अधिक हो जाती है। पचास दिन तक नस्य के द्वारा इसी तैल का उपयोग करने से मनुष्य कान्तिमान् हो जाता है तथा उसकी धारणा शक्ति एवं स्मरण शक्ति और आयु विशेष रूप से बढ़ती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तुवरक की मज्जा का मात्रा में पान करने से शोधन होता है। यह महावीर्यशाली द्रव्य तुवरक विशेषरूप से कुष्ठ और प्रमेह को नष्ट करता है।

तुवरक की मज्जा का अन्तर्धूम भस्मकर मसी बना, उसमें तिलतैल, सैन्धव और सुरमा मिलाकर नेत्रों में लगाने से विभिन्न नेत्ररोगों में लाभकारी है।

कुष्ठिनां भल्लातकाभया त्रिडङ्गसिद्धं वा सर्वेषां तुवरकतैलं भल्लातकतैलं वेति। (सु० चि० अ० ९-७ कुष्ठ चि०)

सम्पूर्ण प्रकार के कुष्ठरोगियों को तुवरक या भल्लातक तैल सेवन कराना चाहिए।

अत ऊर्ध्वं यथाप्रयोजनं यथाप्रधानं च स्थावरस्नेहानुपदेक्ष्यामः।
तुवरककपित्थ-कम्पिल्लक-भल्लातक-पटोल-स्नेहा महाव्याधिषु।

तुवरक, कपित्थ आदि के स्नेह का महाव्याधियों (मेह, कुष्ठ आदि) में प्रयोग करना चाहिए। (सु० चि० अ० ३१ सू० ५ स्नेहोपयौगिक अध्याय)

छित्वा समं वाऽप्युपपद्ममालां सम्यग्गृहीत्वा वडिशैस्त्रिभिस्तु।
पथ्याफलेन प्रतिसारयेत्तु घृष्टेन वा तौवरकेण सम्यक्॥
(सु० उ० अ० १६ सू० ८ पद्मकोपप्रतिषेधीय)

तीन वडिशयन्त्रों द्वारा भलीभांति पकड़ कर उपपद्ममाला को काट देने के अनन्तर पथ्याफल या तुवरक के फल को जल से घिसकर प्रतिसारण करना चाहिए।

रसायनप्रयोगेण तुवरास्थीनि शीलयेत्।
भल्लातकं वाकुचिकां वह्निमूलं शिलाह्वयम्—(वाग्भट चि० १९)

रसायन विधि से तुवरक के बीजों का प्रयोग कुष्ठ में करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विस्तृत सुश्रुतोक्त प्रयोग भी वाग्भट में ज्यों का त्यों उत्तर तन्त्र अध्याय ३९ में पाया जाता है।

आधुनिक प्रयोग—प्रारम्भ में आधुनिक चिकित्सकों ने जिस प्रकार इसका प्रयोग किया उसमें मुखमार्ग द्वारा इन तैलों के अधिक मात्रा में अधिक काल तक के दिये जाने से आमाशय की स्थिति विगड़ती थी अतएव उन्होंने अपनी पद्धति में सुधार किए और अब हिडनोकार्पिक और चालमूगरिक अम्लों के एथाइल ईस्टर्स का प्रयोग अधस्त्वचीय या पेश्यन्तरिक मार्ग द्वारा किया जाता है। इनके अम्लों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

के सोडियम लवण तथा ईस्टर्स कम क्षोभक होने के कारण प्रायः उपयोग में आते हैं। शास्त्रज्ञ मूर इसके ई० सी० सी० ओ० (E. C. C. O.) मिश्रण को अन्तर्पेशीय मार्ग द्वारा विशेष लाभकारी, सरल और पीड़ारहित बतलाते हैं। इसमें हिडनोकार्पस तैल के वसाम्लों के इथाइल ईस्टर्स १ मि० लि०, क्रियोज़ोट (२ बार परिस्नुत) १ मि० लि०, कर्पूर १ ग्राम, तथा जैतून का तैल २०५ मि० लि० होता है। इस मिश्रण का ०.२५ मि० लि० सप्ताह में २ बार दिया जाता है। क्रमशः ०.२५ मि० लि० की मात्रा प्रतिसूचिकाभरण में बढ़ाते हुए इसे २ से ५ मि० लि० तक बढाते हैं। यह अभिवृद्धि जब तक कोई स्थानिक अथवा ज्वरादि की सार्वदैहिक प्रतिक्रिया न हो तब तक करते रहते हैं। इस चिकित्सा से कुष्ठिकायें (कुष्ठग्रन्थियां) मुलायम हो जाती हैं। तदन्तर इनमें वियोजन (Disintegration) प्रारम्भ होकर ये धीरे धीरे विलीन हो जाती हैं। यदि रोग अधिक पुराना न हो तो ६ मास की चिकित्सा से कुष्ठ के लक्षण समाप्त हो जाते हैं। यहाँ यह अवश्य स्मरण रखने योग्य है कि यद्यपि नवीन पद्धतिद्वारा इस औषधिका प्रयोग सुविधाजनक हो गया है, तथापि अनेक शास्त्रज्ञ इस विषय में एक मत हैं, कि तैल का मौखिक प्रयोग विशेषरूप से लाभकारी होता है। यदि सम्भव हो तो प्राचीन भारतीय पद्धति का भी प्रयोग करना अधिक उत्तम है।

प्रयोगपद्धति—आजकल इसका मौखिक प्रयोग नहीं किया जाता। कुष्ठ के दागों में औषधि का प्रयोग अन्तस्त्वचीय (Intradermal) तथा अधस्त्वचीय मार्ग से करते हैं। अन्तस्त्वचीय पद्धति के अधिक प्रभावशाली होने पर भी इसमें एक दोष है कि कोथोत्पत्ति (Sloughing) की सम्भावना अधिक होती है। चकत्तों (Anæsthetic patches) में सूचिकाभरण करने के लिए सूचिका को चकत्ते के एक स्थलपर प्रविष्टकर किंचित् औषधि का निक्षेप कर सूचिका को पुनः पुनः इतस्ततः विभिन्न दिशाओं में प्रविष्ट कर थोड़ी-थोड़ी औषधि का निक्षेप करें। विकृत अंग की मुख्य नाड़ी (यथा ऊर्ध्वशाखा में बहिःप्रकोष्ठिका एवं अन्तःप्रकोष्ठिका नाड़ियाँ Radial and Ulnar nerves तथा अधोशाखा में पुरोजंकिका साधारणी आदि के मार्ग पर भी अधस्त्वचीय

1. It Consists of ethyl esters of fatty acids of hydnocarpus oil 1 mil., Creosote (Double distilled) 1 mil., Camphor 1 grm. & olive oil 2.5 mil.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सूचिकाभरण किया जाता है। जब अधिक मात्रा में औषधिका पेश्यन्तरिक सूचिकाभरण करना हो तो यह क्रिया नितम्बपिण्डिका पेशियों (Gluteal muscles) में करनी चाहिए।

N.O. Flacourtiaceæ

(प्राचीनामलक कुल)

नाम—(सं०) प्राचीनामलक, पानीयामलक, वारिबदरम्, प्राचीनारञ्जम्, रक्तकम्, प्राचीनागरम् ; (हिं०) पनियाला, पचनाला, पानीआँवला; (बं०) पनीयाला; (बाम्बे) पानआवला, जैगाम या जैग्गम (Gaggam); (मरा०) पानाम्बले (Panambale) टांबट (Tambat); (तै० तासि०, कै०, मल०) तालीसपत्रम् (Talishpatram); (अरबी) ज़रनाल (Zarnal); (अं०) Manyspiked flacourtia; (ले०) फ्लेकोर्शिया केटाफ्रेक्टा (Flacourtia cataphracta).

विशेष विवरण—आनूप देशों में होने के कारण इसका नाम पानीयामलक कहा गया है। इसके पत्तों को कहीं कहीं तालीसपत्र के स्थान पर लेते हैं—जो भ्रमपूर्ण है। सुश्रुत सूत्र स्थान ४६ वें अध्याय में फलवर्ग में तथा चरक के सूत्रस्थान में सत्ताइसवें अध्याय में इसका फलों में वर्णन आया है। डल्हण ने, टीका करते हुए इसे 'प्राचीनामलकं प्राग्देशोद्भवं 'पानीयामलकं' इति लोके' इन शब्दों में वर्णन किया है।

उत्पत्तिस्थान—यह नैपाल, आसाम, बंगाल, चटगाँव, कोंकण तथा अन्य समुद्र के किनारे के जंगलों तथा विहार आदि आनूपदेशों में अधिक मिलता है। हिमालय की तराई के जंगलों तथा विन्ध्यके ठण्ढे स्थानों में भी मिलता है। लगाए हुए वृक्ष अन्य स्थानों में भी मिलते हैं।

परिचय—इसके छोटे वृक्ष होते हैं, जो कि प्रायः सीधे पाये जाते हैं। वृक्ष के काण्ड एवं शाखाओं पर लम्बे कांटे होते हैं। यह कांटे बहुविभक्त या सशाख होते हैं। इसी हेतु इसे अंगरेजी में (Many-spiked flacourtia) बहुत से कांटों वाला फ्लैकोर्शिआ कहते हैं। पत्र ३-५ इंच लम्बे आयताकार या आयताकार एवं भालाकार, लम्बाग्रवाले होते हैं। धार पर गोलदन्त होते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फल की आकृति बड़े बेर सदृश होती है—यह गोल तथा व्यास में ८"-१०" के होते हैं। इनका स्वाद खट्टा होता है तथा पकने पर गहरे बैंगनी रंग के होते हैं। फलों में ५-६ बीज निकलते हैं।

शास्त्रों में इसके फलों का निर्देश किया गया है। किन्तु फल के अतिरिक्त इसकी पत्तियों एवं छाल तथा शाखाओं का भी प्रयोग किया जाता है।

गुण-कर्म

प्राचीनामलकं चैव दोषघ्नं गरहारि च ॥ चरक सू० अ० २७ ॥

प्राचीनामलक त्रिदोषघ्न तथा गरदोषनाशक होता है। इसीका समर्थन सुश्रुत-कार ने भी किया है—

गरदोषहरं नीपं प्राचीनामलकं तथा। सु० सू० अ० ४६ ॥

प्राचीनामलक गर तथा त्रिदोषहर है।

फल के गुण

प्राचीनामलकं दोषत्रयज्वरविनाशकृत्।
अम्लं स्निग्धञ्च रुच्यञ्च गरदोषापहं गुरु ॥
पक्वन्तस्यमतं तज्ज्ञैः फलं मलविशुद्धिकृत।
मुखशुद्धिकरं स्वादु पीलुवद्गुणकारकम् ॥ (स्व०) ॥

प्राचीनामलक फल त्रिदोषनाशक, ज्वरहर, अम्ल, स्निग्ध, रुचिकारक, गरदोषनाशक, गुरु होता है। इसके पके फल को मुखशुद्धिकर, स्वादु, मलशोधक एवं पीलुफलवत् गुणकारक बतलाया गया है।

राजनिघण्टुकार ने पक्वफल को—

'तत्पक्वं पित्तकफकृद् दुर्जरं गुरु वातजित्।'

अर्थात् पक्व प्राचीनामलक फल पित्तकफकारक, दुर्जर, गुरु और वातनाशक होता है—ऐसा निर्देश किया है। आधुनिकों ने इसके अन्य अवयवों के गुणों को निम्न प्रकार वर्णन किया हैं—

संग्राहिणी परोक्तात्वक् प्राचीनामलकोद्भवा।
पाचनानि तथोक्तानि शाखाग्रं पल्लवानि च ॥
तानि शुष्काणि बल्यानि कफनिस्सारकाणि च।
दीपनानि च ग्राहीणि पाचनानि विशेषतः ॥ (स्व०)।

प्राचीनामलक की त्वचा परम संग्राहिणी होती है। इसकी शाखाओं के अग्र-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भाग एवं पत्र पाचन होते हैं । शुष्क पत्र बल्य, कफनिस्सारक, दीपन, पाचन और ग्राही होते हैं ।

आमयिक प्रयोग

कासश्वासज्वराजीर्णे बालदन्तोद्गमोद्भवे ।
अतिसारेऽरुचौ जीर्णे विषदोषेऽपि शस्यते ॥ (स्व०)

बालकों के दन्तोद्गम के अवसर पर होने वाले श्वास, कास, ज्वर अजीर्णादि में तथा अतिसार, अरुचि, जीर्ण विषदोष में पानीयामलक का प्रयोग किया जाता है ।

इसके शुष्क पत्रों का प्रयोग श्वास, कास, यक्ष्मा तथा मूत्राशय प्रसेक (Catarrh of bladder) में करते हैं । इस कार्य के लिए इसका प्रयोग वासक स्वरस के साथ या वासकपत्र-चूर्ण के साथ किया जाता है । पत्रस्वरस या कोमल शाखाग्र-स्वरस ५-१० बूंद की मात्रा में बालकों के ज्वर में मातृदुग्ध के साथ देना चाहिए । इसका प्रयोग ज्वर के अतिरिक्त श्वाससंस्थान के रोग, कास आदि, अतिसार-प्रवाहिका, अजीर्ण आदि दशाओं में भी करना उपयोगी होता है । विशेषरूप से जब यह कष्ट दांत निकलने के समय होते हैं, तो इसका उपयोग लाभकारी होता है । छाल का प्रयोग स्वरभंग में किया जाता है । इस दशा में इसके क्वाथ से कुल्ले कराये जाते हैं । फल पित्तशामक होते हैं । इनके प्रयोग से हृल्लास दूर होता है और अतिसार शान्त होता है । वंग देश में प्रसूता के लिए इसका प्रयोग बल्य के रूप में भी किया जाता है । अरुचिनाश तथा अतिसार के लिए इसके फलों का प्रयोग किया जाता है । यकृज्जन्य विकारों में भी इसका प्रयोग करते हैं । इसके बीजों से तैल निकालते हैं, जिसका सामान्य तैलवत् व्यवहार होता है ।

मात्रा—शुष्कपत्रचूर्ण—३ माशा । स्वरस—६ मा० से एक तोला ।

विकंकत

नाम—(सं०) विकंकत, स्रुवावृक्ष, ग्रन्थिल, स्वादुकण्टक, यज्ञवृक्ष, कण्टकी, व्याघ्रपाद, मृदुफल, गोपघोण्टा, किङ्किणी, काकपाद, बहुफल आदि; (हिं०) कंटाई,

---

१. विकङ्कतो मृदुफली ग्रन्थिलः स्वादुकण्टकः ।
गोपघोटः काकपादो व्याघ्रपादोऽथ किंकिणी ॥ (इति ध० नि०)
विकङ्कतो व्याघ्रपादो ग्रन्थिलः स्वादुकण्टकः । कण्टपादो बहुफलो गोपघोण्टा सुरद्रुमः ।
मृदुफलो दन्तकाष्ठो यज्ञियो ब्रह्मपादपः । पिण्डरोहिणिकः पूतः किंकिणी च त्रिपञ्चधा ॥
(रा० नि०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटीवंज, किंकिणी, वंज; (वं०) विंच, वैंच (Bainch); (उड़िया) वंइचाकांटा-धवरा (कोलसंथाल), मेरले (गोंड), कैटीर Katier; (तै०) कानरेगु (Kanregu); (कना०) जाफान (Japhran); (गु०) विकलोन, (बा०) स्वादु, (सी० पी० तथा म०) काकुन या कैकुन या काका (Kaikun or Kaka), पाहड़ भेकल काकद Pahr bhekal kakad; (अं०) Mauritius Plum; (ले०) फ्लैकोर्शिआ रेमोंचाई Flacourtia ramontchi).

विशेष विवरण—इस द्रव्य का वैज्ञानिक नाम कुछ विद्वानों ने Selastrus montana लिखा है—वह शुद्ध प्रतीत नहीं होता है। विभिन्न शास्त्रों में स्रुवा आदि यज्ञपात्र निर्माण करने के लिए विकंकत की लकड़ी के व्यवहार करने का निर्देश है। अतएव 'स्रुवावृक्ष' 'यज्ञिय' आदि नामविशेष महत्वपूर्ण एवं अन्वर्थ हैं। प्राचीनकाल में यज्ञपात्रों के लिए इसका काष्ठ उपयुक्त होता था। अनेक स्थलों में 'वैकङ्कतम् स्रुवम्' ऐसा पाठ भी इसी हेतु प्राप्त होता है। शेष नाम कण्टकी (कण्टकयुक्त होने से) तथा मृदुफल (मुलायम फल होने से), किंकिणी (छोटी आकृति के घुंघुरूवत् फल होने से), सम्भवतः प्रसिद्ध हुए हैं।

उत्पत्ति-स्थान—यह उत्तरी भारत में पंजाब से विहार तक लगभग ४००० फीट की ऊँचाई के नीचे के क्षेत्रों में प्राप्त होता है। दक्षिण के जंगलों, लंका तथा मध्यप्रदेश आदि में भी सर्वत्र वनों में इसके वृक्ष मिलते हैं।

परिचय—इसके कंटकमय छोटे-छोटे वृक्ष जंगलों में पाये जाते हैं। शाखाओं पर कांटे होते हैं-जो किंचित् स्वादमय-मधुर होते हैं—इसी लिए इसे स्वादुकण्टक कहा गया है। पत्र-जपापुष्पवत् किन्तु किञ्चित् बड़े (लम्बाई में ४ इंच से कम), गोल, आधार की ओर से लट्वाकार तथा धार पर कटे हुए या दन्तुर होते हैं। पुष्प पीताभहरित होते हैं। फल-छोटे, गोल व्यास में लगभग ½ इंच या कुछ अधिक तथा पकने पर गहरे भूरे या लाल रंग के होते हैं। फल के गूदे में २-३ बीज होते हैं। फल-स्वाद में कुछ-कुछ खट्टे होते हैं; परन्तु पकने पर मधुर हो जाते हैं। इन्हें खाया जाता है। वैज्ञानिकों ने इसे परम परिवर्त्तनशील वनस्पति माना है। इसकी कई जातियाँ भी होती हैं। औषधार्थ इसके वृक्ष की छाल एवं फलों का व्यवहार होता है। कहीं कहीं गोंद का भी व्यवहार होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुणकर्म

गोपघोण्टा रसे तिक्ता शीतला शोफनाशिनी ।
हन्ति श्लेष्माणमत्युग्रमुद्रक्तं हन्ति योगतः ॥ (ध. नि.)
विकङ्कतोऽम्लो मधुरः पाकेऽतिमधुरो लघुः ।
दीपनः कामलाऽस्रघ्नः पाचनः पित्तनाशनः । (रा० नि.)

गोपघोंटा—रस में तिक्त, शीतल, शोफनाशक, उग्र श्लेष्म दोषनाशक तथा दूषित रक्त शामक होती है । विकङ्कत रस में अम्ल, मधुर, पाक में अतिमधुर, लघु, दीपन तथा कामला, रक्तदोषनाशक, पाचन और पित्तनाशक है ।

भावप्रकाशकार[1] ने पक्व विकंकत फल को मधुर, सर्वदोषनाशक बतलाया है ।

कैयदेवकार ने—

स्रुवद्रुर्मधुरस्तिक्तः कषायः शीतलो जयेत् ।
वलासपितशोथास्रं.............. ॥ (कै० निघण्टु औषधि खण्ड)

स्रुवद्रुम (विकंकत)—रस में मधुर, तिक्त, कषाय, शीतल, कफ, पित्त, शोफ और रक्तदोषनाशक होता है ।

.....................फलं पाकरसोषणम् ।
तीक्ष्णं पितास्रकृत्-पक्व-स्वादुतिक्तं त्रिदोषजित् ॥ (कै० नि०औषधखण्ड)

कच्चा फल-पाक और रस में उष्ण, तीक्ष्ण, रक्तपित्तकारक तथा पक्वफल-रस में स्वादु और तिक्त तथा त्रिदोषनाशक होता है ।

उपर्युक्त शास्त्रीय विवेचन को ध्यानपूर्वक समझने के अनन्तर निश्चितरूप से पताचलता है कि धन्वन्तरि निघण्टुकार ने विकंकत वृक्ष के गुणकर्म वर्णन किए हैं । और राजनिघण्टुकार ने फल के । साथ ही भावप्रकाशकार ने केवल फलवर्ग में विकंकत के पक्वफल का निर्देश किया है । और कैयदेवकार ने वृक्ष तथा कच्चे और पक्केफल का पृथक्-पृथक् वर्णन कर दिया है । इस प्रकार से सारे वचनों की संगति बैठ जाती है। और प्रायः सभी वचनों में जो गुणकर्म पाये जाते हैं, उनका सम्यग्बोध शास्त्रवचनों द्वारा ही हो जाता है । इसके अतिरिक्त फलों को आधुनिक भी मधुर, क्षुधाकारक एवं पाचक (Appetising and digestive) स्वीकार करते हैं ।

१, विकंकतफलं पक्वं मधुरं सर्वदोषजित् । (भा० प्र० फलवर्ग)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आमयिक प्रयोग

बाह्य—इसके बीजों को हल्दी के साथ पीस कर आमवात और अन्य प्रकार के वातव्याधियों से बचाने के हेतु तथा वातावरण की शीत एवं दुष्ट वायु के प्रभाव सेबचाने के हेतु प्रसूता स्त्रियों के सम्पूर्ण शरीर पर मालिश की जाती है।

आन्तरिक प्रयोग—विषैले जन्तुओं के काटने पर इसे विष नष्ट करने के लिए खिलाते हैं। इसकी गोली बनाकर कामला में प्रयुक्त की जाती है। पित्तप्रकोप में इसे पर्पट की भांति प्रयुक्त किया जाता है।

N. O. Polygālaceae (सेनेगा कुल)

लीलकाठी

नाम—(संथाल) लीलकाठी; (गु०) रातीभोंयसण; (म० प्र०) विजनौरी; (ले०) पॉलीगेला क्रोटेलेरिओयडीज Polygala crotalarioides.

विशेषविवरण—विदेशी ओषधि सेनेगा (Senega) इसी कुल के पॉलीगॅला सेनेगा (Polygala senega) नामक ओषधि की मूल होती है। इसमें २ मधुमेयसत्त्वजातीय फेनिल तत्व (Glycosidal saponins)—(१) सेनेजिन (Senegin) तथा (२) पालीगेलिक एसिड (Polygalic acid) पाये जाते हैं। इस द्रव्य के चूर्ण (पाउडर), एक्स्ट्रॅक्ट (Extract)—मात्रा ५ से १५ बूंद, टिंक्चर या सुरासारघटित निष्कर्ष—मात्रा–२० से ६० बूंद–फाण्ट (इन्फ्युजन) मात्रा–३० से ६० बूंद–आदि का व्यवहार प्रायः ओषध्यर्थ किया जाता है। इस द्रव्य की क्रिया मुख्यतः इसमें पाये जानेवाले सेनेजिन (Senegin) नामक सेपोटॉक्सिन (Sepotoxin) तत्त्व पर आश्रित होती है। यह सेपोनिन्स जल से मिश्रित होने पर इमल्सन बनाती है। साधारणतः ग्लाइकोसाइडलस्वभाव (Glycosidal nature) के श्लेषाभीय (Colloidal) द्रव्यों का प्रवाही-मिश्रण (Mixture) बनाने में इनका योग किया जाता है। इनका योग ऐसे द्रव्यों के साथ विशेष रूप से होता है, जो अधस्त्वचीय प्रयोग से स्थानिक क्षोभक प्रभाव (Local irritation) करते हैं। पाचक संस्थान के स्वस्थ आवरक धातु (Epithelium) के द्वारा इनका शोषण नहीं होता तथा पाचक रसों एवं किण्वों (Ferments) के साथ मिलने पर निष्क्रिय यौगिकों (Inert

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

compounds) में परिवर्तित हो जाते हैं सीधे रक्त में प्रविष्ट किए जाने पर यह आक्षेप (Convulsions) तथा श्वसन-भेद (Respiratory failure) उत्पन्न करते हैं, जिससे मृत्यु हो सकती है। मुख द्वारा थोड़ी मात्रा में प्रयुक्त होने पर आमाशयान्त्र मार्ग (Gastro-intestinal tract) में प्रदाह होकर प्रवाहिका-सम लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रक्त के लालकणों पर यह घातक प्रभाव करते हैं और रक्तरस में शोणवर्तुलि (Haemoglobin) को स्वतन्त्र करते हैं। इनमें कोलेस्ट्रिन (Cholestrin) नामक द्रव्य के साथ मिश्रित होने की युयुक्षा (Affinity) पाई जाती है। इनकी उपर्युक्त क्रिया उसी के कारण होती है। कोलेस्ट्रिन के साथ मिश्रित होने पर यह अपनी रक्तनाशक क्रिया को छोड़ देते हैं। सेनेगा का आघ्राणन करने से छींके तथा खांसी (Sneezing &cough) आने लगती है। मुख मार्ग द्वारा प्रयुक्त होने पर यह कफ-निस्सारक प्रभाव करते हैं। इसका निस्सरण श्वासमार्ग द्वारा होता है और निस्सरण क्रिया में श्वासप्रणालिक-स्राव को बढ़ाते हैं।

मुख्य प्रयोग—कफनिस्सारक होने के कारण तीव्र एवं चिरकालीन कास (Acute and chronic bronchitis) तथा न्युमोनिया की उपशमावस्था (Stage of resolution) में इसका प्रयोग किया जाता है। श्वासनलिका-विस्फार (Bronchiectasis) में भी इसका उपयोग होता है। इसे अमोनिया-बाई-कार्बोनेट के साथ देने से अधिक लाभ होता है। सेनेगा की अत्यल्प मात्रा (½ छटांक में ३ बूंद) से वसा तथा तैलों का इमल्सन बन जाता है। इसके इस गुण के कारण इसका उपयोग एरण्ड तैल का इमल्सन बनाने के लिए किया जाता है। एतदर्थ इसी प्रकार का एक और विदेशी द्रव्य जिसे Quillaia (क्विलाया) कहते हैं, व्यवहृत होता है। यह क्विलाजा सेपोनेरिया (Quillaja saponaria) नामक ओषधि के छाल का भीतर का अंश होता है! इसमें भी उपर्युक्त द्रव्य की भांति सेपोनिन (Saponin) पाया जाता है। इसके भी चूर्ण तथा एक्स्ट्रैक्ट का व्यवहार करते हैं। यह परम क्षोभक होता है। इसको सूंघते ही छींके आने लगती हैं तथा खांसी उत्पन्न हो जाती है। इस गुण के कारण छिक्काजनक (Sternutatory) के रूप में भी इसका प्रयोग होता है। इस द्रव्य में सेनेगा की अपेक्षा ५ गुना अधिक सेनेजिन पाया जाता है। फलतः यह उसकी अपेक्षा अधिक कफ-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निस्सारक भी है। इसका प्रयोग बहुत कम किया जाता है। इसको रेजिन (Rosins) तथा तैलों के इमल्सन बनाने में व्यवहृत करते हैं।

लीलकाठी में भी सेनेजिन नामक घटक पाया जाता है, अतएव यह द्रव्य विलायती सेनेगा अथवा सेनेजिन प्रधान द्रव्यों के स्थान में व्यवहृत हो सकता है। इसका संग्रह एवं वर्णन यहां इसी हेतु किया गया है।

प्राप्तिस्थान—हिमालय के निम्न प्रदेशों यथा शिमला, चम्बा, सिकिम, खसिया आदि में इसका क्षुप पाया जाता है। इसके अतिरिक्त विहार आदि में भी मिलता है

परिचय—इस क्षुद्र स्वावलम्बी वनस्पति के वहुवर्षायु लोमयुक्त क्षुप होते हैं। इसका मूलस्तम्भ लम्बा और अधोगामी होता है। पत्र तथा पुष्प शण के क्षुप के समान दीखते हैं। पत्र अभिलट्वाकार या अभिमालाकार रोमयुक गोल या कुण्ठिताग्र युक्त १-२३ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्पश्वेत तथा अग्र पर गुलावी होते हैं। इसके मूल तथा पञ्चाङ्ग का व्यवहार ही विशेषतः होता है।

सक्रियतत्त्व—इसमें सैपोनिन्स (Saponins) पाये जाते हैं।

गुणकर्म—इस द्रव्य का मुख्य गुण कफनिस्सारक होता है। सैपोनिन सत्त्व होने के कारण यह गुण इस द्रव्य में पाया जाता है। इसके मूल के खाने से जीभ और गले में एक विशेष प्रकार की सनसनाहट होती है।

कफनिस्सारिणी योज्या सेनेगीयसमाबुधैः।
लीलकाठी कफव्याधौ दौर्बल्येऽहिविषे तथा॥ (स्व०)

लीलकाठी का प्रयोग कफनिस्सारक होने के कारण कफज व्याधियों में किया जाता है। इसके अतिरिक्त इसे दौर्वल्य तथा सर्पदंश में भी प्रयोग करते हैं।

आमयिक प्रयोग

इसके प्रयोग का प्रचलन विशेषतः जंगली लोगों में पाया जाता है। इसके स्थानिक लोगों द्वारा किए जाने वाले व्यवहारों का निर्देश पूज्य गुरुवर श्री बलवन्त सिंह जी ने किया है।

अन्यमूलों के साथ चावल की शराब बनाने में इसके मूलस्तम्भ लिए जाते हैं। इन मूलों को अन्य द्रव्यों के साथ कास में भी देते हैं। पाचक योगों में भी इसे व्यवहृत करते हैं। सर्पदंशमें इसे खिलाया या लेप किया जाता है। चिरकालीन व्याधियों के अनन्तर दौर्बल्य-निवारण के लिए भी इसका व्यवहार करते हैं। इसके

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पञ्चाङ्ग का क्वाथ कफ ज्वर में देते हैं। इससे कफ पतला हो कर निकल जाता है।

इसका व्यवहार सेनेगा के स्थान पर किया जा सकता है।

N. O. Caryophylleae (साबुनीकुल)

साबुनी

नाम—(हिं०) मुस्त सावुनी, (संथाल) मुस्त, (बं०) साबुनी, (अ०) एल्साबुनिएह Elsabunieh, (अं०) परफोलिएट सोपनट Perfoliate soap-nut, (ले०) सैपोनेरिया वैक्सेरिया Seponaria vaccaria, या जिप्सोफिला वेक्सेरिया Gypsophila vaccaria.

उत्पत्तिस्थान—यह क्षुप सारे भारत में पाया जाता है। मानभूमि आदि में इसकी कृषि भी की जाती है।

परिचय—यह क्षुप १–३ फीट ऊंचा होता है। पत्र सम्मुख, भालाकार अथवा रेखाकार–आयताकार या लम्बगोल, काण्डसंसक्त और चिकने तथा १"–३" लम्बे ½" चौड़े होते हैं। पुष्प पाटल या गुलाबी रंग के सवृन्त और २–३ विभक्त मञ्जरियों में, बाह्यकोश संयुक्त, नलाकार और उसके दल कूबड़दार, आभ्यन्तरदल अभिलट्वाकार और दलगण्ड (Claw) युक्त होते हैं। मूल लम्बी एवं गोल तथा रक्तवर्ण होती है। इसका स्वाद कटु होता है। औषधार्थ इसके मूल का व्यवहार होता है। इसके मूल का व्यवहार कपड़ा धोने के लिए भी किया जाता है।

पूज्य प्रो० वलवन्त सिंहजी ने विहार में इसे प्रान्त के उत्तरी भाग के खेतों में जाड़ों की फसल के साथ होती है—ऐसा वर्णन किया है।

सक्रियतत्त्व—इसकी मूल में सैपोनिन (Saponin) नामक तत्त्व कणरूप (In crystals) में मिलता है। इस द्रव्य की क्रिया इसी उपादान पर निर्भर करती है। इसके पत्रों को मसलने पर भी सावुन जैसा प्रतीत होता है।

विशेष विवरण—सेपोनिन Saponin (सावुनिन या फेलिन)–ये भूयाति रहित (Non-nitrogenous) तत्व होते हैं तथा प्रायः ग्लाइकोसाइड्स होते हैं, जो तैल के साथ दुग्धियाघोल (Emulsion) वनाते हैं। जलांश न होने पर ये भी एक शर्कराघटक तथा एक अन्य दूसरे प्रकार के घटक में विच्छिन्न हो जाते हैं, जिसको फेनिजनि (सैपोजेनिन Sapogenin) कहते हैं। इसकी प्रतिक्रिया (Reaction) क्लीब होती है, तथा जल का संयोग होने पर यह फेनाय-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मान होते या झाग (Froth) बनाते हैं। इनमें जो विषवत् होते हैं, उनको सेपोटॉक्सिन (Sapotoxin) कहते हैं। सेपोनिन बूलीगाली (Senega) तथा किल्लाई सेपोनेरिया नामक वनस्पतियों में पाया जाता है। व्यवहारार्थ ओषधियोजन (डिस्पेंसिंग) के लिए इन द्रव्यों के टिंक्चर का प्रयोग हो सकता है। चूंकि इन ओषधियों का अपना विशेष गुण-कर्म तथा आमयिक प्रयोग होता है; अतएव आभ्यन्तरिक प्रयोग के लिए जब तक योग-लेखक का विशेष निर्देश न हो, तबतक इनका सदैव प्रयोग नहीं करना चाहिए। (श्री रामसुशीलसिंह—पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञान)।

गुणकर्म—इसके गुण धर्म इसमें पाये जाने वाले सैपोनिन तत्त्व पर निर्भर करते हैं। इसी के कारण इसका मूल-उत्तेजक, मलशोधक, मूत्रल, रसायन, तथा छिक्काजनक होता है। अतिमात्रा में इसका प्रयोग हानिकारक होता है।

सांस्थानिक प्रभाव। नाडीसंस्थान—सांवेदनिक एवं सञ्चालक नाड़ियों पर क्रिया हो कर इसके द्वारा शिरोविरेचन होता है। श्रवण-शक्ति कम होती है।

श्वास संस्थान एवं रक्तवाहक संस्थान पर भी इसकी क्रिया होती है। श्वासनलिकाओं में स्राव बढ़ता है।

मूत्र संस्थान में मूत्र की मात्रा बढ़ती है। पाचकसंस्थान में मल शुद्ध होता है। गर्भाशय पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका उपयोग तैल का इमल्सन बनाने में होता है।

आमयिक प्रयोग—इसके क्वाथ का प्रयोग श्वास, कास आदि कफ रोगों तथा न्यूमोनियाँ आदि में करते हैं। यकृत् के रोगों में इसका व्यवहार किया जाता है। कामला तथा फिरंग रोग में भी इसका व्यवहार किया जाता है। पुराने त्वग्रोगों तथा वातरक्त में भी इसे व्यवहृत करते हैं। इसके लिए इसके क्वाथ का प्रयोग १।-२॥ तो० की मात्रा में करना चाहिए। त्वग्रोगों में इसका लेप भी करते हैं।

पर्पट प्रतिनिधि

नाम—(सं०) पर्पटः; (हिं०) पित्तपापड़ा; (म० ता०) निलैसेदचि; (गु०) क्षीणपाननो, ओखराड़; (लें०) Polycarpaea corrymbosa. पालीकार्पिआ कोरिम्बोसा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विशेष विवरण—यह क्षुप पर्पट या पित्तपापड़ा के स्थान पर यत्र कुत्रचित् व्यवहृत होता है। (देखिए पर्पट पृ० १०९)

उत्पत्तिस्थान—यह सम्पूर्ण भारत, बर्मा तथा लङ्का में पाया जाता है। शरद् ऋतु में बाजरे के खेतों में उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में तथा बिहार में छोटा नागपुर की बलुई भूमि में अधिक मिलता है।

परिचय—इसका ½ से १ फुट ऊंचा क्षुप होता है। इसमें शाखायें अधिक पाई जाती हैं और अतीव कृश एवं मृदु रोमश तथा सीधी होती हैं। पत्र रेखाकार एवं अभिमुख होते हैं। शीर्षस्थ मञ्जरियां द्विविभक्त एवं श्वेत होती हैं। पुष्प आकार में अतीव लघु होते हैं। पर्णक्रम कभी चक्रित-सा प्रतीत होता है। बाह्य भूरे फल पक जाने पर श्वेत हो जाते हैं। आभ्यन्तर दल सूक्ष्म एवं रक्तवर्ण के होते हैं। इसका पञ्चाङ्ग व्यवहृत होता है।

सक्रियतत्त्व—इसमें वर्गधर्मानुसार सैपोनिन पाया जाता है।

गुणकर्म—पित्तनाशक एवं विषनाशक होता है।

आमयिक प्रयोग

बाह्य—विषैले कीड़े एवं जन्तुओं के काटने पर इसका लेप किया जाता है। छोटे २ फोड़ों तथा व्रण शोथों पर इसकी पुल्टिस लगाई जाती है।

आन्तरिक प्रयोग—विषैले जन्तुओं के काटने पर इसे विष नष्ट करने के लिए खिलाते हैं। इसकी गोली बनाकर कामला में प्रयुक्त की जाती है। पित्तप्रकोप में इसे पर्पट की भांति प्रयुक्त किया जाता है।

वसुक कुल या वर्षाभूकुल

(N. O. Ficoideae (Aizoaceae or sesusviaceae)

नाम—(सं०) वसुक, वसु,; शैव, वस, शिवमल्लिका, पाशुपत, शिवमत, सुरेष्ट, शिवशेखर, वर्षाभू ; (हिं०) विसखपरा, खाप्रा, साबुनी, लालसाबुनी, नासुरजंघी Nasur ganghi, पथरचटा, पथरी; (कोल) केचोआ; (गु०) साचोड़ी; (बं०) सबुनी, साबुनी लाल, लवेटसाबुनी Lovet'sabuni, गदकुन्या gadacunya; (क०) बिलेगणजलि, सुचुगानी Muchugoni; (तु०) पाषाणभेदि; (मला०) शारुन्ने Sharunnay, चरण; (सिं०) नर्मांफसरलानि;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(पं०) विशकाप्रा; (वाम्बे) विशकाप्रा; (ता०) शर्वाले Sharvalay, (ले०) ट्राइएन्थिमा मोनोगाइना Trianthema monogyna.

भेद—१-(सं०) रक्तवसुक; (बं०) गदकनि; (ता०) वल्लैशरुन्नै; (ता०) तेल्लघीलजेरु; (कना०) जैज सोप्पु; (ले०) ट्राएन्थेमाडेकेन्ड्रा Trianthema decandra.

२—(हिं०) विसखपरा; (ले०) ट्राएन्थेमा पेण्ट्रेण्ड्रा Trianthema Pentendra.

विशेष विवरण—यह वनस्पति प्रायः वर्षाकाल में यत्र तत्र उत्पन्न हो जाती है। राजनिघण्टुकार ने इसी कारण इसे वर्षाभू नाम से वर्णन किया है। इसकी अन्य जाति को उन्होंने वसुक भी कहा है। वसुक की वे दो जातियाँ-रक्त और श्वेत-भी मानते हैं। वर्षाभू और बसु इन दोनों द्रव्यों के गुण निघण्टुओं में समान ही लिखे गए हैं। प्रसिद्ध पुनर्नवा नामक द्रव्य से इन दोनों द्रव्यों का वर्णन पृथक् भी किया गया है। प्राचीन संहिताओं में भी वसुक का स्वतंत्र वर्णन पुनर्नवा के अतिरिक्त प्राप्त होता है। इतना अवश्य है—कि पुनर्नवा के नामों का जहाँ उल्लेख किया है वहां पर वसुक व वर्षाभू शब्द भी किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध से कर दिए गए हैं। धन्वन्तरि व राजनिघण्टु में पुनर्नवा का प्रकरण निम्न प्रकार है। यहां पर वर्षाभू, क्षुद्रवर्षाभू और महावर्षाभू आदि शब्द व्यवहृत हैं।

वसुक और वर्षाभू इस प्रकार वर्णित हैं—

वसुक—वसुकोऽथ वसुः शैवो वसोऽथ शिवमल्लिका। पाशुपतः शिवमतः सुरेष्टः शिवशेखरः। सितो रक्तो द्विधा प्रोक्तो ज्ञेयः स च नवाभिधः ॥

राज नि० पञ्चमवर्ग (क्षुद्रक्षुपवर्ग)

वर्षाभू—वर्षाभूवसुकौ वर्णे कफमान्द्यानिलापहौ। शाके रुक्षतरौ गुल्मप्लीहशूलापहारकौ। रा० नि० वर्ग ७ (शाक वर्ग)

पुनर्नवा—पुनर्नवा विशाखश्च कठिल्लः शशिवाटिका। वृश्चीरक्षुद्रवर्षाभूदीर्घपत्रः कठिल्लकः ॥ ध० नि० ॥

इसके गुणों में इसे इन्होंने मुख्य पुनर्नवा कहा है—

'पुनर्नवा भवेदुष्णा तिक्ता रूक्षा कफापहा।
स शोफपाण्डुहृद्रोगकासोरःक्षतशूलनुत् ॥'

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

राजनिघण्टु में—

'पुनर्नवा विशाखश्च कठिल्लः शशिवाटिका ।
पृथ्वी च सितवर्षाभू दीर्घपत्रः कठिल्लकः ॥' रा० नि० ॥

इसके गुणों में आगे राजनिघण्टुकार ने 'श्वेतापुनर्नवा सोष्णा तिक्ताकफविषापहा । कासहृद्रोगशूलास्रपाण्डुशोफानिलास्रनुत् ॥' कहा है ।

दूसरे भेद के वर्णन में क्रूरः पुनर्नवा विशेषः 'पुनर्नवोऽपरः क्रूरः सद्यो मण्डलपत्रकः । श्वेतमूली वर्षकेतुर्महावर्षाभुरुच्यते ॥' अर्थात् धन्वन्तरि निघण्टुकार ने गुण वर्णन के समय इसे ही 'रक्ता पुनर्नवा तिक्ता सारिणी शोफनाशिनी । रक्तप्रदरदोषघ्नी पाण्डुपित्तप्रमर्दिनी' कहते हैं ।

राजनिघण्टुकार—ने 'क्रूरा' के निम्न पर्याय तथा गुण लिखे हैं—

पुनर्नवान्या रक्ताख्या क्रूरा मण्डलपत्रिका ।
रक्तकाण्डा वर्षकेतुर्लोहिता रक्तपत्रिका ॥
वैशाखी रक्तवर्षाभूः शोफघ्नी रक्तपुष्पिका ।
विकस्वरा विषघ्नी च प्रावृषेण्या च शारिणी ॥

इसी भांति मूलकादि या शाक वर्ग की सूची में भी—

···जीवशाकस्तथा गौर सुवर्णाख्यः पुनर्नवा । वसुकः फञ्जिकादिश्च···।

इस सूची के बाद जहां शाकों में से एक एक का विस्तृत वर्णन किया गया है वहां वसुक और वर्षाभू साथ साथ कह दिए गए है ।

उपर्युक्त विवरण का सारांश यह है कि—

१—पुनर्नवा और वसुक पृथक् पृथक् द्रव्य हैं ।

२—वर्षाभू और वसुक शाक के गुण समान होते हैं । वर्षाभू तथा वसुक के शाक के गुणों में शोथ नाशकता का उल्लेख नहीं है ।

३—वसुक के स्वतंत्र गुणों में शोथनाशकता का उल्लेख नहीं किया गया है । पुनर्नवा के सभी भेदों के वर्णन में शोथनाशकता विशेष रूपसे वर्णित है ।

४—पुनर्नवा की श्वेत, रक्त और नील यह जातियाँ होती हैं ।

५—वसुक की दो जातियाँ होती हैं ।

६—वर्षाभू शब्द पुनर्नवा के प्रकरण में पर्याय से विभिन्न विशेषताओं सहित (महा-क्षुद्र वर्षाभू) वर्णन किया गया है ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इन सिद्धान्तों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुनर्नवा एक स्वतंत्र द्रव्य है। जिसकी कतिपय--रक्त, श्वेत, नील-जातियाँ होती हैं, जो शोथनाशक है। वर्षाभू शब्द इसका पर्याय भी है। वसुक और वर्षाभू दो अन्य द्रव्य हैं—जो समान गुण धर्म वाले हैं। इनमें वसुक की भी दो या अधिक जातियाँ हो सकती हैं यह दोनों समान गुण वाले हैं।

पुनर्नवा, वर्षाभू और वसुक बहुत कुछ समान हैं। क्योंकि इनका परिगणन पृथक् पृथक् होने के अतिरिक्त समीप-समीप या कहीं कहीं साथ भी किया गया है। बाद के मुख्य २ निघण्टुओं में भावप्रकाश के वर्णन से इस विषय पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता है। यहां 'पुनर्नवा श्वेतमूला शोथघ्नी दीर्घपत्रिका' तथा 'पुनर्नवा परा रक्ता रक्तपुष्पा शिलाटिका। शोथघ्नी क्षुद्रवर्षाभू वृषकेतु कठिल्लिका। इस प्रकार दो प्रकार के पुनर्नवा वर्णित कर दिए गये हैं। इन्होंने 'वसुक' अर्क को (आक) पर्यायवाचीरूप में उल्लिखित किया है। जिसका इस विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां पर यह स्मरण रखना चाहिए कि मन्दार या अर्क की वसुक जाति का उल्लेख राजनिघण्टु में भी आया है।

'कैयदेवकार' का भी स्वरूप प्रायः एतत्सदृश ही है। वह भी पुनर्नवा के दो भेदों—श्वेत और रक्त का निम्न शब्दों में वर्णन कर मौन हैं—'पुनर्नवा पुनर्भूः स्यात्सदा मण्डलपत्रकः। श्वेतमूलश्च वृश्चीको वर्षाभूक्षुद्रपत्रकः। शोफघ्नी जटिला सद्यो-विशेषो दीर्घपत्रकः। आगे रक्त पुनर्नवा के लिए 'अपरा क्षुद्र-वर्षाभू रक्तपुष्पा शिवाटिका कटिल्लको वर्षकेतुः क्रूरको रक्तवृन्तकः। वसुक की बात इस सम्बन्ध में यहां भी नहीं है।

यदि संहिता ग्रन्थों में चरक और सुश्रुत की ओर दृष्टिपात किया जाय तो, इस विषय का और भी स्पष्टीकरण होता है। चरककार वसुक को मूत्रविरेजनीय मानते हैं। यहां यद्यपि वसुक का अर्थ टीकाकारों ने वक पुष्प[1] किया है, किन्तु वकपुष्प से स्पष्ट नहीं होता कि यह वसुक अर्क—राजार्क या अन्य अर्कभेद है, अथवा राजनिघण्टु का स्वतन्त्र वसुक। इसके अतिरिक्त वृश्चीर और पुनर्नवा का वर्णन साथ साथ आता है और वह अनेक स्थानों पर मिलता है। पञ्चाशत कषायों में

१. वसुको वकः वकपुष्पमिति लोके।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्वेदोपग, कासहर, वयःस्थापन, अनुवासनोपग महाकषायों में इसका पाठ किया है[१]। शाकवर्ग में कठिल्लक नाम से पुनर्नवा आया है, जिसका अर्थ चक्रपाणि ने पुनर्नवा किया है। वमन-विरेचन तथा वस्ति द्रव्यों में मधुरादि गण में पुनर्नवा वर्णित है। सुश्रुत में वसुक का पाठ वरुणादि गण में आया है। टीकाकार डल्हण—इसे 'वसुको वकः बकपुष्प इति लोके' कहते हैं। यहां पर भी वही समस्या है, किन्तु डल्हण के वक लिखने से अर्क जातिके वसुक की सम्भावना बढ़ती है। वीरतर्वादि गण में भी वसुक आया है। वहां भी डल्हण ने वसुको वकः वकपुष्पः इति लोके' ऐसा कहा है।

यहां देखना यह है कि चरक वसुक को मूत्रविरेचनीय द्रव्य कहते हैं। और सुश्रुत वरुणादि गण और वीरतर्वादिगण में रखते हैं। वरुणादि गण का प्रयोग यद्यपि सुश्रुत ने स्पष्ट अश्मरी नाशक या मूत्रदोषहर नहीं लिखा है, तथापि पाठकों का इसी ग्रंथ के वरुण वर्णन से पता चलता है कि वरुण मूत्रसंस्थान की विशिष्ट औषधि है। साथ ही उस गण की ओषधियों में भी यह गुण हो जाना चाहिए। वीरतर्वादि गण के सम्बन्ध में तो निश्चित कहा ही गया है'—

वीरतर्वादिरित्येष गणो वातविकारनुत्।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रघातरुजापहः॥ (सु०)

वीरतर्वादि यह गण वातविकार नाशक तथा अश्मरी, मूत्रशर्करा, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात व्याधियों को नष्ट करता है। सुश्रुत में पुनर्नवा को विदारिगन्धादि गण में पढ़ा गया है। शाकवर्ग में भी 'पुनर्नवा × × × प्रभृतीनि। उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातप्रशमनानि च। तेषु पौनर्नवं शाकं विशेषाच्छोफनाशनम्।' कहा है। अर्थात् पुनर्नवा शाक विशेष कर शोथ नाशक है। विदारिगन्धादि को भी शोथनाशक कहा गया है। इसके अतिरिक्त वर्षाभू शाक का भी सुश्रुत ने वर्णन किया है। 'वर्षाभूः कफवातघ्नी हिताशोफोदरार्शसाम्। सु० सू० स्था० अ० ४६। यहां यह विचारने की बात है कि चरक और सुश्रुत में पुनर्नवा के साथ वृश्चीर शब्द तो साथ साथ दिखलायी पड़ता है। पर वर्षाभू या वसुक आदि का सम्पर्क प्रतीत नहीं होता। दोनों वर्षाभू और वसुक शब्द स्वतन्त्र संज्ञावान प्रतीत होते हैं। साथ ही यहां

---

१. कुछ आधुनिक शास्त्रज्ञों ने भ्रमवश ऐसा लिखा है कि पुनर्नवा का चरक के शाकवर्ग में वर्णन नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जिस वसुक का वर्णन आया है वह निश्चय मूत्रसंस्थान पर प्रभाव डालने वाली ओषधि है।

अब चरक सुश्रुत का वसुक क्या है ? यह भी सोचना पड़ेगा। राजनिघण्टुकार ने वसुक के जो गुणधर्म लिखे हैं उनका वर्णन तो ऊपर किया जा चुका ही है। अब जरा राजार्क—या वसुक—और वक्र और वसुकको देखिए:—

'राजार्को वसुकोऽत्यर्को मन्दारो गणरूपकः। एकष्ठीलः सदापुष्पी रुचालर्कः प्रतापनः। राजार्कः कटुतिक्तोष्णो वीर्यमेदोविषापहः। वातकुष्ठव्रणान् हन्ति शोफकण्डूविसर्पनुत्।' (ध० नि०)

'राजार्को वसुकोऽलर्को मन्दारो गणरूपकः। एकष्ठीलो सदापुष्पो ज्ञेयोऽत्र वसुसम्मितः।'

गुणाः—राजार्कः कटुतिक्तो मे कफमेदो विषापहः। वातकुष्ठव्रणान्हन्ति शोफकण्डूविसर्पनुत्॥

वकः—वुक्को वसुक इत्युक्तः शिवालः शिवशेखरः महापाशुपतश्चैव सुव्रतः शिवमल्लिका। गुणाः—वसुकः कटुतिक्तोष्णः श्लेष्मोद्भूतकफापहः! व्रणान्समस्तान्हरति प्रलेपादिप्रयोजितः! (ध० नि०)

वकः पाशुपतः शैवः शिवपिण्डश्च सुव्रतः वसुकश्च शिवाङ्कश्च शिवेष्टः क्रमपूरणः। शिववल्ली शिवाह्लादः शाश्वतो रतिसम्मितः।

गुणाः—पित्तदाहकफश्वासश्रमहारीच दीपनः। (रा० नि०)

अर्थात् यहां कहीं भी इन द्रव्यों को मूत्रदोषनाशक आदि नहीं कहा है। इसी प्रकार उपर्युक्त वसुक में भी मूत्रसंस्थान पर प्रभाव करने का संकेत नहीं प्राप्त होता है। यदि Trianthema जातीय पुनर्नवा सदृश द्रव्यको वसुक माना जाय तो निश्चित कहा जा सकता है कि यह मूत्रल होता है। आधुनिक शास्त्रज्ञों ने इसे[1] मूत्रल तथा बूंद बूंद मूत्र आने की अवस्था में उपयोगी कहा है। और मूत्रल गुण इसमें पाया भी जाता है। यही कारण है कि चरकसुश्रुतोक्त वसुक को मन्दार जातीय वसुक मानने में निश्चित हिचकिचाहट होती है। विद्वानों को अभी इस पर

1. The dried root is given as infusion (1 in 20) It is given in doses of 1 to 2 ounces in constipation, jaundice, Strangury (Painful urinatan) drop by drop, (मूत्रकृच्छ्र) dropsy-N.dkarnd।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विचार करना चाहिए। क्योंकि डल्हण के मत को न मानने का भी सहसा साहस नहीं किया जा सकता।

आधुनिक निघण्टुकारों में श्री बापालाल जी ने पुनर्नवा की निम्न प्रकार की जातियों को श्री जयकृष्ण भाईजी के मतानुसार वर्णन किया है—

१—रक्तपुनर्नवा Boerhavia repens (N. O. Nyctagineae)।

२—रक्तपुष्पा, श्वेतमूला Trianthema crystallina (N. O-ficoideae)।

३—वर्षाभू " Monogyna "

४—वसेड़ो Boerhavia repanda (N. O. Nyctagineae)।

५—मोटो वसोड़ो पुनर्नवा विषघ्नी B. Verticillata "

इनके निजमत का स्वरूप जो पुनर्नवादि वर्ग के (N. O. Nyctagineae) गुजराती नाम साटोड़ी के वर्णन में प्रदर्शित किया है—निम्न प्रकार है:—

नाम—(१) (सं०) रक्तपुनर्नवा (गु०) नानो वसेड़ो, वसेड़ी, पुनर्नवा, रातो वसेड़ो, (म०) वसु, तामड़ापुनर्नवा धाकरा, खाप्रा, (हि०) लालपुनर्नवा, (बं०) श्यापुरणागादापुरणे, (ले०) वाइहेवियारिपेन्स Baerhavia repens।

(२) (सं०) श्वेतपुनर्नवा, श्वेतमूला, रक्तपुष्पा, (गु०) साटोड़ी, (म०) लहाननर्भा (हिं०) अलेठी, (ते०) ट्राएन्थीमा क्रिस्टेलिना Trianthema Crystallina।

इनके मत से श्वेत व रक्त पुनर्नवा से क्रमशः उपर्युक्त द्रव्य ग्रहण किए जाने चाहिए। अर्थात् इन्होंने पुनर्नवा व वर्षाभू—ये दो स्वरूप से समान किन्तु पृथक् मिलनेवाले, दो पृथक् पृथक् वर्गों के, पृथक् पृथक् गुणवाले द्रव्यों को एक साथ मिला दिया है।

औषधि संग्रहकार श्री वामनगणेश देसाई ने वसुक और पुनर्नवा को पृथक् द्रव्य माना है। श्वेत वसुक को वह (Trianthema monogyna), जिसे गुजराती में श्वेत सारोड़ी कहते हैं, मानते हैं। और रक्तवसुक को Trianthema decandra माना है। पुनर्नवा से Baerhavia diffusa ग्रहण किया है। पुनर्नवा भेद इसी कुल (N. O. Nyctagineae) के अन्य वनस्पति जो कि (Baerhavia) जाति के होते हैं, माने जाने चाहिए।

आदरणीय बलवन्तसिंह जी ने भी प्रायः इसी मत का समर्थन किया है:—वह कहते हैं—'राजनिघण्टुकार ने वर्षाभू और वसुक नामों से इसकी दो प्रजातियों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(Species) का उल्लेख किया है। मेरे मत से भी पुनर्नवा और वर्षाभू दो सर्वथा भिन्न भिन्न वनस्पतियाँ हैं। किन्तु दोनों के रूप और गुणों में बहुत कुछ साम्य होने से निघण्टुकारों ने दोनों में बहुत गड़बड़ कर दिया है। अनेक स्थान के वैद्य आज भी इसे ही (Trianthema monogyna या विसखपराको—पुनर्नवा और कुछ इसे केवल श्वेत पुनर्नवा मानते हैं। स्मरण रखनाच ाहिए कि श्वेत और रक्त, पुनर्नवा और वर्षाभू दोनों में ही होते हैं। अतः रक्तपुनर्नवा और श्वेतपुनर्नवा Boerhavia की जातियों को और रक्त वर्षाभू और श्वेत वर्षाभू Trianthema की जातियों को कहना चाहिए। वर्षाभू की ही किसी जातिको वसुक मानना चाहिए।' (सचित्र आयुर्वेद—एप्रिल १९५२)

श्री देसाई भी श्री बलवन्तसिंह जी के मतों से प्रायः सहमत हैं। हम औषधि-संग्रहकार के अनुसार वसुक तथा वसुकभेद को Trianthema जाति की औषधि एवं Boerhavia जाति की औषधियों को पुनर्नवा एवं उनके भेद स्वीकार करते हैं। हमारा यह स्पष्ट मत है कि पुनर्नवा, वसुक और वर्षाभू तीनों स्वतंत्र द्रव्य है। इनके भेद स्वतंत्ररूप से हो सकते हैं। इनके गुण एवं स्वरूपादि में समानता होने से यह भ्रम हुआ है। यहां वसुकभेद के साथ ही वर्षाभू भी उससे अधिक सम्बद्ध हुआ है। पुनर्नवा को भी वर्षाभू कहा जाता है यह एक अन्य विषय है। पुनर्नवा के गुणधर्मों का विशेष निरूपण स्थानानुसार किया जायगा।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र (Tropical India) तथा निम्न देशों तथा लंका (Ceylone) में पाया जाता है। इसकी दूसरी जाति (Trianthema decendra) दक्षिण भारत में प्राप्त होती है।

परिचय—यह क्षुद्र वनस्पति चौमासे (वर्षाऋतु) में अधिकांशतः प्राप्त होती है। यह गुलगुली या मांसल एवं प्रसरणशील होती है। इसकी शाखायें द्विविभक्त होती हैं। प्रायः शीतकाल में यह सूख जाती है। पत्र प्रायः अभिमुख होते हैं तथा युग्मों में निकलते हैं। इनमें से एक पत्र मोटा एवं गोल होता है तथा एक किंचित् लम्बा होता है। अर्थात् पुनर्नवा के समान एक छोटा एवं दूसरा बड़ा होता है। यह अभिलट्वाकार, अण्डाकार या आयताकार प्रायः रक्तवर्ण होते हैं। पत्र-तट लहरदार होता है। प्रायः छोटा पत्र ½" तथा गोल पत्र 1½" व्यास वाला होता है। द्विविभक्त शाखाओं के मध्य से श्वेत या गुलाबी रंग के पुष्प निकलते हैं। इनमें

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुंकेशर १० से २० तक होते हैं प्रत्येक फल में ६ से ८ तक वीज निकलते हैं। पुनर्नवा की अपेक्षा इसके पत्र अधिक बड़े होते हैं। इसके मूल का व्यवहार औषध्यर्थ होता है। इसे श्वेत पुनर्नवावत् भी अनेक स्थलों में व्यवहृत करते हैं। इसकी दूसरी जाति (Trianthema decandra) जो दक्षिण भारत में मिलती है, उसे रक्त पुनर्नवा कहते हैं। इसकी मूल भी व्यवहृत होता है। कहीं कहीं पत्र लेते हैं। इसकी जड़ प्रायः अंगुली सदृश मोटी प्राप्त होती है।

सक्रियतत्त्व—इसकी जड़ में एक ग्लूकोसाइड (Glucoside) पाया जाता है, जो गुणों में सेपोनिन (Saponin) के सदृश होता है।

गुणकर्म—वसुक के गुणकर्मों का प्राचीन ग्रंथकारों के अनुसार वर्णन 'विशेष विवरण' शीर्षक में किया गया है। राजनिघण्टुकार के अनुसार यदि वसुकद्वय के गुणों का विचार किया जाय तो वही समस्या पुनः आजाती है। उन्होंने लिखा है—**'वसुकौ कटुतिक्तोष्णौ पाके शीतौ च दीपनौ—अजीर्णवातगुल्मघ्नौ श्वेतश्चैव रसायनः' ॥ ३८ ॥** वसुकद्वय रस में कटुतिक्त एवं उष्ण-विपाक में उष्ण, दीपन, अजीर्ण, वात, गुल्म नाशक होते हैं। श्वेत वसुक रसायन होता है जो कि उष्ण विपाक और शीत विपाक का निर्देश किया गया प्रतीत होता है। यह बुद्धिगम्य नहीं होता, क्योंकि विपाक विचार में प्रतिरस पाक-मधुर, अम्ल, कटु, विपाक-मधुर, कटु, विपाक या गुरु, लघु विपाक का ही वर्णन मिलता है। उष्ण-शीत विपाक का निर्देश सामान्यतः आचार्यों ने नहीं किया है (देखो सु० सू० स्थान अ० ४०)। किन्तु यहां यह नया विचार किया गया है। इस विषय का विशेष विचार विपाक वर्णन करते समय किया जायगा। हमें इस द्रव्य को वसुक मानने के साथ ही इसके वर्तमान व्यवहार में आने वाले गुणदोषों के आधार पर ही प्रयोग करना चाहिए। शास्त्रीय विचार भी तभी अनुभव के आधार पर किये जा सकेंगे। अन्यत्र शाकवर्ग में राजनिघण्टु में इसे वर्ण्य, कफ, मान्द्य (अग्निमान्द्य) नाशक, शाक में रूक्षतर, गुल्म, प्लीह, शूलापहारक कहा है।

वसुक के वर्तमान गुणकर्मः—

वसुकं रेचनं तीव्रं यकृत्कार्यविवर्द्धनम्।
आन्त्रक्षोभकरं स्वादु गर्भाशयविशुद्धिकृत् ॥
मूत्रवृद्धिकरं वातहरं रक्तं तथोच्यते। (स्व०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वसुक तीव्ररेचक (Cathartic), यकृत्कार्य को बढ़ानेवाला, आन्त्रक्षोभक स्वादु, गर्भाशयशोधक, मूत्रवृद्धिकारक तथा वातहर होता है। रक्तवसुक के गुण इसी के समान होते हैं। यह ध्यान रहे कि इसके मूल का स्वाद आर्द्रावस्था में ही मधुर होता है। शुष्कावस्था में इसमें परिवर्तन होता है।

सांस्थानिकप्रभाव—

पाचकसंस्थान—आन्त्र में इसके प्रयोग से क्षोभ एवं तीव्र दाह उत्पन्न होता है। यकृत् का रक्ताभिसरण इसके प्रयोग से बढ़ जाता है। एतावता उसकी क्रिया में वृद्धि होती है। मूत्रवाहकसंस्थान तथा जननेन्द्रियों पर भी इसका प्रभाव विशेष होता है। मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है तथा गर्भाशय में क्षोभ एवं दाह उत्पन्न होता है। गर्भावस्था में अति उपयोग से गर्भस्राव की आशंका हो सकती है। अतएव गर्भघातक भी कहा गया है। इससे त्वचा का रक्ताभिसरण भी बढ़ता है।

आमयिक प्रयोग

वसुकं बहुधायोज्यं येषां रेचनमिष्यते।
जीर्णे मलावरोधे च कामलादिषु व्याधिषु॥
पाण्डौ शोथे रजोरोधे प्लीहायां त्वग्गदेषु च।
मूत्रकृच्छ्रे तथा श्वासे योज्यमर्धावभेदके।
अण्डशोथे च शास्त्रज्ञैर्नूतनैस्तत्प्रशस्यते॥ (स्व०)

वसुक का प्रयोग उन सभी अवस्थाओं में किया जाता है जहां रेचन कराने की आवश्यकता होती है। जीर्णमलावरोध, कामलादि व्याधियों में इसका अच्छा उपयोग किया जाता है। पाण्डु, शोथ, (Dropsy)-प्रायः वृक्क दोषोत्थ या यकृद्दोषोत्थ-रजोरोध या अनार्तव (Amenorrhoea), प्लीहावृद्धि, त्वचा के रोग, मूत्रकृच्छ्र (Strangury), श्वास (Asthma), आधाशीशी (Hemicrania) और अण्डशोथ (Orchitis) में नवीन लोग इस औषधि का व्यवहार करते हैं। यकृत् के रक्ताभिसरण में गड़बड़ी होने से उत्पन्न यकृदुदर जीर्णमलावरोध—इसी कारण उत्पन्न त्वचारोग, कण्डू आदि तथा पाण्डुरोगोंमें इसका प्रयोग करने से अच्छा लाभ होता है। इसके प्रयोग से शरीरस्थ शोथ कम होता है। एतदर्थ यकृत्—प्लीहाशोथ, आन्त्रशोथ तथा गर्भाशय शोथजन्य अनार्तव में इसका प्रयोग करते हैं। रक्तवसुक का प्रयोग भी यकृत्शोथ नाश के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिए तथा आर्तव साफ करने के लिए विशेष रूप से किया जाता है। अण्डशोथ में रक्तवसुक के मूलको दूध में उबालकर देते हैं। श्वासरोग में भी इसका प्रयोग करते हैं। शोथ, कामला तथा पेशाव जब रुक-रुक कष्ट के साथ हो तो (Strangury) इसका प्रयोग लाभप्रद होता है।

प्रयोगविधि—मूत्र चूर्ण २-६ माशा की मात्रा में शुण्ठी के साथ देने से विशेष लाभ होता है। इस औषधि की पूर्ण मात्रा एक ही बार में न देकर पूर्ण मात्रा को कई मात्राओं में विभक्तकर सान्तर प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है। विवन्ध, कामला, मूत्रकृच्छ्र और शोथ में इसके फाण्ट का प्रयोग अधिक होता है। इस हेतु १ तो० मूल चूर्ण लेकर २० तो० जल में फाण्ट बनाना चाहिए। इसे ½ से १ छटांक की मात्रा में एक बार में देना चाहिए। इस वृक्ष की भाजी बनाकर भी खाई जाती है।

N. O. Portulaceae (पोर्च्युलेसी) लोणिका कुल

बृहल्लोणिका

नाम—(सं०) बृहल्लोणिका, बृहल्लोणी, घोटिका; (हिं०, पं०) खुरफा, कुलफा; (म०) मोटी घोल; (गु०) म्होटी लुणी; (मा०) मंमोली; (वि०) नोना; (बं०) बड़ो लोनिया; (अ०) बक़्लतुल्, हुम्क़ाऽ, बक़्लतुज़्ज़ोहरा, बक़्लतुल् मुबारिकः (फ़ारसः) फ़रफ़ख; (फ़ा०) ख़ुर्फ़ः, तोरक, तुर्कः; (द०) खुलफे की भाजी; (उ०) पुरुनी साग (Puruni sag); (ता०) पारपू-किरे (Parpu kire), पच्चिरि; (क०) वचले सोप्पु, दूदागोराइ (Dudagoria); (ते०) पद्दा पेरिला कुरा (Pedda parrila kura); (अं०) पर्सलेन (Purslane); (ले०) पोर्टयुलेका ओलिरेसिया (Portulaca oleracea).

बीज—(हिं०) कुलफा या खुरफा के बीज; (अ०) बज़्रुल् बक़्लतुल् हुम्क़ाऽ, बज़्रुल् फ़र्फ़ख; (फ़ा०) तुख़्मे तोरक, तुख़्मे सुर्फ़ः।

लघुलोणिका

नाम—(सं०) लोणी, लोणा, क्षुद्रलोणिका, लघुलोणिका, (हिं०) लोनियाँ, लोनी, नोनियाँ, छोटा खुरफा, लोनिया शाक; (म०) मुईघोल; (बं०) क्षुद्रे लोनि:

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(गु०) झीणी लुणी, लुणी; (वि०) नोनी; (क०) डुचुगोलि; (ता०) सोइन पप्पू किराइ (Soin pappu-kirai), पच्चिरि; (पो० व०) झीणकी लुनी; (पं०) नूनी बूटी; (द०) घोल की भाजी; (ते०) सन्ना पप्पू (Sanna paypu); गोड्डूयाविलि Goddu yavili); (कों०) भुई गोली (Bhui goli); (कना०) हाली वच्चेली (Hali bachcheli); (सिंहली) हिंजेन्डी कोला (Hingendi kola); (संथा०) जाली नोनियो; (ले०) पोटर्युलका क्लाड्रिफिडा ([1]Portulaca quadrifida).

विशेषविवरण—यह शाक के रूप में खाई जाने वाली वनस्पतियाँ हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारतवर्ष में सर्वत्र बृहल्लोणिका (खुरफा) की कृषि होती है। शाक के लिए इसको बोते हैं। खुली जगहों में यह स्वयंजात भी होती है। लंका के बोये खेतों में यह स्वयं उगी हुई मिलती है। लघु लोनी भी भारत के सभी उष्ण प्रदेशों में किंचित् ठण्ढे स्थान पर सदैव स्वतः उगी हुई रहती है।

परिचय—बड़ी लोणियां या खुरफा का सर्पणशील, कोमल शाखाओं और मांसलपत्र युक्त क्षुप होता है। पत्र ½″–१″ के होते हैं। छोटी लोनिया का क्षुप अत्यन्त क्षुद्र होता है। पत्र पायः ½″ से कम लम्बे और ¼″ से कम चौड़े होते हैं। यह भी पर्याप्त मांसल होते हैं। बड़ी को कुलफा के शाक के रूप में बाजारों में बेचते हैं। छोटी बाजार में कठिनता से मिलती है।

सक्रियतत्त्व—पत्रों में म्यूसिलेज (Mucilage) और एसिड पोटासियम ऑक्जलेट (Acid Potassium Oxalate) पाया जाता है।

गुण-कर्म—चरककार ने शाकवर्ग में कुलफा के गुणों का उल्लेख किया है—× × × लोणिका × × × शाकं गुरु च रूक्षं च प्रायः विष्टम्भ्य जीर्यति। मधुरं शीतवीर्यञ्च पुरीषस्य च भेदनम्। स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं तत्प्रशस्यते। (च० सू० अ० २७-शाकवर्ग)

तथा सुश्रुत ने भी शाकवर्ग में इसका निर्देश किया है—× × × लोणिका × × × प्रभृतयः। स्वादुपाकरसाः शीताः कफघ्ना नातिपित्तलाः। लवणानुरसा रूक्षाः सक्षारा वातलाः सराः। (सु० सू० अ० ४६)

1—The herb abounds in a milky juice and hence the Portulaca (Portu-to carry and lac-milk)—Nadkarni.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतएव चरककार के मतानुसार लोणिका शाक गुरु, रूक्ष, वायुकारक होते हुए परिपाक को प्राप्त होने वाला, मधुर, शीतल तथा मलभेदक होता है। इसे उबाल लें फिर दबाकर रस निकाल लें तथा प्रचुर स्नेह (घी, तैलादि) से शाक बनावें—यही प्रशस्त होता है। (स्नेह के प्रयोग से वायु की उत्पत्ति तथा पेट में गड़गड़ाहट कम होती है)।

सुश्रुत के अनुसार लोणिका आदि शाक रस और पाक में मधुर शीतवीर्य, कफघ्न, अधिक पित्तवर्धक भी नहीं, लवण अनुरसयुक्त रूक्ष क्षार युक्त, वातल एवं सर होता है।

भावप्रकाशकार ने—

लोणी रूक्षा स्मृता गुर्वी वातश्लेष्महरी पटुः।
अर्शोघ्नी दीपनी चाम्ला मन्दाग्निविषनाशिनी॥
घोटिकाऽम्ला सरा चोष्णा वातकृत्कफपित्तहृत्।
वाग्दोषव्रणगुल्मघ्नी श्वासकासप्रमेहनुत्।
शोथे लोचनरोगे च हितास्तज्ज्ञैरुदाहृताः॥ (भा० प्र० शाकवर्ग)

छोटी लोणी अम्ल और लवणरसयुक्त, रूक्ष, गुरु, वातश्लेष्महारिणी, दीपन, अर्शोघ्नी, मन्दाग्नि तथा विषनाशक होती है।

बड़ी नोनियाँ या कुल्फा—अम्ल, सर, उष्ण, वातकारक, कफपित्तनाशक, वाणी का दोष, व्रण, गुल्मनाशक, श्वासकास प्रमेहहर, शोथ तथा नेत्ररोग में हितकारिणी निर्दिष्ट की गई है।

कैयदेव ने इन द्रव्यों के गुणों में कुछ अन्तर से वर्णन किया है, किन्तु अधिकांशतः वह समानता रखते हैं:—

अम्ला सरोष्णा विनिहन्ति वातं पित्तं वलासं च करोति घोटी।
त्वग्दोषगुल्मव्रणशोफकासश्वासप्रमेहाक्षिगदेषु पथ्या॥
लोणिका कटुका रूक्षा वातश्लेष्महरा गुरुः।
अर्शोघ्नी दीपनी चुक्रा मन्दाग्निविषनाशिनी।

कुल्फा—अम्ल, सर, उष्ण, वातनाशक, पित्तवर्धक और कफवर्धक होती है। यह त्वग्दोष, गुल्म, व्रण, शोथ, कास, श्वास, प्रमेह तथा नेत्र रोगों में हितकारिणी होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लोणी—कटु, रुक्ष, वातश्लेष्महर, गुरु, अर्शोघ्नी, दीपनी, अम्ल, मन्दाग्नि तथा विषनाशिनी होती है।

यहां मुख्य मतभेद यह पड़ता है कि चरक सुश्रुत तो इनको शीतवीर्य द्रव्य मानते हैं। किन्तु अन्य अर्वाचीन निघण्टुकारों ने इनको उष्ण कहा है। इसका विवेचन आमयिक प्रयोगों के वर्णन के अनन्तर किया जायगा।

घोटिका लोणिका चैव ग्राहिणी शोथनाशिनी।
स्नेहनी परमा प्रोक्ता शीतवीर्या च मूत्रला॥
रक्तदोषहरी चैव शमनी पित्तनाशिनी।
यवनैर्गदितं द्वन्द्वं प्लीहदृष्टिविनाशकृत्॥
तद्वद्बीजं तयोरुक्तं विशेषात् पुंसत्वनाशनम्॥ (स्व०)

खुरफा और लोनिया आधुनिकों और यूनानी चिकित्सकों के मत से ग्राही (Astringent), शोथनाशक, परमस्नेहन (Demulcent and emollient), शीतवीर्य, प्रशीतक (Refrigerant), मूत्रल (Diuretic), रक्तदोषहर, संशमनी तथा पित्तनाशक कही जाती है। यह प्लीह तथा दृष्टि के लिए हानिकारक होती हैं। इसके बीजों में भी उक्त गुण होते हैं। विशेषतः यह पुंसत्वोपघाती होते हैं

सांस्थानिक प्रभाव—बाह्य प्रयोग से खुरफा के पत्र शीतजनन एवं शामक होते हैं।

पाचक संस्थान—आमाशयान्त्र, यकृत पर इनका संशामक प्रभाव होता है। आन्त्र पर इस क्रिया के अधिक होने से ग्राही प्रभाव होता है। वस्ति और वृक्क पर शामक प्रभाव होने के अतिरिक्त यह मूत्रल होता है। इसका प्रधान कर्म पित्तसंशमन एवं यकृदुष्मा निवारण है।

आमयिकप्रयोग

लोणिका घोटिका योज्या पित्तोद्वेगे कफामये।
रक्ते सपित्ते तृष्णायां मूत्रकृच्छ्रेऽतिदारुणे।
मूत्रदाहे शिरःशूले पैत्तिके चातिसारके।
अग्निदग्धे व्रणे लेप्या दाहे च करपादयोः॥ (स्व०)

लोणिका घोटिका का उपयोग पैत्तिक व्याधियों, कफरोग, रक्तपित्त, तृष्णा,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तीव्र मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह, पैत्तिक शिरःशूल; पैत्तिक अतिसारादि में करना चाहिये। अग्निदग्धव्रण, करपाद दाह तथा त्वग्रोगों में लेप करना चाहिये।

बाह्यप्रयोग—बड़ी तथा छोटी लोनियाँ बाह्य प्रयोग से शीतजनन होने के कारण अत्युष्णता को दूर करने के लिए लेप के रूप में प्रयुक्त करते हैं। उष्णताजन्य या पित्तजन्य शिरोवेदना में इसे मस्तक पर या शंखप्रदेश पर लगाते हैं। ज्वर दाहनिवृत्त्यर्थ भी इसका लेप किया जाता है। रूक्ष या स्निग्ध दग्ध (Burn and Scald) जन्य व्रण में या फफोले पड़ने पर इसका लेप लाभकारी होता है। कर-पादतल दाह में इसे स्वतन्त्र रूप से या मेंहदी के बीजों के साथ लेप करने से दाह शान्त होता है। उपर्युक्त कारणों से बीजों को भी शिरःशूलादि तथा त्वग्रोगों में लेप किया जाता है।

आन्तरिकप्रयोग। शाक—इसके शाक का प्रयोग प्रचुरता से किया जाता हैं। यह स्वाभाविक लवण युक्त होने के कारण दीपन-पाचन एवं गुल्मादि नाशक होता है। इसका लोनी नाम भी इसी कारण प्रतीत होता है। इससे आमाशय, आन्त्र, यकृत्, गर्भाशय, वृक्क और मूत्राशय की उष्णता एवं दाह का शमन होता है। पित्तातिसार में आन्त्र को वल देने तथा अतिसार को शान्त करने के हेतु इसके शाक का व्यवहार किया जाता है। स्कर्वी (Scurvy) रोग में भी इसके शाक से लाभ होता है। रक्तपित्त, रक्तार्श या शुष्कार्श में भी इसका शाक देते है। वस्तिशोथ, वृक्कशोथ तथा यकृत् रोगों में भी इसके शाक से पर्याप्त लाभ होते देखा गया है। मांसाहारी लोग इसके शाक को मांस के साथ भी पकाते हैं।

शुष्कपत्र चूर्ण बालकों के मुखपाक में छिड़कते हैं। पत्र या बीज चूर्ण पित्तोल्वण अतिसार, आमाशय प्रदाह में देने से लाभ होता है। भुने बीज उष्ण प्रकृतिवालों के लिए आन्त्रामाशय बलदायक, उदरस्तम्भक (काविजे शिकम) हैं। उष्णता, ज्वर तथा आन्त्रिक सन्निपात में बीज या पत्रचूर्ण देने से लाभ होता है। स्नेहन एवं मार्दवकर होने तथा आन्त्र की श्लैष्मिक कला के प्रदाह को शान्त करने के कारण बीजों का प्रयोग अतिसार अथवा प्रवाहिका के मरोड़, कुन्थन (Tenesmus) आदि लक्षणों के नाश के हेतु दिया जाता है। एतदर्थ बीजों को अन्य उपयुक्त द्रव्यों के साथ देते हैं। श्वाससंस्थान की व्याधियाँ जिसमें रक्त जाता है—यथा रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) आदि तथा रक्तवमन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(Haemetemesis) आदि अन्य रक्तस्रावी व्याधियों में इसके स्वरस अथवा पत्र या बीजचूर्ण को देने से उक्त व्याधियाँ नष्ट होती हैं। पित्तविकार या उष्णता-जन्य रक्तोद्वेग तथा उग्रतृष्णाशमनार्थ यह एक उत्तम ओषधि है।

मूत्रसंस्थान—विशेषरूप से वृक्क और मूत्राशय के रोगों में-जैसे मूत्र का बूंद बूंद कर होना (Strangury), कष्ट के साथ मूत्र का होना (Dysuria), रक्तमेह (Haematuria) सदाह मूत्र या सूजाक (Gonorrhoea) आदि में इसका पंचांग या वीज व्यवहृत करते हैं। मधुमेह में वीजों का प्रयोग किया जाता है। मूत्रसंस्थान के रोगों के लिए गोक्षुरु, ककड़ी के बीज और यवक्षार का मिश्रण इसके स्वरस में वनाकर देना अत्यधिक उपयोगी होता है। इसके लिए ½ से 1 छटांक दे सकते हैं। इसके वीजों को यूनानी वैद्य कृमिनाशक भी कहते हैं। गर्मी के दिनों में खुरफा के बीज ठंढई में पीसकर पिये जाते हैं। इसके पञ्चाङ्ग को प्लीहा तथा दृष्टि के लिए तथा वीजों को आमाशय के लिए हानिकारक बताया जाता है। इसका निवारण क्रमशः पोदीना तथा मिश्री से होता है।

डाक्टर नादकर्णी का मत है कि—'इसकी पत्तियों एवं वीजों का फाण्ट गुणकर्मतः स्प्रिट ऑवनाइट्रसईथर (मूत्रल एवं स्वेदल), पाठा, ट्रागाकॉन्थ, रेहटनी (Rhatany), कोपाइवा एवं वर्फ की स्थानापन्न ओषधि-सी होने के कारण प्रशीतक (Refrigerent) एवं वल्य रसायन (Alterative) के रूप में ओषधि का प्रयोग वहुत उपयोगी है। स्कर्वी एवं यकृद्रोगों में यह ओषधि आहाररूप (शाक) में व्यवहृत होने से लाभ होता है। उपर्युक्त वर्णन के अनन्तर लोणिका के शीतवीर्य होने में सम्भवतः सन्देह नहीं रह जाता है। चरक और सुश्रुतकार का भी यही मत है। ऐसी स्थिति में मेरे विचार से मध्यकालीन निघण्टुओंका मत इस विषय में विशेष ग्राह्य नहीं है। अन्य मतभेद भी इसी भांति समाधेय हैं। द्रव्य गुण विज्ञान के प्रत्यक्ष मूलक होने के कारण प्रत्यक्ष सिद्ध मत और शास्त्र सम्मत भी मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

N. O. Tamariscineae (टैमेरिसिनी) (झावुक कुल)

नाम—(सं०) झावुक, झाऊ (झाबुक); (हिं०) झाऊ, फरास; (विहार) झउचा, पखन, फ़रास, मारलेइ (Marlei); (पं०) फरवां,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ओका; (सिं०) लई; (बं०) झाऊ; (गु०) प्रांस, झाउ; (अ) तुर्फाह या तर्फा; (फा०) गज़; (तै०) इरूसारूमैनू (Erusarumanu).

फल—(सं०) झावुकफल; (हिं०) बड़ीमाई; (सिं०) असेलेई (Asrelei); समरतुत्तफी, हब्बुत्तर्फा, जौज़ुत्तर्फा; (फा०) माईए कलां; (अं०) टैमेरिक्स गाल्ज़ (Tamarix galls).

शर्करा – (सं०) झावुकशर्करा; (अ०) कजज्जबीन; (फा०) गजङ्गबीन (अं०) टॅमरिक्स मन्ना (Tamarix manna).

नोट—'फारसी क (ग) जमाज़ज, क(ग)ज़माज़क और क (ग) जमाज़ शब्दों का व्यवहार उभय प्रकार की (छोटी-बड़ी) माई के लिए होता है। परन्तु प्रसिद्ध यह है कि ये बड़ी माई के नाम है। जज़माज़ज गज़माजज का और कजञ्जबीन गजङ्गबीन का अरबी रूपान्तर है।' श्री दलजीत सिंह (यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान)।

विशेष विवरण—झाऊ एक यूनानी द्रव्य है। आजकल वैद्यों द्वारा इसका प्रयोग पर्याप्त किया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह फारस तथा अफगानिस्तान में अधिकता से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त विदेशों में यूरोप, अफ्रीका तथा एशिया के विभिन्न देशों में भी मिलता है। भारत के प्रायः प्रत्येक प्रान्त में होता है। अधिकतर नदियों के किनारे वालुकामय प्रदेश में, समुद्रतट तथा गुजरात के समशीतोष्ण प्रदेशों में इसके वृक्ष मिलते हैं। उत्तर भारत में गंगा और यमुना के आसपास में यह बहुतायत से पाया जाता है। छोटी माई पञ्जाब एवं सिंध प्रान्त में अधिक होती है।

परिचय—झाऊ का छोटा-लगभग ८ फुट लम्बा-स्वयंजातवृक्ष वालुकामय प्रदेशों में पाया जाता है। समुद्र के किनारे भी उत्पन्न होता है और कहीं कहीं वाटिकाओं मे इसे शोभार्थ भी लगाते हैं। इसके पत्र सरो (देवदार्व्यादिकुल का सीधा पेड़ जो बगीचों में शोभार्थ लगाया जाता है) या सरल जाति के वृक्षों के समान होते हैं। देखने में भी इसका वृक्ष छोटा सरो-वृक्ष की भांति प्रतीत होता है। पुष्प किंचिल्लालिमायुक्त होता है। इसके वृक्ष की शाखाओं पर एक प्रकार की मक्खी बैठकर डंक मारती है जिससे एक छिद्र उत्पन्न हो जाता है। फिर मक्खी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अपने अंडे भी वहीं देती है। इस प्रकार मक्खी के द्वारा शाखा पर एक गांठ सी बना दी जाती है। इस प्रकार की बहुत सी गांठे इस वृक्ष पर बनती हैं। इन्हें इसका फल समझा जाता है। इन गांठों का स्वरूप छोटे मटर से लेकर रीठे तक का किन्तु माजूफल से छोटा-होता है। यह गोल, गठीली तथा अनेक आकार-प्रकार की होती हैं। ये गाल्स अन्दर से खोखले होते हैं। रंग में किंचित् हरित् या पीतिमायुक्त भूरी होती हैं। इस वृक्ष से एक प्रकार का रस निकलता है, जिससे शर्करा की प्राप्ति होती है। इस झावुक शर्करा को गजङ्गचीन कहा जाता है। सम्भवतः मक्षिका के आकर्षण का कारण यही शर्करामय रस होता है। शर्करा प्रायः पिण्डमय स्वरूप में प्राप्त होती है, जो रखने से तरलावस्था में मधु की भांति हो जाती है। उक्त शर्करा (Manna) भारतीय झावुक में प्रायः इस रूप में प्राप्त नहीं होती कि उसका संग्रह किया जा सके इसके पञ्चाङ्ग फल (बड़ी माई) तथा शर्करा का उपयोग चिकित्सा में होता है।

सक्रियतत्व—बड़ी माई या ग्रंथियों में कषायाम्ल (Tannic acids) पाया जाता है। शर्करा या मन्ना (Manna) में इक्षुशर्करा, इन्वर्ट सुगर Invert sugar), द्राक्षशर्करा (Laevulose and glucose) डेक्स्ट्रिन (Dextrin) तथा जल पाया जाता है।

गुण-कर्म।

पञ्चाङ्ग—

> झावुकस्य हि पञ्चाङ्गं शीतलं रक्तशोधनम्।
> शोषणं रूक्षणं ग्राहि शोणितास्थापनञ्च तत्॥ (स्व०)

झावुक का पञ्चाङ्ग शीतल, परम रक्त संशोधक, शोषण, रूक्ष, ग्राहि तथा शोणितास्थापन होता है। यूनानी चिकित्सक इसे पहली श्रेणी में शीत और दूसरी श्रेणी में रूक्ष मानते हैं।

त्वक्—झावुकस्य च त्वक् प्रोक्ता वल्या तिक्ता च ग्राहिणी (स्व०) झावुक की त्वचा तिक्त (Bitter), ग्राहिणी और सम्भवतः बल्य (Tonic) होती है।

ग्रंथियाँ (फल या मांई)—

> ग्रन्थिश्शूलहरश्चास्य ग्राही शोषणलेखनः।
> प्रमाथि दीपनः रक्तस्तम्भकृच्छेदनः परः॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तनोति दोषातारल्यं हन्ति प्लीहयकृद्गदम् ।
पञ्चाङ्गवत् समादिष्टः शीतलो रूक्षणश्चसः ॥ (स्व०)

झावुक की ग्रंथियाँ-छोटी या बड़ी मांई-शूलनाशक, ग्राही, शोषण, लेखन प्रमाथि, दीपन, रक्तस्तम्भन और छेदन होती है।

झावुकशर्करा—

श्लेष्मतारल्यजननी स्वर्या स्वाद्वी च लेखनी ।
रूक्षा चापि मता स्निग्धा चोष्णा झावुकशर्करा ॥
मस्तिष्कस्य व्रणानाञ्च शोधनी रेचनी च सा ॥

झावुक शर्करा श्लेष्मतारल्यजनन, स्वरशोधन, मधुर, लेखन, रूक्ष तथा साथ ही स्निग्ध (मातदिल) उष्ण, मस्तिष्क और व्रणों का शोधन करने वाली, किंचित् रेचनी होती है।

सांस्थानिक प्रभाव

पाचक-संस्थान—इस संस्थान पर इसका मुख्य प्रभाव संग्राही एवं दीपन के रूप में होता है। संग्राही होने के कारण इसका सर्वप्रथम दांतों और मसूढ़ों पर प्रभाव होता है। दात मजबूत होते हैं। इसीलिए इसे मुकव्वी अस्नान व लिस्सा दांत एवं मसूढ़े के लिए बलदायक लिखा है। यह आमाशय को भी बल देता अर्थात् मुकव्वी मेदः-दीपन है। आन्त्र की श्लैष्मिककला तथा वाहिनियों पर संकोचक प्रभाव करने के कारण मलोत्सर्ग में वाधा उत्पन्न करता है, क्योंकि उपरोक्त प्रभाव के कारण आन्त्र की पुरस्सरण क्रिया (Peristalsis) मन्द पड़ जाती है। संकोचक प्रभाव के कारण आन्त्रगत उद्रेचनों की मात्रा भी कम पड़ जाती है। यूनानी चिकित्सकों ने इसी गुण के कारण इसे 'काबिज अमआऽ (अन्त्र-ग्राही)' कहा है। आन्त्रों के अतिरिक्त इसका प्रभाव यकृत् और प्लीहा पर भी पड़ता है। यूनानी चिकित्सकों ने कतिपय द्रव्यों को प्लीहा की क्रिया का वर्धक या 'मुकव्वी तिहाल' वतलाया है। उनमें झावुकपत्र मुख्य है। परन्तु इसकी इस क्रिया के सम्वन्ध में विभिन्न शास्त्रज्ञों में मतभेद भी पाया जाता है। आन्त्र के अन्दर इसकी क्रिया का एक कारण इसकी रूक्षतोत्पादक या क्लेद (आर्द्रता) शोषक शक्ति भी होती है। प्रायः किसी भी स्थल की श्लेष्मल कला पर इस द्रव्य की क्लेदशोषक शक्ति का अनुभव किया जा सकता है। इसके इस गुण को

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यूनानी चिकित्सक 'मुजफ्फिफ' कहते हैं। प्रायः सभी स्तम्भक द्रव्यों में यह विशेषता पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इसके शर्करा में किंचित् रेचक गुण भी पाया जाता है।

रक्तवाहक-संस्थान—रक्तवाहक संस्थान पर माई की क्रिया शोणितास्थापन एवं रक्तसंग्राहक के रूप में होती है। शोणितास्थापन क्रिया का तात्पर्य चक्रपाणिदत्त के अनुसार '**शोणितस्य दुष्टस्य दुष्टिमपहृत्य तत् प्रकृतौ स्थापयतीति शोणितास्थापनम्**' अर्थात् जो द्रव्य रक्त की दुष्टि को दूर करके उसे प्रकृतिस्थ करती है, उनको शोणितास्थापन या रक्तप्रसादन कहा जाता है। इसी को यूनानी चिकित्सक 'मुसफ्फी खून' कहते हैं। यह द्रव्य विभिन्न प्रकार के उपयोगी परिवर्तन कर रक्तगत दुष्टिको (फासिद मवाद) त्याज्यरूप में परिणित कर देते हैं। इस प्रकार रक्त शुद्ध हो जाता है। साधारणतया रक्तशोधक द्रव्य मल, मूत्र या स्वेदमार्ग से होनेवाली शुद्धियों के प्राकृतिक (नैसर्गिक) क्रम पर प्रभाव डालकर रक्त का संशोधन करते हैं। किन्तु आयुर्वेद व यूनानी के सिद्धान्त के अनुकूल रक्त में कुछ दोष ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी शुद्धि इन स्वाभाविक मार्गों द्वारा सम्भवतः नहीं हो पाती। एतदर्थ रक्त में कुछ परिवर्तनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकारके विशिष्ट परिवर्तनों को उत्पन्न कर जो द्रव्य रक्तप्रसादन-तस्फ़िया-और शोधन-तनकीह—करते हैं, उन्हें इस वर्ग में रखा जाता है। अनेक शास्त्रज्ञों ने रक्तगत वातादि दोषों को शमन करनेवाले द्रव्यों मुअद्दिलात को मुसफ्फी खून में सम्मिलित कर दिया है। किन्तु उनका वर्ग पृथक् होना ही उचित है। वास्तव में प्रकृत विषय से इसका यही सम्वन्ध है, कि झावुक रक्त में विभिन्न प्रकार के अद्भुत परिवर्तनों को उत्पन्न कर देता है, जिनके परिणामस्वरूप रक्त की दुष्टि दूर होकर प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है। साधारणतया सांस्थानिक शुद्धि से इसका विशेष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता यद्यपि परिवर्तित अपद्रव्य भी सांस्थानिक मार्ग से ही शरीर के बाहर जाते हैं।

रक्त-स्कन्दन गुण को यूनानी में—हाबिसदम्म या कतिउन्नजीफ अथवा मानेआत नज्फ़ुद्दम कहा जाता है। माईकी संग्राहक शक्ति (कुव्वते काविज) तथा रूक्षता के कारण वाहिनियों में संकोच उत्पन्न करने की शक्ति (कुव्वत इन्जमाद) का वर्णन किया जा चुका है। इन्हीं गुणों के कारण माई एक विशिष्ट रक्तस्कन्दन द्रव्य के रूप में कार्य करती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्वसन-संस्थान—यूनानी चिकित्सक-झाऊको मुहल्लिल या विलयनकारक मानते हैं। उनके मतानुसार कतिपय उष्णवीर्य एवं कुछ शीतवीर्य द्रव्य भी मुहल्लिल होते हैं। झाऊ के इसी प्रकार के विलेयक द्रव्यों के अन्तर्गत निर्दिष्ट किया गया है। यह श्लेष्मभूयिष्ठ दोषों को तरल बनाकर बाहर निकालता है। इसी हेतु इसे कफनिस्सारक माना गया है। एतदर्थ झावुक-शर्करा विशेष उपयोगी होती है। स्वरयंत्र-शोथ का भी यह शमन करता है।

त्वचा एवं श्लेष्मलकला—झावुक को मुलय्यिन, वर्म-शोथ विलयन-कहा जाता है। प्रायः—विलयनकारक (मुहल्लिल) द्रव्य शोथ-विलयन होते हैं। यूनानी सिद्धान्तानुसार यह द्रव्य शोथ का विलयन अपनी शक्ति द्वारा करके उसे कोमल बना देते हैं। इन्हें मुलय्यिनवर्म या ग्रन्थि विलयन भी कहा जाता है। झावुकपत्र विशेषरूप से ग्रंथिविलयन माने जाते हैं। प्रायः श्लेष्मल कला पर होने वाले शोथों का विलयन करने की शक्ति यूनानी मतानुसार इस द्रव्य में पाई जाती है।

बाह्यभागों पर इसका प्रभाव विशेषरूप से व्रणों में देखा जाता है। व्रणों पर इसके चूर्णको छिड़कने से तरलस्राव शोषित होकर खुरण्ड बंध जाते हैं। जिससे शीघ्रतापूर्वक व्रणरोपण हो जाता है।

मस्तिष्क एवं नाड़ीसंस्थान—विलयन होने के कारण मस्तिष्कगत शोथ का विलयनकर यह उसे बाहर निकालता है। किन्तु शिर के लिए इसे हानिकारक-मुजिर्रात सिर भी कहा गया है।

आमयिक प्रयोग

पंचाङ्ग—झावुकस्य हि पञ्चाङ्गं योज्यं शोथे हि प्लैहिके।
मसूरिकायां दुर्नाम्ने दन्तशूले व्रणेषु च॥
कुष्ठे च श्वेतप्रदरे गुदभ्रंशे च शस्यते।
त्वक् चास्य योज्या सद्वैद्यैर्वाजीकरणयुक्तिषु॥ (स्व०)

झाबुक का पञ्चाङ्ग—प्लैहिक शोथ, मसूरिका, अर्श, दन्तशूल व्रण, कुष्ठ, श्वेतप्रदर, गुदभ्रंश में विभिन्न प्रकारों से व्यवहृत किया जाता है। इसकी त्वचा का केवल प्रयोग वाजीकरणार्थ करते हैं।

ग्रंथि—ग्रन्थिस्तेष्वपि संयोज्यो रक्तस्रावे विशेषतः।
कण्ठरोगेऽतिसारे च तारल्ये शुक्रसम्भवे॥ (स्व०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ग्रन्थि—छोटी तथा बड़ी मांई को उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त रक्तस्राव, रजःस्राव, प्रदर, कण्ठरोग, अतिसार तथा शुक्रतारल्य आदि विकृतियों में विशेषरूप से प्रयुक्त करना चाहिए।

शर्करा—शर्करा सततं योज्या श्वासे कासे स्वरामये।
विरेचनाय बालेषु यूनानीयैप्रशस्यते ॥ (स्व०)

झावुक शर्करा का विशेष प्रयोग श्वासकास एवं स्वरसंस्थानगत शोथों में किया जाता है। तथा बालकों के लिए विरेचनार्थ भी यूनानी चिकित्सकों में यह विशेष प्रसिद्ध है।

इनकी प्रयोग-पद्धति निम्नप्रकार समझनी चाहिए।

बाह्यप्रयोग। धूनी—व्रणों को सुखाने के लिए झावुक पत्रों का धुआं दिया जाता है। मसूरिका के व्रणों के लिए यह धूम्र विशेषतः लाभकारी होता है। अर्शांकुरों में भी इसकी धूनी देते हैं।

लेप व अवधूलन—प्लीहा की कठोरता में तथा अन्य प्रकार के विभिन्न शोथों में इसके पत्रों का लेप चढ़ाया जाता है। पत्र-चूर्णों का विभिन्न प्रकार के व्रणों में विशेषतः मसूरिकाजन्य व्रणों में अवधूलन किया जाता है। रक्तस्तम्भक होने के कारण रक्तस्राव होने पर मांई को पीस कर चूर्ण या पत्रभस्म को छिड़कने से लाभ होता है। इसका लेप विचर्चिका या उकवत (Eczema) में किया जाता है। वस्ति, अवगाहन, प्रधमन एवं वर्ति के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

गण्डूष—दन्तपूय (Pyorrhoea alveolaris) या मसूढ़ों से खून आने पर, दन्तशूल एवं मसूढ़ों में दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए इसके पत्रों या पञ्चाङ्ग के क्वाथ का गण्डूष किया जाता है। मांई के चूर्ण का मञ्जन या उसके क्वाथ का गण्डूष एवं कवलग्रह उक्त व्याधियों के अतिरिक्त कण्ठशोथ या कण्ठशूल में बहुत उपयोगी होता है। नासागत रक्तस्राव (Epistaxis) में मांई के चूर्ण का प्रधमन करते हैं। श्वेतप्रदर एवं गुदभ्रंश में इसके जड़ एवं पत्र के क्वाथ में रोगी को बैठाने से लाभ होता है। प्रदर रोगों में इसके क्वाथ की उत्तरबस्ति विशेष लाभकारी होती है। मांई के कल्क की वर्ति बनाकर योनि में रखने से प्रदर में लाभ होता है। क्वाथ का प्रयोग व्रणधावन के लिए किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आन्तरिक प्रयोग—झाऊ की पत्तियों का क्वाथ प्लीहावृद्धि में पिलाया जाता है। झाऊ के काष्ठद्वारा निर्मित पात्र में १२ घंटे रखा हुआ जल भी प्लीहा-रोग में दिया जाता है। इसके पञ्चाङ्ग के क्वाथ में जैतून का तैल मिलाकर चिरकाल तक सेवन कराने से कुष्ठ रोग में लाभ होता है। इसकी त्वचा का प्रयोग कमल के साथ वाजीकरण के लिए किया जाता है। पित्तज अतिसार तथा ग्रहणी में मांई के चूर्ण का प्रयोग किया जाता है। रक्तष्ठीवन (Haemoptysis), रक्तार्तव आदि रोगों में मांई चूर्ण या क्वाथ का मुखद्वारा सेवन कराना चाहिए। श्वेतप्रदर तथा शुक्रतारल्य, शीघ्रपतन आदि शुक्ररोगों में भी मांई चूर्ण का मौखिक प्रयोग लाभकारी सिद्ध होता है। एतदर्थ पत्रस्वरस का भी प्रयोग करते हैं। प्लीहाशोथ में भी मांई चूर्ण का उपयोग किया जाता है।

शर्करा का प्रयोग विशेष रूप से श्वास, कास आदि कफज व्याधियों में किया जाता है। बालकों में रेचन कराने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—पञ्चाङ्गचूर्ण १५-२० रत्ती; क्वाथ—२ से ३ तोला तथा; मांई चूर्ण ३ से ५ माशा तक; शर्करा २ से ३—६ तो० तक।

N. O. Guttiferae (नागकेशर कुल)

नागकेशर

नाम—(सं०) नागकेशर, चाम्पेय, नागपुष्प, केशर, नागकिञ्जल्क, कनक, द्रुभ, काञ्चन, रुच्य, नागीय, पिञ्जरपञ्चम्, दुरोह, अहिपुष्प, नागरेणु; (हिं०) नागकेशर, पीला नागकेशर, पुन्नाग (म०) नागचांफा (वृक्ष); नाग-केशर (बं०) नागेश्वर, नघस; (गु०) पीलुं, नागकेशर; (तेल०) नागकेशरम्, नागचम्पकम्, गजपुष्पम्, (ताभि०) वेल्लुट्टाचम्पकम् (Veillutacham pakam) चेरुनागपु (Cherunagapu); (केन०) नागसम्पिगे (Nag-sampige); (मल०) नागचम्पकम्; (अ०) निस्कुरुन्मान; (फा०) नारे-मुश्क; (वर्मा) केङ्गन (Kengen;) गुङ्गेन (Gungen); (अं०) आयरन-वुड-ट्री (Iron-wood-tree); (ले०) मेसुआ फेरिआ (Mesua ferrea, Linn) इसे मेसुआ राक्सवर्गियाइ (M. Roxburghii) तथा मेसुआ कोरोमण्डेलिना (M. Coromandalina) भी कहा जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विशेष विवरण—स्वर्णवाचक सभी शब्दों से तथा नाग-सर्प एवं हस्तिवाचक शब्दों से नागकेशर का व्यवहार होता है। इसके अतिरिक्त सर्प या हस्ति के पर्यायों के आगे केशर लगाने से जिस भी शब्द का निर्माण होता है जैसे—इभकेशर, फणिकेशर आदि-का व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार के बने हुए शब्दों में केशर के स्थान पर पुष्प शब्द का व्यवहार भी करते हैं। केशर—पुष्प का पुंभाग होता है। इस द्रव्य के सभी भाग का उपयोग चिकित्सार्थ किया जाता है। इसी हेतु इसे केसर कहते हैं। पुष्प कहने का तात्पर्य भी लगभग वही है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय के पूर्वी भाग में नेपाल, कुमायूं, पूर्वी बंगाल, आसाम, पूर्वी एवं पश्चिमी घाट, कोंकण, कूचविहार, ब्रह्मा तथा अण्डमान टापू आदि में विशेषतः पाया जाता है। इसके वृक्ष उद्यानों में भी लगाये जाते हैं।

परिचय—इसका सुन्दर मध्यम श्रेणी का अथवा बड़ा, सीधा वृक्ष होता है। यह सदा हरित रहता है। इसके छोटे वृक्ष की टहनियाँ इस प्रकार की रहती हैं कि छोटा वृक्ष एक रथ की भाँति प्रतीत होता है। पत्र जामुन के पत्तों के समान लम्बे किन्तु कम चौड़े होते हैं। इसके पत्ते चौड़ाई की अपेक्षा अधिक लम्बे और नोकदार होते हैं। इन्हें घासवत् रेखापत्र भी कहा जासकता है। यह पत्र नीचे की ओर लटके रहते हैं। काण्ड त्वक् राख के रंग की होती है। पत्र ३" से ६.५" लम्बे तथा १" से १॥" चौड़े होते हैं। आकार में यह आयताकार-भालाकार होते हैं। पत्र का ऊर्ध्व पृष्ठ हरे रंग का चमकीला तथा अधःपृष्ठ श्वेताभ तथा रजावृत होता है। ऊपरी पत्रकोणों में $\frac{3}{4}$"—३" व्यास वाले पुष्प फाल्गुन व चैत्र में उत्पन्न होते हैं। पुष्पों का रंग श्वेत होता है। दलपत्र (Petals) संख्या में ४ तथा सुगन्धित होते हैं। पुष्पों के पुंकेशर (Stamens) पीतवर्ण के तथा सुरभित होते हैं। दलपत्र कठोर तथा स्थायी होते हैं। इन्हीं पुंकेशरों का चिकित्सा में व्यवहार होना चाहिए। इनके मध्य में एक गर्भाशय होता है, जो पकने पर फल बन जाता है। इसमें मेंहदी के सदृश रक्तवर्ण के बीज प्राप्त होते हैं। वास्तव में पुंकेशर का व्यवहार नागकेशर के स्थान में होना चाहिए। किन्तु यदि नागकेशर के बीज भी प्राप्त हों, तो वह भी पर्याप्त गुण कारी होते हैं। पुंकेसरों की मात्रा अल्प होने के कारण उनका संग्रह न होकर बीजों का या सम्पूर्ण पुष्पों का संग्रह किया जाता है। इसी पुष्प को नागपुष्प कहते हैं और पुंकेशर को नागकेशर। किन्तु शास्त्रों में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दोनों शब्द पर्याय रूप से वर्णित हैं। औषध्यर्थ इसके पुष्प, फल, बीज, जड़, छाल तथा तैल आदि व्यवहृत होते हैं।

विशेष—आजकल बाजारों में शुद्ध नागकेशर की प्राप्ति बहुत कठिनता से होती है। पुंकेशर के स्थान पर बीज मिलना तो साधारण बात है, किन्तु बीज भी वास्तव में नागकेशर के प्राप्त नहीं होते, अपितु मेंहदी आदि के बीज मिला दिये जाते हैं। नागकेशर के स्थान पर इसी जाति के अन्य कई वृक्षों के पुष्प, बीज, केशर आदि का भी व्यवहार हो रहा है। जिनका वर्णन इसी प्रकरण में आगे किया जायगा। अनेक निघण्टुकारों ने पुन्नाग की केशर और नागचम्पा की कली को नागकेशर माना है और उसकी २ जातियाँ जो कोंकण और गोवा में होती हैं ऐसा निर्देश किया है। वास्तव में पुन्नाग एक पृथक् द्रव्य है। और वह भी इसी जाति का है। अत एव उसका स्वतंत्र वर्णन किया जायगा। मद्रास प्रान्त में नागकेशर के स्थान में कहीं कहीं एक कृष्णाभ लवंगकार द्रव्य मिलता है। ऐसा अनेक ग्रंथकारों ने लिखा है। किन्तु उसका विशेष महत्व न होने से यहां वर्णन नहीं किया जायगा। ऐसे ही अनेक स्थानों पर स्थानीय व्यक्ति किसी न किसी अपद्रव्य का व्यवहार अज्ञानतावश करते हैं। जिससे लाभ न होकर उलटे हानि की ही सम्भावना हो सकती है।

सक्रियतत्व—अपरिपक्व फल में एक ओलियो-रेजिन (Oleo-resin) पाया जाता है, जिससे एक प्रकार का उत्पत् तैल (Essential oil) प्राप्त होता है। रेजिन जल में डूबता है। इसके बीजों में एक स्थिर तैल (Fixed oil); होता है। यह तैल हल्के पीले रंग का, पुष्प के समान सुगन्धित तथा चेन-टर्पेन्टाइन (Chain-turpentine) के सदृश होता है। इसके कठोर पेरीकार्प में टैनिन (Tannin) पाया जाता है।

गुण-कर्म।

नागकेशर का प्रयोग चिकित्सा में अतिप्राचीनकाल से होता आया है। किन्तु चरककार ने सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में वर्णित 'दशेमानि' में इसका वर्णन नहीं किया है। चरक के अन्य अनेक स्थलों पर विशेषतः चिकित्सा स्थान में अर्शाधिकारोक्त (कनकारिष्ट) में विसर्प तथा वातव्याधि में प्रयुक्त होने वाले बला तैल में इसका प्रयोग पाया जाता है। सुश्रुत ने इसको 'श्लेष्म-पित्तविषघ्नं तु नागम्'

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्थात् श्लेष्म, पित्त, विषघ्न कहा है और एलादि, वचादि, अञ्जनादि और प्रियङ्ग्वादि गणों में इसका उल्लेख किया है। अन्य स्थलों पर भी सुश्रुत ने इसके प्रयोगों का निर्देश किया है।

नागकेशर के गुणकर्मांश का वर्णन[1] धन्वन्तरिनिघण्टु, राजनिघण्टु, भावप्रकाश-निघण्टु में दिया गया है। यदि इस गुणांश को सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो कुछ मतभेद-सा प्रतीत होता है। जैसे धन्वन्तरिनिघण्टुकार और राजनिघण्टु-कार तो इसे अल्पोष्ण कहते हैं; किन्तु भावप्रकाशकार और कैयदेवकार इसकी उष्णता में अल्पत्व का विचार नहीं करते। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर द्रव्य अत्यन्त उष्ण तो नहीं प्रतीत होता, क्योंकि रक्तावरोधक गुण इसमें पाया जाता है। केवल प्रभाव से रक्तावरोधक है, ऐसा स्वीकार करना भी अनुभव के विपरीत प्रतीत होता है। दूसरे अर्शादि में प्रयुक्त होने के कारण इसकी अग्निवर्द्धकता, दीपन-पाचनत्व देखकर आधुनिकों के द्वारा प्रतिपादित इसके सर्वथा शैत्य को मानने की भी इच्छा नहीं होती। ऐसी स्थिति में धन्वन्तरि और राजनिघण्टुकार का मत अल्पोष्ण ही अनुभव सिद्ध और युक्तियुक्त प्रतीत होता है। उष्णता एवं शैत्य आदि गुणों के तर-तम भेदों का विचार यूनानी चिकित्सकों ने विशेषरूप से किया है। आयुर्वेद में भी यह विचार किया जाता था ऐसा प्रस्तुत प्रसंग से प्रतीत होता ही है। वैद्यों को अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार विचार कर उनके गुणों के तर-तम भेदों को निर्धारित करना चाहिए। इससे चिकित्सा में सौकर्य हो सकता है।

---

१. धन्वन्तरिनिघण्टु—नागकेसरमल्पोष्णं लघुतिक्तं कफापहम्।
बस्तिरुक्कफवातास्रकण्डूघ्नं शोफनाशनम्॥
राजनिघण्टु—नागकेशरमल्पोष्णं लघुतिक्तं कफापहम्।
बस्तिवातामयघ्नं च कण्ठशीर्षरुजापहम्॥
भावप्रकाश—नागपुष्पं कषायोष्णं रूक्षं लघ्वामपाचनम्।
ज्वरकण्डूतृषास्वेदच्छर्दिहृल्लासनाशनम्॥
दौर्गन्ध्यकुष्ठवीसर्प-कफपित्तविषापहम्।
कैयदेव—नागपुष्पं कषायोष्णं तीक्ष्णं लघ्वामपाचनम्।
रूक्षं पित्तकफच्छर्दि—ज्वरकण्डूविसर्पनुत्।
हृल्लासस्वेददौर्गन्ध्य-कुष्ठतृष्णाविषापहम्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यहां संक्षेपसे उपर्युक्त ग्रंथों में वर्णित सभी गुणों का एकत्र वर्णन दिया जारहा है—

नागकेशरमल्पोष्णं रूक्षं लघ्वामपाचनम्।
कषायं कफपित्तघ्नं तीक्ष्णं तिक्तं सुगन्धितम्॥ (स्व०)

नागकेशर अल्पोष्ण, रूक्ष, लघु, आमपाचन, कषाय, कफ-पित्तनाशक, तीक्ष्ण, तिक्त और सुगन्धित है। आधुनिकों ने भी नागकेशर के विभिन्न अवयव में इन्हीं गुणों को स्वीकार किया है।

सांस्थानिक प्रभाव। पाचक-संस्थान—नागकेशर का मुख्य प्रभाव पाचक-संस्थान पर पड़ता है। इसकी क्रिया अन्य सौगन्धिक तिक्त बल्य (Aromatic bitter tonic) द्रव्यों की भांति होती है। यह अग्निवर्धक होता है तथा आम का पाचन करता है। साथ ही इसका ग्राही प्रभाव भी होता है,

---

"The dried blossoms, root and bark are bitter, aromatic and sudorific; the bark is mildly astringent. Unripe fruits are aromatic, acrid and purgative. The oleo-resin exuding from the bark, root etc. is aromatic and demulcent. The pericarp of the fruit is astringent. The dried flowers are astringent and stomachic; also stimulant and carminative." (R. N. Khory and Nadkarni)

"नागकेशर की पुष्पितभाग, जड़ एवं त्वचा स्वाद में तिक्त एवं सुगन्धित तथा स्वेदल होती हैं। त्वचा साधारण ग्राही भी होती है। कच्चे फल सुगन्धित, तीक्ष्ण एवं रेचक होते हैं। त्वचा एवं मूल आर्द्र से स्रवित होनेवाला तैलीय-राल सुगन्धित एवं स्नेहन होता है। फल का बाह्यावरण ग्राही होता है। शुष्क पुष्प ग्राही एवं दीपन, उत्तेजक तथा वातानुलोमन होता है।" उपर्युक्त विवरण को देखने से पता चलता है, कि विभिन्न शास्त्रज्ञों ने नागकेशर के जिन गुणों का वर्णन किया है वे केवल केशर (Stamens) के नहीं अपितु सभी भागों के हैं। इससे यह भी समझा जा सकता है कि नागकेशर के पुष्प-भाग में उपर्युक्त सभी गुण वर्तमान हैं, किन्तु आधुनिकों ने जो वर्णन किया है वह विभिन्न अवयवों में जिस-जिस गुण की अधिकता होती है उसका निर्देश मात्र है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्नेहांश नागकेशर के तैल में होता है, किन्तु जिस रूक्षता का वर्णन किया गया है वह नागकेशर के जलीयांश को शोषण करने के गुण के कारण ग्राही होने से उपलब्ध होती है। इस प्रकार शास्त्रीय एवं आधुनिक वर्णन में विप्रतिपत्ति का अवसर नहीं हैं। यूनानी चिकित्सकों ने इस प्रकार के गुण को 'मुजफ्फिफ' कहा है। लेखक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जिससे रक्तवाहिनियाँ तथा श्लेष्मल-कला संकुचित होती है। आमाशय पर यह शामक (Sedative) प्रभाव भी करता है।

श्वास-संस्थान—यों तो इस संस्थान पर इसका कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु उत्पत् तैल के कारण अन्य उत्पत् तैलों की भांति ही क्रिया होती है।

मूत्र-संस्थान—मूत्र मार्ग द्वारा उत्सर्गित होने के कारण इस संस्थान पर इसकी विशिष्ट क्रिया होती है। यह मूत्राशय के क्षोभ को शान्त करता है।

नाडी-संस्थान—उपर्युक्त आमाशय एवं वस्ति आदि अंगों पर इसका संशामक गुण तत्सम्बन्धी नाड़ियों पर होने वाले इसके प्रभाव के कारण ही होता है। मस्तिष्कगत उत्तेजना की भी इससे शान्ति होती है।

त्वचा—उत्पत् तैल के त्वचा द्वारा निस्सृत होने के कारण इसका प्रभाव त्वचा पर होने से यह स्वेदल (Diaphoretic) प्रभाव करता है।

आमयिक-प्रयोग

ज्वरकण्डूतृषास्वेदच्छर्दिहृल्लासनाशनम्।
दौर्गन्ध्यकुष्ठवीसर्पकण्ठशीर्षरुजापहम्।
वस्तिरुक् विषवातास्रशोफघ्नं नागकेसरम्॥ (रत्न०)

नागकेशर—ज्वर, खाज, तृष्णा, स्वेददोष, छर्द, हृल्लास, मितली को नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त नागकेसर, दौगन्ध्य, कुष्ठ, वीसर्प, कण्ठ तथा सिर के रोग, वस्ति (मूत्राशय) की पीड़ा, विषदोष, वातरक्त, शोथ को नष्ट करता है।

यदि नागकेशर के गुणों पर विचार किया जाय तो उपर्युक्त रोगों में इतना लाभकारी होना युक्ति संगत प्रतीत होता है। आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुकूल आमदोष ज्वरकारक होता है। नागकेशर आमपाचन हैं, अत एव आम के परिपाक होने से ज्वर की स्थिति में भी सुधार अवश्यम्भावी है। किन्तु ज्वर में इसका स्वतन्त्र प्रयोग एक आध ही मिलता है। पाचक संस्थान पर क्रियाशील होने के कारण तथा आमाशय पर भी शामक प्रभाव करने के कारण, छर्दि, हृल्लास तथा तृषा आदि नाशक होना उचित ही प्रतीत होता है। इसमें पाया जाने वाला उत्पत् तैल भी किसी अंश में इसका उत्तरदायी है। कण्डू, दौर्गन्ध्य, कुष्ठ, विसर्प, वातरक्त

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदि में इसके द्वारा जो लाभ होता है, उसमें इसका त्वक् प्रभावी होना कारणभूत होता है। कण्ठ दोषों में श्वास संस्थान पर प्रभावी होने के कारण तथा बाह्य प्रयोग अर्थात् कषायरस होने से गले में लगाने-से दोषनाश होना सिद्ध है। इसका बस्तिरोग नाशक प्रयोग मूत्रसंस्थान गत गुणकर्मों के कारण जिनका निर्देश किया जा चुका है—प्रतीत होता है। विष एवं शोथनाशकता प्रभाव द्वारा होती है। कषाय रस के कारण ग्राही एवं साथ ही दीपन-पाचन एवं किंचिदुष्ण होने से इसका प्रयोग रक्तार्श में महत्त्वपूर्ण है। चरककार ने लिखा है:—

'केशरनवनीतशर्कराभ्याभ्यासात् ।..................

............अर्शांस्यपयान्ति रक्तानि।' (च० चि० अ. १४)

अर्थात्......नागकेशर, मक्खन तथा मिश्री के साथ मिलाकर लेने से रक्तार्श में लाभ होता है......—यह प्रयोग दृष्टफल है। चरककार के अर्शाधिकारोक्त कुटजादि अवलेह या अरिष्ट तथा कनकारिष्ट में नागकेशर एक प्रमुख उपादान है। ग्राही होने के कारण अर्शाधिकारोक्त नागकेशर योग अतिसार एवं ग्रहणी में प्रयुक्त होते हैं। विसर्प में इसको अनेक द्रव्यों के साथ लेपार्थ[1] एवं अवधूलनार्थ तथा वातव्याधि अधिकार के बलातैल में डालने का निर्देश भी चरककारने किया है।

सुश्रुतकार ने दुर्गन्धयुक्त जल को अधिवासित करने के लिए जिन पुष्पों का निर्देश किया है, उनमें[2] नागकेशर को प्रथम स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त विष-चिकित्सा में अनेक द्रव्यों के साथ साथ[3] तथा नेत्रदोष नाशार्थ भद्रोदय अञ्जन में इसका योग निर्देश किया है (सु० सं० उ० अ० १०)। कफज्वर में भी

---

१. दार्वीत्वङ्मधुकं लोध्रं केशरञ्चावचूर्णनम् । (च० चि० अ० २१)

२. (क) नागचम्पकोत्पलपुष्पप्रभृतिश्चाधिवासनमिति । (सु० सू० अ० ४५। १२)

३. कुष्ठं त्रिकटुकं दार्वी मधुकं लवणद्वयम् ।
मालतीनागपुष्पं च सर्वाणि मधुराणि च ।
कपित्थरसपिष्टोऽयं शर्कराक्षौद्रसंयुतः ।
विषं हन्त्यगदः सर्वमूषिकाणां विशेषतः ॥ (सु० कल्प ५।८३)

देखें सु० कल्प—दुन्दुभिस्वनिक (क) चि० कल्याणघृत ।

४ कटुत्रिकं नागपुष्पं हरिद्रा कटुरोहिणी-कौटजं च फलं हन्यात् सेव्यमा (नं) कफज्वरम् ।
(सु० उत्तरतं० अ० ३९)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अन्य द्रव्यों के साथ इसका प्रयोग किया गया है।[5] हिक्का में नागकेशर को इक्षुरस एवं मधूक के रस के साथ प्रयोग करने का विधान बतलाया है।

नागकेशर—त्रिगन्ध-एला, त्वक् एवं पत्र (तेजपत्र)—के साथ मिलाकर चातुर्जातक कहलाता है। शार्ङ्गधरकार ने उसके गुण और प्रयोग निम्न प्रकार वर्णन किए हैं—

त्रिगन्धमेलात्वक्पत्रैश्चतुर्जातं सकेशरैः
त्रिगन्धं सचतुर्जातं रूक्षोष्णं लघुपित्तकृत्।
वर्ण्यं रुचिकरं तीक्ष्णं विषश्लेष्मामयान् जयेत्॥

अर्थात् चतुर्जात रूक्ष, उष्ण, लघु, पित्तवर्द्धक, रुचिकर, तीक्ष्ण, विष तथा श्लेष्मामय को नष्ट करता है।

शार्ङ्गधर के ग्रहणी एवं अतिसार में प्रयोज्य बृहद्दाडिमाष्टक, जातीफलादि तथा अरोचक में प्रयुक्त लवङ्गादि, महाखाण्डव, लवणभास्कर आदि चूर्णों, च्यवनप्राशादि अवलेहों, पानीयकल्पों, द्राक्षारिष्ट, दशमूलारिष्ट, आदि अरिष्टासवों में नागकेशर स्वतन्त्ररूपेण अथवा मिश्रित रूप से चतुर्जात के रूप में एक उत्कृष्ट उपादान है।

भैषज्य रत्नावलीकार नागकेशर चूर्ण को—अतिसाराधिकार में निम्न प्रकार से प्रयोज्य बतलाते हैं—

नवनीतं मधुयुतं लिहेद्वासितया सह।
नागकेशरसंयुक्तं रक्तसंग्रहणं परम्।
मधुपादं सिताद्धांशं नवनीतं चतुर्गुणम्॥

नवनीत (मक्खन या नैनू) और मधु या शर्करा (मिश्री) के साथ नागकेशर परम रक्तसंग्राहक होता है। इस प्रयोग में मधु $\frac{1}{4}$, शर्करा $\frac{1}{2}$ भाग और मक्खन चौगुना लेना चाहिए। वंगसेन आदि ग्रन्थों में भी यह योग पाया जाता है।

राजमार्तण्डका निम्न प्रयोग भी परम उत्कृष्ट है—

गोघृतेन सह नागकेशरम्। श्लक्ष्णचूर्णितमसौ नितम्बिनी।
गव्यदुग्धनिरता पिबेद्यदि—स्यात्तदानियतमेव वीरसूः॥

---

५ क्षौद्रं सितां वारणकेशरञ्च पिबेद्रसेनेक्षुमधूकजेन। (सु० उत्तरतं० अ० ५१।२३)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यदि स्त्री को नागकेशर का सूक्ष्म चूर्ण गाय के घृत के साथ सेवन कराया जाय तथा वह गोदुग्धाहार पर निर्भर रहे तो वह निश्चय ही बीर बालक को उत्पन्न करती है।

आचार्य शोढ़ल ने असृग्दर में तक्र के साथ नागकेशर के प्रयोग को लाभकारी बताया है।

नागकेशर की त्वचा एवं जड़ का प्रयोग क्वाथ अथवा फाण्ट बनाकर तिक्तबल्य (Bitter tonic) के रूप में किया जाता है। पुष्पचूर्ण मधु अथवा मक्खन के साथ तृषा, आमाशय क्षोभ (Irritability of the stomach), अतिस्वेद, कास (जिसमें कफ अधिक निकलता हो) तथा अर्श में प्रयुक्त किया जाता है। पुष्पों द्वारा बनाया गया पानक अतिसार में बहुत उपयोगी होता है। यूनानी चिकित्सक[1] इसको विभिन्न कल्पों में मिश्रितकर उन्माद आदि मस्तिष्क-व्याधियों तथा हृद्रोगों में व्यवहृत करते हैं। अर्श में पुष्पों के फाण्ट का व्यवहार भी बहुत उपयोगी होता है। नपुंसकता में इसके इत्र को पान के साथ खिलाते हैं।

बाह्य-प्रयोग—चक्रदत्त[2] ने नागकेशर के कष्टकों के सूक्ष्मचूर्ण का शतधौत-घृत या नवनीत (मक्खन) में मिलाकर लेप करने से, पाद-दाहशामक बतलाया है। पत्र कल्क का पुल्टिस बनाकर तीव्र प्रतिश्याय (सर्दी-जुकाम या नजला-Severe cold) में शिर पर लगाते हैं। नागकेशर के बीजों से प्राप्त स्थिरा तैल (Fixed oil) त्वग्रोगों—यथा सामान्य व्रण (Sores), खुजली (Scabies) आदि—में लाभकारी होता है। इसको आमवात में भी लगाया जाता है। इसका पुष्प विभिन्न तैल-योगों में सुगन्धि के लिए डालते हैं। नागकेशर के पुष्प चूर्ण को शतधौत घृत में मिलाकर अर्श (मस्सों) पर भी लगाते हैं। यूनानी चिकित्सक वाजीकरणार्थ तिला में प्रयोग करते हैं।

---

१. यूनानी चिकित्सकों के अनुसार भी नागकेशर उपशोषण हृद्य, यकृत, आमाशय तथा अन्त्रों पर भी बल्यप्रभाव करनेवाला, कामोत्तेजक (Aphrodisiac) तथा उदर-कार्यनाशक एवं अर्शोघ्न है।

२. "शिराव्यधे पाददाहे वातेकण्टकवत् क्रिया शतधौतघृतोन्मिश्रैः नागकेशरकण्टकैः पिष्टैः प्रलेपः" (च० द० वातव्याधि)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्वेदाधिक्य को रोकने के लिए इसका लेप करते हैं अथवा शुष्क चूर्ण को बदन पर लगाते हैं।

सुरपुन्नाग एवं पुन्नाग

नाम-सुरपुन्नाग—(सं०) सुरपुन्नाग, नमेरु, सुरेष्ट, सुरपर्णिका, सुरतुङ्ग, पञ्चाह्व; (हिं०) लालनागकेशर, नागकेशर; (म०) सुरंगी, तामरा नागकेसरफल-उण्डान (Undan); (गु०) रातुं नागकेसर, गोड़ी उण्डी; (मलया०) नागपपु (Nagap-pu); (ते०) सुरपूना (Surpoona); (तामि०) नागेसुरपु (Naggesurpu); (केन०) गारडुण्डी (Gardundi); (कॉक०) सुरैङ्ग (Suraing); (फा०) नारामुश्क (Naramushka); (अं०) अलेक्जेन्ड्रियन लारेल (Alexandrian Laurel); (ले०) ओक्रोकार्पस लांगिफोलियस (Ochrocarpus longifolius).

पुन्नाग—(सं०), पुन्नाग, राजचम्पक, पुरुष, तुंग, पुंनामा, पाटल, पुमान्, रक्तपुष्प, रक्तरेण्टु, अरुप, विबुद्ध, देववल्लभ, पाटलीपुष्प, केशर, रक्तकेशर, पांशु, नाग, महानाग, केशर, पाटलाच्छद, काञ्चन, सुरपर्णी, सुगन्धा, षट्पदालय, पञ्चकेशर, राजचम्पक; (हिं०) सुलतानचम्पा, पुन्नाग; (महा०) उण्डाग, पुमाग, उण्डल, (वं०) पुन्नाग; (बम्बई) उण्ड्री, उण्डल; (मल०) पोन्नाकम् (Ponnakum), चेरुपुना (Cherupuna) ( ) होन्ने सुराहोन्ने (Surahonne), नेमारू या नमेरु Nameru; (कोंक) उण्डो-फल (Undee-phal); (तेलगु) पुमागमु (pumagamu,) पोन्नाविट्टुलु (Pomabittulu) (तामि०) पुन्नागम् (Punnagum), पुन्नाइविराइ (Punn-aivirai; (उरिया) पोलांग; (ले०) केलोफिलम् इनोफिलम् (Calophyllum inophyllum) या केलोफिलम् अपेटेलम् (C. apetalum)।

विशेष विवरण—सुगन्धित होने से पुन्नाग के पुष्पों को देवताओं पर चढ़ाया जाता है। इसी हेतु इसे सुरपुन्नाग या सुरेष्ट कहा गया है। पुन्नाग के पुष्पों में सुगन्धि होती हैं, अतएव इसे भी देववल्लभ कहते हैं। पाटला के समान पत्र, पुष्प होने से सम्भवतः पाटलीपुष्प या पाटलाच्छद नाम हो सकते हैं। नागकेशर के स्थान पर व्यवहार होने से नाग भी कहा जाता है। इसी प्रकार रक्तकेशर (लाल पराग युक्त होने की कारण) षट्पदालय (अतिसुगन्धित होने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से भ्रमराश्रय होने से, सुगन्धा (सुगन्धित होने से) अन्वर्थ संज्ञायें हैं। पुन्नाग शब्द भी महत्त्व का है। पुरुष नाग इसका अर्थ होता है। नागकेशर के स्थान पर इसका व्यवहार यत्रकुत्रचित् अवश्य होता है, किन्तु पुन्नाग शब्द द्वारा व्यवहृत होने से ही यह नागकेशर से पृथक् स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी जाति के २ अन्य बनस्पतियों का व्यवहार भी पुन्नाग, सुरपुन्नाग, एवं नागकेशर के स्थान पर हो रहा है—(१) केलोफिलम् टोमेन्टोजम् (Callophyllum tomentosum, wight), (२) केलोफिलम् व्हाइटिआनम् (Collophyllum wightianum) केलोफिलम् टोमेन्टोजम् को भी मराठी में पुन्नै, तामिल भाषा में पुंगु, तेलुगु–पूने कन्नड़ में श्रीहोन्ने तथा मलयालम में पुन्न कहा जाता है। कैलोफाइलम् व्हाइटिआनम् को मराठी में बोब्बी, हरै, मलयालम में चेरुपुन्ना, (तु०) में शिरिपान्ने कहते हैं।

पुन्नाग और नागकेशर के सम्बन्ध में यत्रकुत्रचित् कुछ विवाद पाया जाता है। किन्तु जैसा कि निर्देश किया जा चुका है ये दोनों पृथक् द्रव्य हैं। दोनों का स्वतंत्र वर्णन भी शास्त्रों में मिलता है। केवल नाम में साम्य होने के कारण तथा समान गुणयुक्त होने के कारण यह वनस्पति एक दूसरे के स्थान पर व्यवहृत की जाती है। गुणों की समानता के कारण व्यवहार में कोई दोष भी प्रतीत नहीं होता। वैज्ञानिक वर्गीकरण के आधार पर भी इनमें एक जातीयता स्पष्ट ही है। सुश्रुत संहिता में एलादि गण में नागपुष्प—पुन्नाग केशर इन शब्दों का प्रयोग मूल में आया है। यहां पर आचार्य डल्हण ने नागपुष्प को नागकेशर तथा 'कुछ लोग नागकेशर पुष्प के समान पुष्पवाला 'महातरु' मानते हैं' ऐसा लिखा है। उन्होंने पुन्नाग केशर के पुन्नाग को 'सुरपर्णी' और केशर को 'बकुल' बतलाया है। डल्हण ने कुछ लोगों के इस मत का भी उल्लेख किया है कि वह पुन्नाग, केशर इन दोनों का एक साथ व्याख्यान करते हैं। और पुन्नाग केशर का अर्थ 'पद्मकेशर' करते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य मत का भी उल्लेख डल्हण आचार्य ने इसी के आगे किया है, कि कुछ लोग 'पुन्नाग केशर' यह पाठ मानकर

१. 'एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियंगु···
···कुङ्कुमानिपुन्नागकेशरं चेति॥' (सु० सू० अ० ३८)
'नागपुष्पं नागकेशरं, अन्ये नागकेशरपुष्पसमपुष्पो महातरुरित्याह, पुन्नागः सुरपर्णिका,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुन्नाग से देववल्लभ राजचम्पक और नागकेशर से प्रसिद्ध नागकेशर का व्यवहार करना चाहिए' ऐसा मानते हैं। व्याख्याकार अरुणदत्त पुन्नाग को 'रक्तकेशर' कहते हैं। डल्हण ने सुश्रुत[1] कल्पस्थान में पुन्नाग की व्याख्या करते हुए भी पुन्नाग को 'तुङ्ग' कहा है, और पूर्व देश में प्रसिद्ध वतलाया है। वह कहीं भी पुन्नाग को नागकेशर नहीं कहते—अपितु भिन्न द्रव्य मानते हैं। उत्तरतन्त्र में तो यह विषय पूर्णरूप से स्पष्ट हो गया है। वहां सुश्रुतकार[2] ने पुन्नाग और नागकेशर को स्पष्ट पृथक् पृथक् एक ही साथ प्रयोग करने का विधान किया है। और उल्हण ने पुन्नाग को देववल्लभ और नाग को नागकेशर बतलाया है। अमरकोष[3] में पुन्नाग और नागकेशर का वर्णन दो स्वतंत्र स्थान पर आया है। मूलकार ने पुन्नाग के पर्य्यायों में 'पुरुष, तुंग, केसर और देववल्लभ' इन शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही अन्य स्थान पर नागकेशर के पर्य्यायों में 'चाम्पेयकेशर, काञ्चन' इन शब्दों को लिखा है। पुन्नाग का पर्य्याय केसर होने से टीकाकार ने 'केसरो नागकेसरे' ऐसा भी कहा है। किन्तु अन्त में[4] यह पञ्चनाम गुजरात में

सुगन्धिपुष्पा दक्षिणापथे सुरपति नाम्ना प्रसिद्धा। केशरं वकुलं, केचित् समुदितं व्याख्यानयन्ति-पुन्नागकेशरं पद्मकेसरमित्यर्थः; अन्ये त्वेवं पठन्ति-'पुन्नागं नागकेशरं च' इति, पुन्नागं देववल्लभं राजचम्पकमिति' लोके, नागकेशरं स्वनामप्रसिद्धम्।

(डल्हणव्याख्या—सु० सू० अ० ३८ सूत्र २४)

१. 'पुन्नागस्तुङ्गः पूर्वदेशे प्रसिद्धः' ॥ (सु०डल्हणटीकाकल्पस्थान अ० २ सूत्र ४७)

२. 'गन्धोदकैः सकुसुमैरुपसिक्तभूमौ-पत्राम्बुचन्दनरसैरुपलिप्तकुडये जात्युत्पलप्रियककेशरपुण्डरीक-पुन्नागनागकरवीरकृतोपचारे॥ (सु० उ० तं० अ० ४७ सूत्र ६१)

तत्रैव डल्हणः 'पुन्नागो देववल्लभः स्वनामप्रसिद्धः नागं नागकेशरम्।

३. चाम्पेयःकेसरो नाग केसरः काञ्चनाह्वयः। (अमरकोष-द्वितीयकाण्ड वनौषधिवर्ग ६५

४. पुन्नागे पुरुषस्तुङ्गकेसरो देववल्लभः। (अमरकोष-द्वि० काण्ड वनौषधिवर्ग २५) तत्रैव भानु जी दीक्षितः-व्याख्यासुधायाम्……केसरो नागकेसरे……पञ्च 'पुन्नागस्य'। गुर्जरदेशे संदेशरा इति ख्यातस्य। वर्तमान काल में गुजरात में सम्भवतः 'संधेसरा' नाम से शिम्बीकुल (Leguminosae) का पोइन्सियाना इलाटा (Poinciana elata) नामक द्रव्य लिया जाता है। इसे आजकल 'पुन्नाग' नहीं कहा जाता। हो सकता है कि दीक्षित जी के काल में इसे ही 'पुन्नाग' कहते हों या वर्तमान काल में पुन्नाग को संदेसरा कहते हों।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'संदेशरा' नाम से प्रसिद्ध 'पुन्नाग' के हैं। ऐसा कहकर सम्पूर्ण भ्रम का निराकरण दिया है।

जैसा कि ऊपर लिखा गया हैं, सम्पूर्ण विवरण का सारांश यह है कि—नागकेशर और पुन्नाग पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। किन्तु गुण तथा स्वरूपादि-साम्य होने से इसके कतिपय नामों में भी साम्य हो गया है। फिर भी स्पष्ट है, कि यह दोनों एक नहीं है। 'नागकेशर के स्थान पर पुन्नाग तथा पुन्नाग' के स्थान पर नागकेशर का उपयोग विभिन्न स्थानों में पाया जाता है। जो गुण-साम्य होने से क्षम्य कहा जासकता है।

स्थान—सुरपुन्नाग का वृक्ष भारतीय समुद्र के दक्षिणी और पश्चिमी तट के जंगलों में—दक्षिण कोंकण से मलाबार तक-तथा कर्नाटक में पाया जाता है। पुन्नाग का रमणीय बड़ा वृक्ष प्रायः समुद्र के किनारे के प्रदेशों दक्षिण तथा बंगाल में पाया जाता है। इसकी जाति के अन्य जिन दो वृक्षों का नाम ऊपर दिया गया है, वह भी दक्षिण में पश्चिम किनारों पर तथा कर्नाटक में पाये जाते है।

परिचय—'सुरपुन्नाग' के बड़े वृक्ष होते हैं। इनमें वसन्त में पुष्प आते हैं, जो सुगन्धित एवं सुन्दर होते हैं। पुष्पकलिका का व्यवहार रक्तनागकेशर के नाम से किया जाता है। इसके फलको खाते भी हैं। 'पुन्नाग' के वृक्ष सदाहरित, सघन, शीत छायायुक्त तथा प्रियदर्शन होते हैं। इनके पत्रों का आकार अण्डाकार, लम्ब गोल, किंचित् नोकयुक्त, प्रायः वटवत् होता हैं। पुष्पश्वेत एवं सुगन्धित होते हैं। इसकी छाल, बीज, पत्र, फल तथा बीजों से निकाला गया तैल, एवं गोंद तथा राल का व्यवहार किया जाता है। इस जाति के अन्य उपर्युक्त उपयोगी वृक्षों में राल तथा गोंद पर्याप्त मात्रा में मिलता है। उसका व्यवहार किया जाता है।

सक्रियतत्त्व—इसमें एक राल (Resin) पाई जाती है, जिसमें पार्सले (Parsley) नामक छत्रक-जातीय (Umbelliferous) पौधे की पत्तियों की भांति गन्ध पाई जाती है। उक्त राल स्वरूपतः बोल (Myrrh) की भांति होतीहै तथा अल्कोहल् (सुरासार) में विलेय (Soluble) होती है। मज्जा एवं बीजों से लगभग ५०-६० प्रतिशत तैल पाया जाता है, जो पीत वर्णका, स्वाद में तिक्त एवं सुगन्धित होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुण-कर्म।

सुरपुन्नाग—

सुगन्धिः दीपनस्तिक्तः पाचनश्च कषायकः।
नमेरुः विबुधैरुक्तः पुन्नागगुणसंयुतः॥ (स्व०)

सुरपुन्नाग सुगन्धित (Aromatic), दीपन, पाचन तथा तिक्त (Bitter) एवं कषाय या ग्राही (Astringent) होता है। (प्रायः यह गुण पुन्नाग की पुष्पकालिका में पाये जाते हैं।) विद्वानों ने इसे पुन्नाग के समान गुण वाला निर्दिष्ट किया है।

पुन्नाग—

पुन्नागः मधुरो शीतो सुगन्धिः पित्तनाशकृत्
.................................(राजनिघण्टुः)

पुन्नाग मधुर, शीतल, सुगन्धित तथा पित्तनाशक होता है।

कैयदेवकार इसे—

पुन्नागस्तुवरस्तिक्तः शीतः स्वादुः कफास्रजित्।
(कैयदेव निघण्टु-औषधिवर्ग)

कहते हैं अर्थात् इनके मत से पुन्नाग कषाय, तिक्त, शीतल, स्वादु तथा कफ एवं रक्तदोषनाशक होता है।

तुङ्गत्वक् तुवरा प्रोक्ता स्वरसस्तु विरेचकः
तैलं क्षोभकरं तद्वत् मतं विस्फोटकारकम्।
मूत्रसञ्चारमार्गेषु जननेन्द्रियकलासु वा।
प्रभावो जायते तत्र विशिष्टस्तैलसम्भवः।
गुन्द्रस्तु वामकस्सम्यक् कथितश्चाथ रेचकः (स्व०)

पुन्नाग की त्वचा कषाय (Astringent), स्वरस रेचक, तैल क्षोभकारक (Irritant) होता है, किन्तु इसका विशिष्ट प्रभाव प्रजननावयव एवं मूत्र-मार्ग की श्लैष्मिक कला पर होता है। यह ध्यान रहे कि इस तैल का सदैव वाह्य प्रयोग ही किया जाता है। गोंद वामक (Emetic) एवं रेचक है।

---

१. नमेरुः सुरपुन्नागः सुरेष्टः सुरपर्णिका—सुरतुङ्गश्च पञ्चाह्वः-पुन्नागगुणसंयुतः— राजनिघण्टु करवीरादि वर्ग।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आमयिक प्रयोग—

पुन्नाग का प्रयोग चरक-सुश्रुत आदि संहिता ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर पाया जाता है। यह स्वतन्त्र रूप से योगों में प्रयुक्त होता है। और कभी-कभी नागकेशर के साथ ही प्रयुक्त पाया जाता है। उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त पुन्नाग के शेष गुणों के सम्बन्ध में नागकेसर के गुणों के समान ही समझना चाहिए।

सुर पुन्नाग—

सुमनानि सुरेष्टस्य तैलयोगेषु योजयेत्।
काथेष्वपि च सद्वैद्यः परागप्रतिपत्तये।
कृमिदन्ते तृषायाञ्च योज्यमामाशयामये
अतिसारे ग्रहण्यांच स्वेदाधिक्ये तथैव च॥ (स्व०)

सुरपुन्नाग के पुष्पों या कलिकाओं का प्रयोग आयुर्वेद के विभिन्न तैलों में सुगन्धि सञ्जननार्थ किया जाता है। एतदर्थं इसे काथों में भी प्रयुक्त करते हैं। तीव्र तृषा, आमाशय की उत्तेजितावस्था (Irritability of the stomach) तथा स्वेदाधिक्य (Excessive perspiration) तथा ग्रहणी दोषों—अतिसारादि में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसका कल्क कृमिदन्त (Carious teeth) एवं दन्तशूल (Tooth-ache) को शान्त करने के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग तेजपात-छोटी इलायची आदि के समान किया जा सकता है।

पुन्नाग—

आमवाते बुधैर्योज्यं बाह्यस्थानेषु सर्वदा।
पुन्नागबीजसम्प्राप्तं स्नेहं पामादिव्याधिषु॥
त्वक्काथः शोणितस्रावे गुन्द्रो योज्यः व्रणेषु च।
बीजलेपो मतः शोथे सन्धिगेवातरक्तके॥ (स्व०)

इसके अतिरिक्त त्वचा के काथ का प्रयोग आन्तरिक रक्तस्रावों में बीज तैल को सुजाक (Gonorrhoea) की उग्र एवं चिरकालजावस्था (Gleet) में खिलाते हैं। इसके गोंद, पत्तियों एवं छाल के टुकड़ों को जल में भिगोने से इसका तैल जल पर तैरने लगता है। इस प्रकार प्राप्त तैल का प्रयोग अनेक नेत्ररोगों विशेषतः नेत्रव्रण में बहुत उपयोगी होता है।

पुन्नाग के बीजों के तैल का प्रयोग विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। यह यूरोप में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डोम्बा ऑयल (Domba oil) के नाम से प्रसिद्ध है। इस तैल का वाह्य प्रयोग आमवात (Rheumatism) में विशेष उपयोगी माना जाता है। इसे विभिन्न त्वग्रोगों यथा खुजली आदि में लगाते हैं। पत्रस्वरस का प्रयोग आश्च्योतन के रूप में नेत्राभिष्यन्द रोग (Conjunctivitis) में करते हैं। मज्जा या वीजों का लेप भी सन्धिवात तथा वातरक्त आदि व्याधियों में किया जाता है।

कैलोफिलम् हिटियानम् तथा कैलोफिलम् टोमेन्टोजम् के राल एवं गोंद शोफघ्न (Antiphlogistic), वेदनाहर (Anodyne) होते हैं। बीज-तैल कुष्ठ एवं त्वग्रोगों में हितकारी है।

वृक्षाम्ल

नाम—(सं०)[1] वृक्षाम्ल, तिन्तिड़ीक, शाकाम्ल, रक्तपूरक, अम्लवृक्ष, अम्लशाख, अम्लमहीरुह, अम्लशाक, चुक्राम्ल, तिन्तिड़ीकफल, अम्लपूर, पूराम्ल, चूड़ाम्ल, बीजाम्ल, फलाम्ल, अम्लादिवृक्षाम्लफल, रसाम्ल, श्रेष्ठाम्ल, अत्यम्ल, अम्लबीज, चुक्रफल; (हि०) कोकम; (म०) कोकम; (गु०) कोकम; (को०) रतांबि, मिरण्ड, वीरुण्ड; (गोवा) भ्रिड़ाओ (फलगूदा) अमसेल; (कैना०) मुर्गिनाहुलिमारा (Murginahuli mara); (मला०) पुनंपुलि; (तु०) पुरणपुंलि; (ले०) गार्सिनिया इण्डिका (Garcinia indica)।

इसी जाति के कतिपय अन्य वनस्पति प्रायः समान गुणवाले होने से व्यवहृत होते हैं:—

(१) थैकल (अम्लवेतस भेद)—इसे थैकल कहते हैं। इसका लैटिन नाम (Garcinia pedunculata) गार्सीनिया पेडङ्कुलाटा है।

(२) गार्सीनिया परप्यूरिया (Garcinia purpurea)।

(३) गार्सीनिया झेन्थोकाइमस (Garcinia xanthochymus)।

नाम—इसे भी संस्कृत में तिन्तिड़ीक या वृक्षाम्ल के नाम से व्यवहृत किया

---

१. वृक्षाम्लं तिन्तिड़ीकं च शाकाम्लं रक्तपूरकम्। अम्लवृक्षोऽम्लशाखस्यादपरोऽम्लमहीरुहः॥ (ध० नि० द्वितीय वर्ग)

वृक्षाम्लमम्लशाकं स्याच्चुक्राम्लं तिन्तिड़ीफलम्। शाकाम्लमम्लपूरं च पूराम्लं रक्तपूरकम्। चूड़ाम्लबीजाम्लफलाम्लकं स्यादम्लादिवृक्षाम्लफलं रसाम्लम्। श्रेष्ठाम्लमत्यम्लमथाम्लबीजं फलञ्च चुक्राम्लगजेनुसंख्यम्। (राजनिघण्टु पिप्पल्यादि वर्ग)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जाता है; (मराठी) ओंट, (उ० भारत) अमसूल, देवफल ओष्ठ; (ता०) कुलबि; (क०) हिरे कणिगु; (म०) तमालम्; (बं०) ओठ, ओष्ठ (आसाम) तेपोत; (ब्रह्मा) मतुन।

विशेष विवरण—आयुर्वेदोक्त वृक्षाम्ल एक संदिग्ध द्रव्य है। सम्प्रति निम्न वनस्पतियों का व्यवहार इसके स्थान पर प्रायः किया जाता है।

(१) **गार्सीनिया इण्डिका (Garcinia indica)** या कोकम, जिसका वर्णन प्रकृत है। इसके फलों को जो खट्टे होते हैं वृक्षाम्ल के स्थान पर व्यवहार करते हैं। अनेक विद्वान् जिनमें पूज्यपाद यादव जी महाराज भी अग्रगण्य हैं, इसे ही वृक्षाम्ल मानते हैं। फलाम्ल आदि नामों से इसके कोकम होने का निर्देश प्राप्त होता है।

(२) **आम्रवर्ग (Anacardiaceae)** के समाकदाना या रहूस पर्वीफ्लोरा (Rhus purviflora) नामक वृक्ष के मसूर के रंग के लाल दानों (फलों) का व्यवहार भी वृक्षाम्ल के रूप में कतिपय विद्वानों एवं उनके अनुयायियों द्वारा किया जाता है। इसका वर्णन समय पर किया जायगा।

इन दोनों मतों में अधिकांश विद्वान् कोकम को ही वृक्षाम्ल मानने के पक्ष में हैं।

गार्सीनिया परप्यूरिया भी इसी जाति (नाग केशर जाति) का वृक्ष है। इसके भी उसी प्रकार के फल होते हैं और इन्हें भी वृक्षाम्ल के स्थान पर व्यवहृत करते हैं।

वृक्षाम्ल-तिन्तिड़ीक एवं अम्लीका अथवा इमली :—

इन दो द्रव्यों के अतिरिक्त वृक्षाम्ल के स्थान पर इमली के फलों का भी व्यवहार किया जाता है।

चरक[१] सूत्रस्थान २७ अध्याय में वृक्षाम्ल और अम्लीका का स्वतन्त्र वर्णन मिलता है। इससे अम्लीका और वृक्षाम्ल का स्वतन्त्र द्रव्य होना पूर्णतया सिद्ध होता है। किन्तु चरक के टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में ऐसा घपला कर दिया है, कि वास्तविक द्रव्य का ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता। चक्रपाणि—'वृक्षाम्लं महार्द्रकम् अम्लिका तिन्तिड़ी' इस प्रकार लिखते हैं। गंगाधर[२] दो प्रकार का तिन्तिड़ीक

---

१. वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्मणि शस्यते। अम्लिकायाः फलं पक्वं तस्मादल्पतरं गुणैः॥ (च० सू० स्थान २७)

२. वृक्षाम्लमित्यादि। वृक्षाम्लं तिन्तिरीकम्। सुश्रुते च—वातापहं तिन्तिड़ीकमामं पित्त-बलासकृत्। ग्राह्युष्णं दीपनं रुच्यं सम्पक्वं कफवातनुत्। अम्लीकाया इत्यादि। द्विविधं तिन्ति-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बतलाते हैं अर्थात् एक वृक्षाम्ल और दूसरा अम्लीका। आगे उन्होंने लिखा है है कि जिसका वृक्ष भी अम्ल होता है वह वृक्षाम्ल है। जिसका फल होता है वह अम्लीका होती है। उसका पक्वफल गुणों में वृक्षाम्ल से न्यून होता है। यहां यह भी ध्यान रहे कि गङ्गाधर थैकल या 'गार्सीनिया पेडंकुलेटा' को अम्लवेतस कहते हैं।

सुश्रुत[1] ने सूत्रस्थान के ४७ वें अध्याय में फलों का वर्णन करते समय तिन्तिड़ीक और अम्लीका का पृथक् वर्णन किया है। इसी प्रसंग में डल्हणने 'तिन्तिड़ीक वृक्षाम्ल' और 'अम्लीका प्रसिद्धा' यह पर्याय दिए हैं। चिकित्सास्थान के ४२ वें अध्याय में भी २९ वें सूत्र की व्याख्या में डल्हण वृक्षाम्ल को तिन्तिड़ीक ही मानते हैं। सुश्रुतकार के मत से तिन्तिड़ीक और अम्लीका के गुणों में भी अन्तर है। किन्तु टीकाकार डल्हण ने फलाम्ल को वृक्षाम्ल नहीं माना है। अपितु उसे 'दाड़िमबीजपूरकादिभिरम्लीकृतं मद्यं' (सुश्रुतटीका उ० तं० अ० ४७-३८) में मद्य-स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में फलाम्ल के मद्य होने और तिन्तिड़ीक और वृक्षाम्ल के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ मतभेद सम्भव हो सकता है। किन्तु सुश्रुत के तथा टीकाकार डल्हण के मत से वृक्षाम्ल-तिन्तिड़ीक में एकता होते हुए भी अम्लीका से उसका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं है। इतना अवश्य है कि दोनों अम्ल द्रव्य हैं।

अमरकोष[2] में वृक्षाम्ल—चुक्र और तिन्तिड़ीक को पर्याय लिखा गया है। टीकाकार भानुजी दीक्षित ने इसको वृक्ष का अम्ल कहा है और उसको 'अम्ल भेद जो कि चूका नाम से प्रसिद्ध है'। ऐसा निर्देश किया है। अन्य शास्त्रकारों के मत

ड़ीकं वृक्षाम्लमम्लीका च। तत्र यस्य वृक्षोऽप्यम्लः स वृक्षाम्लः, यस्य फलमम्लं साम्लीका। तस्याः पक्वं फलं तस्मात् किञ्चिद्गुणैरन्तरं भिन्नम्। तस्या आमफलमपि तिन्तिड़ीकामफलवत्। तदुक्तं सुश्रुते-अम्लीकायाः फलं पक्वं तद्वद् भेदि तु केवलम्। तस्मादल्पान्तरगुणंकोशाम्रफलमुच्यते। इति। गुणैरित्यादि। वृक्षाम्लस्य गुणैरूक्षोष्णवातश्लेष्महरत्वैः संयुक्तं ग्राहित्ववर्ज्जं भेदनञ्चाम्लवेतसं 'थैकल' इति ख्यातम्॥ इति गंगाधरः॥ (च० सू० २७)

१. अत ऊर्ध्वं फलान्युपदेक्ष्यामः। तद्यथा—दाड़िम···तिन्तिड़ीकनीपकोशाम्राम्लीकाप्रभृतीनि। सु० सू० अ० ४६॥ १३९॥

२. 'तिन्तिड़ीकं च चुक्रञ्च वृक्षाम्लम्।' (अमरकोष द्वि० काण्ड श्लोक ३५)। तत्रैव टीकायाम्—'वृक्षस्याम्लम्॥ ३॥ त्रीणि तिन्तिड़ीकस्याम्लभेदस्य 'चूका' इति ख्यातस्य। वल्ली विशेष इत्यन्ये॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से इसे 'वल्ली विशेष' कहा जाता है, यह उल्लेख किया है। मेदिनी[१] कोषकार वृक्षाम्ल, चुक्र और चाङ्गेरी को साथ-साथ कहते हैं।

इस प्रकार वृक्षाम्ल के सम्बन्ध में वहुत ही घपला प्रतीत होता है। किन्तु प्रत्यक्ष गुणों पर विशेष ध्यान देने से वृक्षाम्ल को कोकम मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

कैयदेवकार ने अम्लिका[२] को तिन्तड़ी लिखा है और उसके पुष्पों फलों आदि के गुणों का सविस्तार वर्णन कर के वृक्षाम्ल का वर्णन किया है। और इसके अनन्तर पुनः एक अन्य वृक्षाम्ल-तिन्तिड़ीक का वर्णन किया है। अर्थात् यदि उनके मत को सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि वह वृक्षाम्ल और तिन्तिड़ीक को पृथक्-पृथक् द्रव्य मानते हैं। दोनों में समानता हो सकती है। यह भी हो सकता है कि दोनों द्रव्यों का एक दूसरे से स्थान पर व्यवहार किया जाय। किन्तु ये पृथक्-पृथक् २ स्वतन्त्र द्रव्य ही हो सकते हैं। यदि यह स्थिति स्वीकार्य हो तो फिर इस सम्बन्ध में जो वाद-विवाद प्रचलित है—वह कम हो सकता है।

जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत हो गया होगा, थैकल को बङ्गाल में अम्लवेतस माना जाता है। किन्तु आधुनिक विद्वानों ने अम्लवेतस को निम्बु

---

१. 'चुक्रं वृक्षाम्ले चाङ्गेर्यो स्त्री पुंस्यम्लेऽम्लवेतसे' इति मेदिनी।

२. चिञ्चाम्लिकाम्लिकी वीरुः शुक्ता चण्डा च चुक्रिका।
अम्ला स्तम्भनिका चुक्रा तिन्तिड़ी तिन्तिणी तथा।
चिञ्चाम्लोष्णा गुरुर्वातहरी पित्तकफप्रदा।
तिन्तिड़ी कुसुमं स्वादु कषायाम्लं रुचिप्रदम्।
कफमारुतमेहघ्नं विशदं दीपनं लघु।
चिञ्चिणीका फलं वालमस्टक् पित्तकफास्रकृत्॥
सम्वत्सरं स्थितं तत्तु पित्तघ्नमनिलापहम्।
मतं वृक्षाम्लमम्लोष्णं वातघ्नं कफपित्तलम्।
गुरु पक्वं च संग्राहि कटुकं तुवरं लघु
वृक्षाम्लं तिन्तिणीकं तु साम्लीकं रक्तपूरकम्
अम्लवृक्षोऽम्लशाकं स्यादम्लपूरो महीरुहा
अम्लोष्णं रोचनं रूक्षं दीपनं कफवातकृत्।
तृषार्शो ग्रहणीगुल्म शूलहृद्रोगजन्तुजित्॥ (कै. नि.)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

की एक जाति स्वीकार किया है। बाजार में अम्लवेतस के स्थान पर एक अन्य द्रव्य रेवन्दचीनी की शाखायें-भी मिलती हैं। इस सम्बन्ध के यथाप्रसङ्ग विचार किया जायगा। यहाँ पर हमें वृक्षाम्ल से कोकम का वर्णन अभीष्ट है। किन्तु हम निश्चित इस मत के नहीं है कि वृक्षाम्ल कोकम ही है। आधुनिक आचार्य यद्यपि कोकम को ही वृक्षाम्ल स्वीकार करते हैं, किन्तु कोकम के गुणधर्मों को वृक्षाम्ल के साथ रखने से कुछ खींचतान भी करनी पड़ती है। इसका निदर्शन इसी द्रव्य के गुणधर्म वर्णन के समय किया जायगा। किन्तु जब तक निश्चय न हो 'कोकम' का व्यवहार जहाँ सम्भव हो वृक्षाम्ल के स्थान पर किया जा सकता है—ऐसा बहुमत लेखक को मान्य है।

उत्पत्तिस्थान—वृक्षाम्ल का वृक्ष कोंकण व मलाबार तथा गोवा आदि प्रदेशों में होता है। थैकल बङ्गाल के पूर्वीय उत्तरी भाग के जङ्गलों में तथा आसाम के सिलहट परगना में होता है। बङ्गाल के गोलपुर और रङ्गपूर के इलाकों में बहुतायत से पाया जाता है। (G. Purpurea) भी उपर्युक्त स्थानों में ही होता है। ओष्ठ या ओट का वृक्ष पूर्वी बङ्गाल, पूर्वीय हिमालय, मद्रास के पर्वतीय प्रदेशों में होता है।

परिचय—वृक्षाम्ल या कोकम का बड़ा सुन्दर वृक्ष होता है। पत्र लम्बगोल एक फुट लम्बे तथा पुष्प श्वेत होते हैं। इसके फल बीज का तेल एवं छाल का व्यवहार ओषधि में करते हैं। फलों का रङ्ग लाल होता है एवंवह मांसल व नारङ्गीवत् होते हैं। इसके फल के बीजों को निकाल कर फल को सुखाया जाता है। इसे ही कोकम के नाम से बाजार में बेचा जाता है। इसे अमचुर की तरह व्यञ्जनों में डालते हैं। बीजों से तैल निकाला जाता है जो घी के सदृश जम जाता है इस जमे तैल को कोकम का घी या तैल कहते हैं।

थैकल का बड़ा वृक्ष होता है। सम्भवतः यह भी वृक्षाम्ल सदृश ही होता है। इसमें पुष्प जनवरी मास से मार्च मास तक आते हैं। जून मास तक सन्तरा के समान फल पक जाते हैं। यह फल खाये जाते हैं। इसके भीतर पर्याप्त अम्लता होती है। इन फलों के टुकड़े काट कर सुखा लेते हैं। और अधिक काल तक खटाई के हेतु इसका व्यवहार करते हैं। बङ्गाल में इसका व्यवहार किया जाता है।

ओंट के पत्र लम्बगोल लगभग फुट भर लम्बे पुष्प श्वेत होते हैं। इसमें भी पीले रङ्ग के पुष्प लगते हैं। इसके भी टुकड़े काटकर सुखा लेते हैं। मराठी में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उन्हें 'ओंटाली सोलें' कहते हैं। इसका प्रयोग भी अम्लता उत्पन्न करने के लिए अमचुर के समान होता है।

सक्रियतत्त्व—गार्सीनिया इण्डिका के स्थिर तैल को कास्टिक सोडा के साथ उबालने से लार्डसोप (Lord soap) प्राप्त होता है। गंधकाम्ल (Sulphuric acid) की क्रिया से यह वियोजित होकर स्टियरिक (Stearic), मिरिस्टिक (Myristic) एवं ओलीक (Oleic) नामक तीन मेदसाम्लों (Fatty acid) में रूपान्तरित हो जाता है। इसके बीजों में ३० प्रतिशत वसा पाई जाती है। फलों में सेल्युलोज (Cellulose), एक सारतत्व (Extractive) तथा अविलेय अवशिष्ट (Insoluble residue) पाया जाता है।

गुणधर्म—चरककार ने हृद्य महाकषायों में वृक्षाम्ल का पाठ किया है तथा इसे ग्राहि[1] रूक्ष-उष्ण एवं वात-श्लेष्मा में विशेषरूपेण हितकारी निर्देश किया है। धन्वन्तरिनिघण्टुकार तिन्तिड़ीक[2] को वातघ्न, ग्राही, उष्ण, रुचिकर और लघु स्वीकार करते हैं। राजनिघण्टुकार[3] वृक्षाम्ल को अम्ल, कटु, कषाय एवं उष्ण तथा कैयदेवकार[4] वृक्षाम्ल को अम्लोष्ण, वातघ्न, कफ-पित्तल, गुरु एवं पक्व को संग्राही, कटु, कषाय एवं लघु कहते हैं। साथ ही वृक्षाम्ल भेद तिन्तिड़ीक को अम्लोष्ण, रोचन, रूक्ष, दीपन तथा कफवातकारक कहते हैं। भावप्रकाशकार[5] ने भी आम वृक्षाम्लफल को अम्लोष्ण, वातघ्न, कफपित्तल तथा पक्व को अम्लोष्ण,

---

१. वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्मणि।शस्यते। (च. सू. अ. २७)

२. तिन्तिड़ीकं च वातघ्नं ग्राह्युष्णं रुचिकृल्लघु। (ध. नि.)

३. वृक्षाम्लमम्लं कटुकं कषायं सोष्णं.........(राजनिघण्टु)

४. (देखो, इसी द्रव्य का विशेष विवरण एवं उसकी पादटिप्पणियाँ)

५. वृक्षाम्लं तिन्तिड़ीकं च चुक्रं स्यादम्लवृक्षकम्। वृक्षाम्लमाममम्लोष्णं वातघ्नं कफपित्तलम्। पक्वन्तु गुरु संग्राहि कटुकं तुवरं लघु। अम्लोष्णं रोचनं रूक्षं दीपनं कफवातकृत्। (अ. पु. फलवर्ग)

भावप्रकाश का आचार्य यादवजी सम्मत पाठ इस प्रकार का है:—

'वृक्षाम्लमाममम्लोष्णं वातघ्नं कफपित्तलम्।
पक्वं तु गुरु संग्राहि मधुराम्लरसं तथा॥
अल्पोष्णं रोचनं रूक्षं दीपनं वातनाशनम्।
तृष्णार्शोग्रहणीगुल्म-शूलहृद्रोगजन्तुजित्॥ (भा. प्र.)
(द्रव्यगुण विज्ञान उत्तरार्ध द्वितीयखण्ड)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुरु, संग्राहि, कटु, कषाय और लघु ही स्वीकार किया है। इसे रोचन, रूक्ष, दीपन और कफवातकारक भी निर्देश किया है।

किन्तु आचार्य यादव जी महाराज ने भावप्रकाश का जो पाठ द्रव्यगुण विज्ञान में उद्धृत किया है, उसके अनुसार वृक्षाम्ल के गुण इस प्रकार हैं, 'कच्चा कोकम अम्ल, उष्णवीर्य और वातघ्न तथा कफ और पित्त को बढ़ाने वाला है। पका हुआ कोकम गुरु, ग्राहि रस में कुछ मधुर और अम्ल, कुछ उष्णवीर्य, रोचन, रूक्ष' दीपन तथा वात, तृष्णा, ग्रहणी, अर्श, गुल्म, हृद्रोग, शूल और कृमि का नाश करने वाला है।' यहाँ यह अवश्य ध्यान देने योग्य है कि कोकम के व्यवहार में पाये जाने वाले गुणों की संगति आचार्यजी द्वारा स्वीकृत भावप्रकाशीय पाठ से अवश्य मिलती है। अर्थात् कोकम में इसी प्रकार के गुण स्पष्ट अनुभव सिद्ध है। किन्तु कई एक संस्करणों के देखने के बाद तथा एकाध स्थानों पर उद्धृत पाठों को भी देखने के बाद इस पाठ को भावप्रकाश में प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सका है। अत एव प्रचलित पाठ के अनुसार वृक्षाम्ल क्या है, यह संदिग्ध रह ही जाता है। यदि पाठ भेद मान लिया जाय तो कोकम को ही वृक्षाम्ल समझना तर्क एवं शास्त्रसम्मत भी हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण को देखने से स्पष्ट है कि पक्व वृक्षाम्ल को यादव सम्मत भावप्रकाश में 'मधुराम्लरस', 'अल्पोष्ण' कहा गया है–इसके विपरीत अन्य पाठानुसार[१] 'कटुकं तुवरं लघु', एवं 'अम्लोष्ण' स्वीकार किया गया है। यहां पर यदि आम वृक्षाम्ल के गुणों के साथ–साथ इस विषय को भी देखा जाय तो यादव सम्मत पाठ को स्वीकार करने में किंचित् शंका होने लगती है। आमवृक्षाम्ल को भी 'अम्लोष्ण' कहा है। और महाराज यादवजी ने स्वीकार भी किया है। किन्तु आगे अम्लोष्ण का अल्पोष्ण स्वीकार किया गया है। यह समझ में नहीं आता। होना तो दोनों स्थानों पर एक समान ही चाहिए। यदि अल्पोष्णत्व स्वीकार्य है तो 'तुवराम्लत्व' से भी 'अल्पोष्णत्व' तर्क सिद्ध हो जाता है। भेद केवल कटुकत्व और मधुरत्व में रह जाता है। किन्तु यदि कोकम को ही वृक्षाम्ल मानना है–तो आचार्य पाद द्वारा स्वीकृत पाठ को जैसा कि ऊपर कहा गया है–

१. पक्वं तु गुरुसंग्राहि–कटुकं तुवरं लघु। अम्लोष्णं रोचनं रूक्षं दीपनं वातनाशनम्। (भावप्रकाश के अन्यत्र के पाठ के अनुसार)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अनुभव सिद्ध होने के कारण मान ही लेना चाहिए। आचार्य जी स्वयं कोकम का सेवन करते है और उन्हें उसके गुण दोषों का ज्ञान अन्य किसी भी व्यक्ति से अधिक है, यह भी स्वतःसिद्ध है। यह सम्भव अवश्य हो सकता है कि वृक्षाम्ल कोकम के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य हो, जिसमें कटु, कषाय एवं अम्लरस हों और उष्णवीर्य हो। उस द्रव्य में स्वभावतः कषाय रस रहने के कारण उष्णता की अल्पता भी स्वतः सिद्ध होगी। अतएव उपर्युक्त विवरण का प्रयोजन वृक्षाम्ल में विचार करने के लिए ही है। प्रकृत द्रव्य के गुण धर्म भावप्रकाश के परिवर्तित पाठ के आधार पर ही स्पष्ट रूप में हमें मान्य हैं। अर्थात् कच्चा कोकम अम्ल उष्णवीर्य, वातघ्न तथा कफ और पित्त को बढ़ाने वाला है। पका हुआ कोकम गुरु, ग्राही, रस में कुछ मधुर और अम्ल; कुछ उष्णवीर्य, रोचन, रूक्ष, दीपन तथा वात एवं ग्रहणी, अर्श, गुल्म हृद्रोग, शूल और कृमि का नाश करने वाला है। चरकोक्त 'वृक्षाम्ल ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्मणि शस्यते' प्रायः कोकम में प्राप्त होते हैं। थैकल (Garcinia pedunculata) के गुण भी इसी प्रकार होते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बंगाल में इसे अम्लवेतस के स्थान में प्रयुक्त करते हैं। (Garcinia xantho chymus) के गुण भी इसी प्रकार हैं।

सांस्थानिक प्रभाव—कोकम का मुख्य प्रभाव पाचक संस्थान पर होता है। इस संस्थान की श्लेष्मकला पर इसका संग्राहक प्रभाव होता है। साथ ही अम्ल होने से पित्तवर्धन का भी कार्य करता है। इसका तैल अन्य स्निग्ध द्रव्यों के समान बाह्यत्वक् पर प्रभावकारी है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि आयुर्वेद में प्रायः सभी अम्ल द्रव्यों को हृद्य कहा गया है। यह हो सकता है कि कोई विशिष्ट अम्ल द्रव्य विशेष रूप से महाधमनी एवं हृदय पर प्रभाव करता हो किन्तु सामान्यतः हृद्य का अर्थ रुचिकर ही समझना चाहिए। रुचिकर द्रव्यों का परम्परया हृद्य प्रभाव आयुर्वेद सम्मत है। इसमें कोई विवाद का स्थान नहीं है।

आमयिक प्रयोग।

रुचिकृन्नूतनं प्रोक्तं वृक्षाम्लस्य फलं शुभम्।
रक्तपित्तहरं ग्राहि हृद्यन्तदनुभूयते ॥
पुराणं रुचिकृद्ग्राहि दीपनं पाचनं स्मृतम्।

नये कोकम के फल रुचिकारक, रक्तपित्तशामक ग्राही एवं परम्परया हृद्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होते है। सुखाये हुए या पुराने होने पर यह रुचिकारक, ग्राही, दीपन-पाचन होता है। इसका प्रयोग ग्रहणी अतिसार एवं रक्तपित्त में किया जाता है।

विशिष्ट प्रयोग—चरककार ने रक्तार्श में इसके फलों का प्रयोग दही के तोड़ के साथ करने का निर्देश किया है। अतिसार या मलक्षय में इसे घृत और तैल में भृष्ट कर प्रयोग किया जाता है। वैद्य मनोरमाकार इसके स्वरस को सैन्धव मिश्रित कर गुल्म में प्रयोग करने का निर्देश करते है। किन्तु यह ध्यान रहे कि उपर्युक्त विशिष्ट प्रयोग शास्त्रकारों ने 'वृक्षाम्ल' के निर्दिष्ट किए हैं।

अतिसार ग्रहणी आदि में कोकम के फाण्ट का व्यवहार किया जाता है। पक्क फलों का पानक पैत्तिक व्याधियों के शान्त्यर्थ लाभकारी है। कोकम के तैल का व्यवहार अनेकानेक व्याधियों में करते हैं। आमातिसार एवं प्रवाहिका (Mucous diarrhoea and dysentery) के लिए कोकम तैल एक विशिष्ट ओषधि है। एतदर्थ एक पाव दूध में १ तोला तैल मिलाकर दिन में ३ बार जब तक कि रोगमुक्ति न हो जाय सेवन करें। फुफ्फुसगत राजयक्ष्मा तथा स्कार्व्युटिक व्याधियों (Scorbutic diseases) में भी इसका व्यवहार किया जाता है। काडलिवर आयल को प्रतिनिधि रूप में भी इस तैल का व्यवहार किया जाता है। गरीब लोग इसको घी के स्थान में व्यवहृत करते हैं।

कोकम तैल के अनेक बाह्य उपयोगी भी होते हैं। इसमें व्रणरोपण का गुण विशेषतया देखा जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें स्नेहन (Demulcent) एवं मार्दवकर (Emmolient) गुण भी पाये जाते हैं। अतएव इसे हाथ, पांव ओष्ठ आदि के विदार में लगाने से लाभ होता है। मलहर एवं गुदवर्ति (Anal suppositories) बनाने के लिए यह एक परमोपयुक्त आधार-द्रव्य (Basis) है। एतदर्थ फार्माकोपिआ में भी इसका उल्लेख है।

इस वर्ग के अन्य द्रव्यों का वर्णन समान गुण कर्म होने के कारण स्वतन्त्र करने की आवश्यकता नहीं है।

मङ्गुस्तीन

नाम—(हिं०, सं०) मङ्गुस्तीन; (बम्बई) मेंगकोप, मेनगट (Mengut) (मलाबार तथा मलाया) मङ्गुष्टा (Mangusta); (बर्मा) मेङ्गकोप (Meng-kop) मेनगट (Mengut); (कोंकण) ताविर (Tavir); (अं०) मेंगोस्टीन (Mengosteen); (ले०) गार्सीनिया मेंगोस्ताना (Garcinia mengstana.)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्पत्तिस्थान—यह वृक्ष सिंगापुर, बर्मा, मलाया आदि स्थानों में पाया जाता है। मद्रास प्रान्त में भी इसके वृक्ष नीलगिरि आदि स्थानों पर बहुतायत से मिलते हैं। विशेषज्ञों का मत है कि इसे भारत के अन्य स्थानों में भी उत्पन्न किया जा सकता है।

परिचय—इसका सदा नील या हरित रहने वाला शंक्वाकार (Conical) २०-३० फुट ऊँचा वृक्ष होता है। अनुकूल भूमि में कहीं-कहीं इसके ६० फुट ऊँचे वृक्ष भी पाये जाते हैं। इसकी छाल शीशम अथवा फालसा के समान कृष्ण-वर्ण की होती है। भीतर की छाल का रङ्ग पीत होता है। इसका सारकाष्ठ ईंट के वर्ण का रक्तवर्ण होता है। पत्र ६-१० इञ्च लम्बे, २॥-४॥ इञ्च चौड़े होते हैं। यह प्रायः कर्कश होते हैं। इनका नाड़ीक्रम समानान्तर होता है। नर एवं नारी पुष्प पृथक्-पृथक् पाये जाते हैं। इनका रङ्ग पीताभ-पाटल (पीलापन लिए गुलाबी) होता है। फल नारङ्गी के समान बड़ा और कृष्णनीलाभ (Dark purple) होता है। रस पीत तथा चिक्कण, बीज श्वेत अथवा गुलाबी रङ्ग के चपटे होते हैं। फल अत्यन्त स्वादिष्ट होता है। पुष्पकाल नवम्बर से फर्वरी तक और फलकाल जून तक होता है। इसके पत्र, छाल, पुष्प एवं फल तथा फल का छिलका (Rind) औषधि में व्यवहृत होते हैं। शुष्क फल बाजार में बिकता है।

रासायनिक सङ्गठन—इसके फल के छिलके में मङ्गोस्टिन (Mangostin) नामक तत्त्व, राल तथा टैनिन होता है। इसके फल के छिलके को जल में उबालने से मङ्गोस्टिन प्राप्त होता है। अल्कोहल् के साथ इसको उबालने तथा उसके अनन्त वाष्पीभवन द्वारा टैनिन पृथक् हो जाता है मङ्गोस्टिन तथा रेजिन अवशिष्ट में रह जाते हैं। इस अवशेष को जल एवं अल्कोहल् में विलीन कर द्रव का वाष्पीभवन करने से रेजिन तलस्थित हो जाता है। यह पीतवर्ण के छोटी-छोटी पपड़ियों (Scales) के रूप में पाया जाता है जो स्वादरहित एवं जल में अविलेय किन्तु अल्कोहल् में सुविलेय होता है।

गुणकर्म—

मङ्गुस्तीनफलं स्वादु दक्षिणे भूरि जायते।
स्तम्भनं मूत्रमार्गीय-वेदनास्थापनञ्च तत् ॥ (स्व०) ॥

मङ्गुस्तीन का सुस्वादु फल दक्षिण देश में प्राप्त होता है। यह ग्राही एवं मूत्र संस्थान—मार्ग की वेदना की निवृत्ति करता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सांस्थानिक प्रभाव—इस द्रव्य का प्रभाव आन्त्र एवं मूत्र मार्ग पर विशेषरूप से लक्षित होता है।

आमयिक प्रयोग

औषध्यर्थ इसके निम्न कल्प व्यवहृत होते हैं:—

फलत्वक् सत्व (Extract)—मात्रा, १॥ से ५ रत्ती

टिंक्चर (१० में १)—मात्रा, ½ से १ ड्राम

सिरप (Syrup)—मात्रा, ½ से १ ड्राम

क्वाथ Decoction (१० में १ भाग)—मात्रा, २ छटांक

चूर्ण—मात्रा, ५ से ३० रत्ती।

इसके अतिरिक्त इसके रस का भी व्यवहार करते हैं।

विशिष्ट प्रयोग—इसके फल का छिलका (Rind) अथवा शुष्क फल या गूदा चिरकालज अतिसार एवं ग्रहणी की परमोपयोगी औषधि है। इसका पानक बनाया जाता है। इसके लिए औषधि का जल में क्वाथ करते हैं। इसको छानकर प्रयोग करने से संशमन तथा स्राव निरोधक प्रभाव होता है। सूजाक में निम्न योग विशेषरूप से शामक प्रभाव करता है।

मंगोस्तीन (Mongostin),	कबाब चीनी (Cubebs)
फिटकरी (Alum),	बबूलकागोंद (Gum-acacia)

प्रत्येक ५-५ रत्ती

मूत्र मार्ग में उत्तरबस्ति के लिए इसके क्वाथ का भी प्रयोग किया जाता है।

इसके स्वरस का स्थानिक प्रयोग गलशुण्डिका शोथ (Tonsillitis) में कुल्ले करने के लिए करते हैं। इसके द्रव (Lotion) का प्रयोग गुद-योनि भ्रंश (Prolapse of the anus & vagina) में करते हैं। वातातिसार में निम्न योग विशेषतः उपयोगी होता है। मंगोस्तीन (फलत्वक्) ५ भाग, पोस्तबीज ५ भाग, शर्करा या मिश्री ६ भाग, दाड़िम फलत्वक् ५ भाग, गुलाब के फूल ४ भाग मिश्रित कर चूर्ण कर लें। मात्रा ५ से १० रत्ती।

ग्रहणी के लिए निम्न योग विशेष उपयोगी है—

मंगोस्तीन	६ भाग।	धान्यकबीज	२ भाग।
बालहरीतकी	,, ,,	शतपुष्पाबीज	,, ,,

एकत्र में मिलाकर चूर्ण करें। मात्रा ५ रत्ती मिश्री से।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उपयुक्त मात्रा तक जल का वाष्पीभवन कर क्वाथ को सान्द्र कर लेते और शर्करा मिलाकर प्रयोग करते हैं।

क्वाथ में जीरक या धान्यक मिलाकर २ छटांक की मात्रा में दिन में २ बार प्रयोग किया जाता है। इसमें अहिफेन का टिंक्चर ५ से १० बूंद की मात्रा में मिलाने से बहुत लाभ होता है। इस क्वाथ को सुस्वादु बनाने के लिए शर्करा या पानक का प्रयोग भी किया जाता है। फलचूर्ण को ५-७ रत्ती की मात्रा में पोर्ट वाइन (Port wine) के साथ देते हैं। इसके साथ किंचित् शर्करा मिलाकर अवलेह भी बना दिया जाता है। चूर्ण और अवलेह के रूप में इसके साथ सुगन्धित द्रव्य इलायची, दालचीनी प्रति मात्रा में ३ से ६ रत्ती मिलाकर देने से अधिक लाभ होता है।

फल का प्रयोग श्वेत प्रदर (Leucorrhoea), सूजाक (Gonorrhoea) तथा चिरकालीन सूजाक (Gleet) में भी किया जाता है। इससे जननेन्द्रियों एवं मूत्रमार्ग का संक्षोभ Irritation तथा स्राव Discharge दोनों दूर होते हैं।

तमाल ?

नाम—(सं०)[1] तमाल, नीलताल, कालस्कन्ध, तमालक, नीलध्वज, तापिच्छ, काकताल, महाबल, अमितद्रुम, लोमस्कन्ध; (हि०, म०, बं०) तमाल; (ता०) मुक्कि (Mukki,) इरेवेल (Irevel); (क०) जॉरिगेहुलि मारा (Gorigehuli mara); (मल०) कुरुकापलि (Keurukapuli), पुनारपुलि Punarpuli, चिगिरिमक्कि; (कों०) वटाँव (Vatamba); (टेल०) रेवलचीनी पाल (Reval chini-apl (Oil); (महा०) रेवाचीनी (Revachini); (फा०) उसारे रेवन्द (Ussareh-i-revanda), गोटागम्बा (Gotagamba);(अं०) मैसूर गम्बोज ट्री (Mysore Gambose tree); (ले०) गार्सीनिया पिक्टोरिया (Garcinia pictoria), गार्सीनिया मोरेल्ला (Garcinia morella)।

विशेष विवरण—तमाल एक संदिग्ध द्रव्य है। निघण्टुओं में तमालपत्र एवं तमाल का पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है। इसमें तमालपत्र स्पष्टतः प्रसिद्ध तेजपात है, जिसका व्यवहार मसाले में किया जाता है। यह दालचीनी (Cin-

---

१. तमालो नीलतालः स्यात्कालस्कन्धस्तमालकः। नीलध्वजश्चतापिच्छः कालतालो महाबलः। (रा० नि०) इसके नाम तमाल के पर्याय के अनुसार अन्य ग्रन्थकारों ने दिए हैं, अतएव लिखे गए हैं। वास्तव में यह संस्कृत के प्राचीन निघण्टुओं का तमाल नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

namomum tamal) के पत्र होते हैं। यह वृक्ष कर्पूरवर्ग (N.O. Laurineae) का है। अन्य सुगन्धित द्रव्यों के साथ ही इसका वर्णन शास्त्रों में मिलता है। निघण्टुओं का द्वितीय तमाल प्रस्तुत वर्णन से सम्बन्ध रखता है। इस तमाल का वर्णन प्रायः वन्य वृक्षों के साथ किया गया है। इसके गुणों के सम्बन्ध में भावप्रकाश ने[1] इसे शालवत् गुणवान् बतलाया है। कैयदेवकार ने भी शाक (सागवान) शाल आदि के बाद ही वर्णन कर इसे[2] शाल सदृश ही गुणवान माना है। धन्वन्तरि एवं राजनिघण्टु के संस्करण में यह बड़े वृक्षों के मध्य में सन्निहित किया गया है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत तमाल एक बड़ा वृक्ष है। इसके गुणकर्म शालादि वन्य वृक्षों से मिलते हैं—तमाल अथवा दालचीनी से नहीं। साधारण लोग तमाल को तमाखू (Tobacco) भी कह दिया करते हैं। किन्तु तमाल वृक्षवर्ग में होने से वृक्ष ही हो सकता है और तमाखू के शाकीय क्षुप होते हैं। दूसरे तमाखू एक विदेशी द्रव्य है और तमाल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

शालिग्राम निघण्टुकार ने तमाल के सम्बन्ध में लिखा है, 'तमाल के वृक्ष प्रायः यमुना एवं ताप्ती नदी के निकट बहुतायत से होते हैं। वृक्ष की मूल और शाखा श्याम वर्ण की होती है। पत्ते गोल और शीशम के सदृश और फूल लाल लाल फल छोटे करौंदे के समान होते हैं।' (शालिग्राम निघण्टु)

यह मत अनेक विद्वानों को मान्य है। अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख भी किया गया है। किन्तु यमुना और ताप्ती नदियों के किनारे श्यामवर्ण की त्वचा वाले इस वृक्ष का सम्बन्ध कुछ समझ में नहीं आता। दक्षिण में यह वृक्ष प्राप्त होता है। यमुना से इसका सम्बन्ध स्थापित करने में कुछ विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है[3]।

---

१. तमालः शालवद्वेद्यो दाहविस्फोट हृत्पुनः। (भा० प्र० वटादि वर्ग)

२. तमालस्तद्गुणैस्तुल्यो नाह विस्फोटशोफजित्। (कै० दे० ओषधिवर्ग)

३. भावप्रकाश एवं कैयदेव के वृक्ष तमाल के गुणों की दृष्टि से प्रस्तुत तमाल शालवत् तमाल नहीं प्रतीत होता कारण, शाल सदृश गुण इनमें नहीं पाये जाते। शालनिर्यासि राल के स्तम्भक गुण से सभी परिचित हैं। इसके विपरीत प्रस्तुत तमाल निर्यास का विरेचक गुण परम प्रसिद्ध है। इसीलिए ओषधि संग्रहकार वामनगणेश देसाई ने अपने मराठी ग्रन्थ में लिखा है। 'ह्याला तामिलदेशान्त तमालम्हणतात। संस्कृत भाषेतला खरा तमाल हा नव्हे।' वास्तव में यही सिद्धान्त ठीक भी ज्ञात होता है कि यह तमाल तामिल भाषा एवं तामिल प्रदेश में प्रसिद्ध तमाल है अपि तु संस्कृत निघुण्टुओं में वर्णित दोनों तमालों में से कोई भी नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्पत्तिस्थान—प्रस्तुत तमाल का वृक्ष पूर्व बंगाल, दक्षिण समुद्र के दोनों किनारों और लंका एवं ब्रह्मदेश में पाया जाता है। मलावार, आसाम और कर्नाटक में भी तमाल के वृक्ष काफी पाये जाते हैं।

परिचय—तमाल का बड़ा वृक्ष होता है, जिसमें चीरा देने से एक पीतवर्ण का गोंद या राल निकलता है। इसी को उशारेरेवन्द या गम्बोज (Gambose) कहते हैं। इसके पीले टुकड़े बाजार में बिकते हैं। बंगाल, कर्नाटक आदि में इसे भी तमाल कहा जाता है। इसी को रेवन्द चीनी का शिरो भी कहते हैं। इसके टुकड़े गोल, लम्बे, ठोस या खोखले और भंगुर होते हैं। इनका बाह्य भाग स्वच्छ किंचित् रक्ताभ चमकीला एवं पीला होता है। चूर्ण हरिद्रावत्, गन्धरहित तथा किंचित् चरपरे स्वाद वाला होता है। (रंग के लिए भी इसका व्यवहार करते हैं) यूनानी चिकित्सकों के मत से इसमें १० वर्ष तक वीर्य रहता है। अनेक आयुर्वेदज्ञों के मत से इसे ही कंकुष्ठ और इस वृक्ष को स्वर्णक्षीरी कहते हैं। (इसका विशेष विवरण नीचे टिप्पणी में देखें[१])।

---

१. उसारे रेवन्द के सम्बन्ध **श्री दलजीत सिंहजी** लिखते हैं—'यह द्रव्य यद्यपि उसारे रेवन्द के नाम से प्रसिद्ध है, तथापि रेवन्द का उसारा—रेवन्द चीनी का सत नहीं है, जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है। प्रत्युत फकीरान वृक्ष विलायती तमाल या स्वर्णक्षीरी (Garcinia lanburii, Hook.) का रालयुक्त गोंद है जो उस वृक्ष के काण्ड में चीरा देने से प्राप्त होता है। यह वृक्ष स्याम देश में उत्पन्न होते हैं। इसका रङ्ग और गुणकर्म रेवतचीनी के सत के समान होता है। इसलिए यह उसारे रेवन्द के नाम से प्रसिद्ध हो गया। अन्य जाति का एक वृक्ष भारतवर्ष के अनेक (प्रदेशों में होता है। जिसे संस्कृत में स्वर्णक्षीरी (तामिज या तापिच्छ) तथा लैटिन में (Garcinia morella, Derrouss) और अंग्रेजी में इण्डियन गम्बोज (Indian gambose) कहते हैं। इसके वृक्ष से भी उसारे रेवन्द की तरह का रालयुक्तनिर्यास प्राप्त होता है। यह भी स्वरूप एवं गुणकर्म में सर्वथा इसके समान होता है। इसको कोई आयुर्वेदीय कंकुष्ठ मानते हैं।'

(यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान)

वास्तव में 'उसारे रेवन्द' का आयात बाहर से होता है। किन्तु अब भारत के (garcinia morella) नामक वृक्ष से भी प्राप्त होता है। प्रकृत वर्णन इसी भारतीय वृक्ष का है।

इस वृक्ष को स्वर्णक्षीरी मानने के सम्बन्ध में पृष्ठ १०२ में भड़भाड़ (स्वर्णक्षीरी) के वर्णन के समय संकेत किया जा चुका है। धन्वन्तरि निघण्टुकार ने २ प्रकार की क्षीरिणी का वर्णन किया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रथम प्रकार की क्षीरिणी के नाम :—

'क्षीरिणी काञ्चनक्षीरी कटुपर्णी च कर्षणी। तिक्तदुग्धा हैमवती। हेमदुग्धा हिमावती। हिमाद्रिजा पीतदुग्धा यवचित्रा हिमोद्भवा। हैमी च हिमजायेति चतुरेकगुणाह्वया।' (रा. नि.)

दूसरे प्रकार की क्षीरिणी के नाम :—

'स्वर्णक्षीरी स्वर्णदुग्धा सुवर्णक्षीरिकाऽपि च। हेमाह्वाकनकक्षीरी हेमक्षीरी च काञ्चनी॥' (ध. नि.)॥

स्वर्णक्षीरी स्वर्णदुग्धा स्वर्णाह्वा-रुक्मिणी तथा। सुवर्णा हेमदुग्धा च हेमक्षीरी च काञ्चनी।

प्रथम प्रकार की स्वर्णक्षीरी के गुण—

तिक्ता काञ्चनक्षीरी पित्तभूमिविषापहा। शोधिनी दोषसंघातशमनी रक्तपित्तजित्॥ (ध० नि०)
क्षीरिणी कटुतिक्ता च रेचनी शोफतापनुत्। कृमिदोषकफघ्नी च पित्तज्वरहरा च सा॥ (रा० नि)

द्वितीय स्वर्णक्षीरी के गुण—

क्षीरिणी युगलं तिक्तं कृमिपित्तविषापहम्। (ध० नि०)

स्वर्णक्षीरी हिमा तिक्ता कृमिपित्तकफापहा। मूत्रकृच्छ्राश्मरी शोफदाहज्वरहरा परा॥ (रा० नि०)

रेचक गुण होने तथा पीत दुग्ध होने के कारण स्वर्णक्षीरी को (Garcinia morella) माना जाता है। इसके सत्व को कंकुष्ठ कहते हैं। इस सम्बन्ध में भी बड़ा मतभेद है। शास्त्रकारों ने कंकुष्ठ तथा स्वर्णक्षीरीद्वय का पृथक् वर्णन भी किया है। किन्तु कैयदेव निघण्टुकार स्वर्णक्षीरी के बाद ही कंकुष्ठ का वर्णन करते हैं।

धन्वन्तरि निघण्टु में ककुष्ठ का वर्णन निम्न प्रकार है—

कंकुष्ठं कालकुष्ठं च विरङ्गं रङ्गनामकम्। रेचकं प्रलकं हासं शोधनं कालपालकम्॥ (ध० नि०)
कङ्कुष्ठं कालकुष्ठं च विरङ्गं रङ्गदायकम्। रेचकं प्रलकञ्चैव शोधकं कालपालकम्।
कुकुष्ठं च द्विधा प्रोक्तं तारहेमाभ्रकं तथा॥ (रा० नि०)

गुण—कङ्कुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्ये चोष्णं प्रकीर्तितम्।
गुल्मोदावर्तशूलघ्नं रसरञ्जं व्रणापहम्॥ (ध० नि०)
कटुकं कफवातघ्नं रेचकं व्रणशूलहृत्॥ (रा० नि०)

वास्तव में कंकुष्ठ में बहुत मतभेद प्राचीन काल से चला आता है। धन्वन्तरि एवं राजनिघण्टु के वर्णन के अनुसार रेचक, रञ्जन गुण आदि के कारण इसे उसारे रेवन्द कहा जा सकता है। किन्तु इसको स्वर्णक्षीरी सत्व धन्वन्तरि निघण्टु में लिखा नहीं है। अत एव भ्रम होता है। यहां पर 'रसरत्नसमुच्चय' के अनुसार कंकुष्ठ के वर्णन का उद्धरण कर उसके टीकाकार प्रो० श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी ने कंकुष्ठ के विषय में जो प्रकाश डाला है वह भी पाठकों के लाभार्थ एवं विचारार्थ दे दिया जाता है—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कंकुष्ठम्

हिमवत् पादशिखरे कंकुष्ठ उपजायते। तत्रैकं नालिकाख्यं हि तदन्यद्रेणुकं मतम्।
पीतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कंकुष्ठमादिमम्। श्यामपीतं लघुत्यक्त सत्वं नेष्टं हि रेणुकम्॥

हिमालय पहाड़ के समीप वाले छोटे पर्वतों के शिखरों पर कंकुष्ठ उत्पन्न होता है। नालिका कंकुष्ठ करके एक और रेणुका कंकुष्ठ करके दूसरा, इस प्रकार कंकुष्ठ के २ भेद होते हैं। नालिका कंकुष्ठ पीले वर्ण का, चमकदार, भारी, स्निग्ध तथा श्रेष्ठ होता है। रेणुका कंकुष्ठ कुछ कालाभ पीला, वजन में हल्का निस्सत्व तथा निरुपयोगी होता है।

वक्तव्य—कंकुष्ठ के विषय में भी बहुत मतभेद है। इसके सम्बन्ध में कंकुष्ठ वर्णन के अन्त में मैं अपना मत लिखूंगा। नीचे इसी ग्रन्थ (रसरत्नसमुच्चय) के अनुसार कुछ अन्य लोगों के मतों का उल्लेख किया जाता है।

केचिद्वदन्ति कङ्कुष्ठं सद्योजातस्य दन्तिनः। वर्चश्च श्यामपीताभं रेचनं परिकथ्यते।
कतिचित्तेजिवाहानां नालं कंकुष्ठसंज्ञकम्। वदन्ति श्वेतपीताभं तदतीव विरेचनम्।
रसे रसायने श्रेष्ठं निःसत्वं बहु वैकृतम्॥ (र० र० समुच्चय ११२)

कुछ लोगों का मत है, कि कंकुष्ठ नये पैदा हुए हाथी के बच्चे का पाखाना होता है, वह काला-सा पीला होता है और बड़ा विरेचक होता है। कुछ दूसरे लोगों का मत है कि कंकुष्ठ घोड़े के बच्चे की नाल (उल्वनाल, जो रस्सी के आकार की होती है और गर्भस्थ बच्चे की नाभि से गर्भाशय की दीवार तक लगी रहती है) होती है। वह सफेद-सी पीली होती है। और अत्यन्त तीव्रता से विरेचन कराती है तथा रसकर्म और रसायन कर्म दोनों ही के लिए श्रेष्ठ होती है। निःसत्व कंकुष्ठ अनेक विकारों को पैदा करता है।

कंकुष्ठ के गुण

कङ्कुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्योष्णं चातिरेचनम्। व्रणोदावर्त शूलार्ति गुल्मप्लीहगुदार्तिनुत्॥ ११३॥

कंकुष्ठ स्वाद में कड़वा और चरपरा, वीर्य में उष्ण और बड़ा ही विरेचक पदार्थ है। व्रण, उदावर्त, शूल, प्लीहा और अर्श इन सब रोगों को दूर करता है।

वक्तव्य—कंकुष्ठ के गुणों के विषय में एक और श्लोक प्रसिद्ध है—नाशयेदामवातं च रेचयेत् क्षणमात्रतः। कंकुष्ठं नाशयेत् शीघ्रं कठोदरजलोदरम्। (रा० नि०)

कङ्कुष्ठशोधनम्

कंकुष्ठं शुद्धिमायाति त्रिधा शुण्ठ्यम्बुभावितम्।
सत्वाकर्षोऽस्य न प्रोक्तो यस्मात्सत्वमयं हि तत्॥ ११४॥

सोंठ के क्वाथ की ३ भावनायें देने से कंकुष्ठ शुद्ध हो जाता है। कंकुष्ठ के स्वयं सत्व होने के कारण उसका सत्वपातन नहीं बतलाया गया है।

000059
Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

All India Ayurvedic Congress,
"Dhanwantari Bhavan,"
Road 66, Punjabi Bagh, New Delhi-110026

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection